भगवान महावीर का २५६६वाँ
जयन्ती समारोह

महावीर जयन्ती

स्मारिका

१६७१

प्रधान सम्पादक
भँवरलाल पोल्याका
जैनदर्शनाचार्य, साहित्यशास्त्री

मुद्रक
अजन्ता प्रिण्टर्स
घी वालों का रास्ता,
जौहरी बाजार जयपुर

मूल्य २)

प्रकाशक
ताराचन्द साह
मन्त्री
राजस्थान जैन सभा, जयपुर

राजस्थान जैन सभा, जयपुर

कार्यकारिणी के पदाधिकारी एवं सदस्य

महावीर जयन्ती स्मारिका १९७०

पर

लोकमत

१ डा० ए० एन० उपाध्ये, एम.ए , डि-लिट्, कोल्हापुर विश्व विद्यालय अपने पत्र दिनाक ३१-५-७० मे लिखते है—

" . It (Smarika) has come out very well. It contains some valuable articles which deserve to be carefully studied and even referred to now and then"

२ डा० सुधीर कुमार गुप्त, एम ए. पीएच डी, शास्त्री, प्रभाकर, स्वर्णपदकी प्रवाचक सस्कृत विभाग राज० विश्व विद्यालय आदरी निदेशक भारती मदिर अनुसधान शाला, जयपुर ने दि० २७-७-७० के पत्र मे लिखा है—

"म० ज० स्मा० का ७वा अक आद्योपान्त देखा। इसके अन्त· और बाह्य—दोनों ही पक्ष प्रशसनीय बन पडे है। सुन्दर चित्रयुक्त आवरण आकर्षक छपाई और उत्तम कागज तो मनोहर है ही लेख भी लगभग सब ही उच्चकोटि के है। साम्प्रदायिक आग्रह पर सयम और नियन्त्रण स्तुत्य है। जैन और जैनेतर लेखको ने अपने विचार युक्ति और तथ्यो के आधार पर प्रस्तुत किये है। इसके अनेको लेखक जैन शास्त्र और भारती विद्या के पारगत विश्रुत विद्वान् है। यह ग्रंथ जैनमत के सबध मे अधिकृत सामग्री प्रस्तुत करता है तथा दूसरे धर्मावलम्बियो के लिये आदर्श प्रस्तुत करता है। गम्भीर साहित्य का महत्वपूर्ण यह ग्र थ जिज्ञासुओ के लिये सग्रहणीय और पठनीय है। सपादक और प्रकाशक का परिश्रम सफल हुवा है इसकेलिए उन्हे बधाई है।"

३. पं० वासुदेव जी शास्त्री, सा० आचार्य (राज० व दरभगा) सा० रत्न, अनुसधान कर्ता विधावारिधि वाराणसेय सस्कृत विश्व विद्यालय—प्राध्यापक राज० सस्कृत कालेज महापुरा—

"प्रकाशन अत्यन्त सुन्दर है। अब तक प्रकाशित स्मारिकाओ में यह श्रेष्ठतम है। स्मारिका का सम्पादन बडे परिश्रम से किया गया है जो आपकी एतद्विषयक योग्यता को प्रकट करता है। स्मारिका मे प्रकाशित बहुत सी रचनाए तो अनुसधित्सु विद्वानो के लिये भी अत्यन्त उपयोगी हैं। आशा है राज० जैन सभा इस परमोपयोगी परम्परा को इसी प्रकार चालू रखेगी और आपके सम्पादन मे अधिकाधिक सुन्दर और श्रेष्ठ सम्पादित सामग्री पाठकों को प्राप्त होती रहेगी।"

४. **प्रो० उदयचन्द जैन** प्राध्यापक हिन्दू विश्वविद्यालय, भा० दि० जैन परिषद् कार्यालय वाराणसी अपने पत्र दि० १-६-७० मे—

"स्मारिका में महत्वपूर्ण सामग्री सकलित की गई है। इसमे सन्देह नही है कि आपके प्रधान सपादकत्व मे स्मारिका उत्तरोत्तर प्रगति कर रही है और स्मरणीय होती जा रही है। म० ज० के समय ऐसा प्रकाशन अत्यन्त उपयोगी एव लाभप्रद है। ... .स्मा० के सुन्दर सम्पादन तथा प्रकाशन के लिये आप हार्दिक बधाई के पात्र हैं।"

५ **श्री खुशालचन्द गोरावाला** स्वाध्याय स्थविर—प्राध्यापक काशी विद्यापीठ-वाराणसी अपने पत्र दि० ५-५-७० मे—

'आपकी इस कृति मे और राज० जैन सभा मे मा० स्व० प० चैनसुखदासजी रूपी वटबीज से प्रसूत महारूप और शीतल छाया को देखकर प्रमुदित और आश्वस्त हुवा। स्मारिका का सयोजन, सम्पादन, मुद्रण वा परिकर सभी उत्तम है। विषय निरूपण मे गागर में सागर होने से सहज ही पढा और समझा जा सकता है। इस सफल प्रयास के लिये स० म०, लेखक प्रकाशक, मुद्रक और सविशेष प्रधान स० बधाई के पात्र है। कृपया इन्हे मेरे हार्दिक साधुवाद देवे।"

६ **पं० सत्यंधर कुमार जी सेठी** उज्जैन के पत्र २३-५-७० मे लिखा है—

"आप द्वारा सम्पादित स्मारिका का विशेषाक मुझे मिला, देखकर बेहद खुशी हुई। श्रद्धेय प० चैनसुखदास जी सा० न्यायतीर्थ के स्वर्गवास के बाद आपने अपना उत्तरदायित्व सभाल कर उनकी प्रेरणा को जीवित रखा इसके लिये आपको किन शब्दो मे धन्यवाद दूँ। वास्तव मे आप अभिनदनीय है। स्मारिका को मै नित्य पढ रहा हूँ। कई लेख उपयोगी है जो सग्रहणीय हैं... ....।"

७. **पं० बंशीधर जी शास्त्री** बजबज—

"... ....इसमे कई उपयोगी एव सग्रहणीय लेखो का प्रकाशन किया गया है। मै समझता हू महावीर जयन्ती पर प्रकाशित होने वाले विशेष अको एव स्मारिकाओ मे आपकी स्मारिका का महत्वपूर्ण स्थान है।...... ...... इस सुन्दर एव श्रेष्ठ प्रकाशन के लिये आपको एव राजस्थान जैन सभा को बधाई।"

८ **डा० दरबारीलाल कोठिया** एम ए, पी एच डी, न्यायाचार्य, शास्त्राचार्य वाराणसी अपने पत्र १९-५-७० मे लिखते है—

"स्मारिका इतनी सुन्दर और विपुल सामग्री से युक्त है कि अब तक की स्मारिकाओ मे वह सर्व श्रेष्ठ स्मारिका है। लेखो का चयन, प्रकाशन और मुद्रण सभी सराहनीय है। इस स्मारिका को देखकर लगा कि स्व० प० चैनसुखदासजी आप सबको 'पुत्रादपि पराजयमिच्छेत्' का परोक्ष आशीर्वाद दे गए हैं और उसी आशीर्वाद का फल यह स्मारिका है। नि सन्देह इस स्मारिका से जैनेतर जिज्ञासु एव विद्वान् अधिक

लाभान्वित होगे। हम आपके इस सुन्दर प्रयास के लिए बधाई देते हैं एवं भव्य प्रकाशन की सराहना करते है।"

९. **विद्या भूषण पं० मिलापचंद जी कटारिया** केकडी ने ३-६-७० के पत्र मे लिखा है—

"..... आपने स्मारिका ७० मे निस्सदेह अनेक प्रकार का सुदीर्घ कठोर परिश्रम किया है उसी का परिणाम है कि यह सर्वांग सुन्दर निकली है। प्रूफ शोधन मे भी पर्याप्त सावधानी बरती गई है ? जिससे अब के स्मारिका प्राय शुद्ध प्रकट हुई है। इतना परिश्रम विरले ही सम्पादक करते है। लेखो का चयन भी अच्छा किया गया है। आपकी यह निस्वार्थ साहित्य सेवा वस्तुत अभिनन्दनीय है। करीब २५० पृष्ठो की सचित्र विशाल सामग्री से सम्पन्न होते हुए भी मूल्य अत्यन्त अल्प सिर्फ २) रखा गया है जो वास्तव में प्रशंसनीय है ऐसी ही उदात्त भावना से जैन सस्कृति का व्यापक प्रचार होता है।"

१० **सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचद जी शास्त्री**, प्रिन्सिपल स्याद्वाद महाविद्यालय एव स० जैन सन्देश अपने पत्र १२-५-७० में लिखते है—

"लेखन का चयन सुन्दर है। पाठ्य सामग्री यथेष्ठ है।"

११ **प्रो० रमेशचंद्र जैन** प्राध्यापक वर्धमान कालेज, बिजनौर अपने २०-५-७० के पत्र मे लिखते है—

"... इस वर्ष का अक भी बहुत सुन्दर शोधपूर्ण और आकर्षक लगा। श्री रि० दा० राका का लेख हमे योग के विषय मे नए ढग से सोचने के लिये प्रेरित करता है। इसी प्रकार पीठिकादि मत्र और शासनदेव के लेखक वि० भू० प० मिलापचन्द कटारिया का लेख कुछ नए मन्तव्यो पर प्रकाश डालता है। अन्य लेख भी यथा सभव अपने प्रतिपाद्य पर अच्छा प्रकाश डालते है। ...."

१२. **श्री रिषभदास जी रांका**, उपाध्यक्ष अ० भा० अणुव्रत समिति व सपादक 'अणुव्रत' तथा 'जैन जगत्' ने अपने ७ मई ७० के पत्र मे लिखा है—

"स्मारिका मैंने देखी। आपने स्व० प० चैनसुखदास जी ने जो परम्परा निर्माण की थी उसे बहुत अच्छी तरह से निबाही। लेखो का चयन बहुत अच्छा रहा और साज सज्जा भी अच्छी है। मैं आपका, आपके सम्पादक मण्डल व राज० जैन सभा के कार्यकर्ताओ का इस उत्तम कार्य के लिये अभिनन्दन करता हूँ।"

१३. **पं० पन्नालाल जी** सा० आचार्य मत्री भा० दि० जैन विद्वत्परिषद्—सागर अपने पत्र १३-५-७० में लिखते हैं—

"स्मारिका प्रकाशन मे आपका उपक्रम प्रशसनीय है। उत्तम सामग्री का चयन है।"

१४. **डा० भागचन्द्र जैन** एम ए आचार्य, पी.एच.डी (सीलोन) अध्यक्ष पाली प्राकृत विभाग, नागपुर विश्व विद्यालय ने ३१-५-७० के पत्र मे लिखा है –

"· ··· स्मारिका देखकर अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव हुवा। निबधो के इस सुन्दर चयन के लिये आपको अनेक धन्यवाद । अब तो गुण और प्रकार की दृष्टि से स्मारिका एक आदर्श के रूप मे लेखको व प्रकाशको के समक्ष मान्य है।"

१५ **डा० पवन कुमार** एम०ए०पी०एच०डी० रुडकी विश्व विद्यालय ५-५-७० के पत्र मे लिखते है—

"स्मारिका बहुत सुन्दर तथा महत्वपूर्ण है। सभी लेख उच्चकोटि के है। आपकी सम्पादन कला ने इसमे एक अनोखा निखार उत्पन्न कर दिया है। ऐसी सुन्दर स्मारिका के सम्पादन के लिये बधाई।"

१६. **डा० ज्योति प्रसाद जैन** एम०ए०,एल०एल०बी०,पी०एच०डी० लखनऊ का ६-५-७० का पत्र—

"इस वर्ष की नयनाभिराम म० ज० स्मा० अपनी प्रचुर पठनीय सामग्री, सपादन, मुद्रण, साज सज्जा, आकार प्रकार सभी दृष्टियो से अत्युत्तम है। मेरी हार्दिक बधाई।"

१७, **डा गंगाराम गर्ग** एम०ए०, पी०एचडी०, अध्यक्ष हिन्दी विभाग राज० म० वि० टोंक का १२-५-७० का पत्र—

"म० ज० स्मा० दर्शन, इतिहास, साहित्य एव पुरातत्व सबधी शोध लेखो के सकलन के कारण बहुमूल्य एव सग्रहणीय ग्र थ है।"

१८. **पं० अमृतलाल जी शास्त्री**, जैन दर्शन, सा० आचार्य प्राध्यापक सस्कृत वि० वि० वाराणसी अपने ५-५-७० के पत्र मे –

" · ··· सभी लेख पठनीय सामग्री से ओतप्रोत है। प्रस्तुत स्मा० के वैदुष्यपूर्ण लेखो का सकलन, सम्पादन, प्रूफ सशोधन, कागज, छपाई, सफाई साज सज्जा सभी नयनाभिराम है। कतिपय विशेषताओ के कारण प्रस्तुत स्मा० पिछली ६ स्मा० से काफी आगे है। प० चैनसुखदास जी जीवित रहते तो, वे अपने इस शुभारम्भ को इस रूप आगे बढते देखकर अवश्य ही प्रसन्न होते।"

१९ **कविरत्न आशुकवि नेमीचंद जी** गोद वाले सिवपुरी ने अपने २५-५-७० के पत्र मे लिखा है—

"स्मारिका प्रकाशन मे आपका योग प्रशसनीय है। आपने बडी लगन से लेखक, विद्वानो एव कवियो से सम्पर्क साधकर प्रेरणापूर्वक सामग्री प्राप्त की है। अक मे प्रस्तुत सामग्री भगवान महावीर के सिद्धान्तो के अनुरूप और उचित ढग से प्रकाशित की गई है।··········· ···भविष्य मे भी आप इसी उत्साह से समाज सेवा करते रहेगे।"

२०. **कविरत्न घासीराम जी जैन** शिवपुरी—पत्र ५-५-७०

"महावीर जयन्ती स्मारिका बहुत सुन्दर छपी है। लेख एव कविताओं का चयन अति सुन्दर ढग से किया गया है। सारगर्भित लेखो का विभागीयकरण करके अति उत्तम परम्परा डाली है।....... ....स्मारिका मे प्रकाशित प्रत्येक लेख पठनीय व मननीय है............।"

२१. **प्रो० सत्यव्रत** एम०ए० शोधार्थी, अध्यक्ष सस्कृत विभाग राजकीय डिग्री कालेज श्री गगानगर ७-५-७० के पत्र मे—

"इस धार्मिक पत्रिका में भी आपने जो उपयोगी शोध सामग्री प्रस्तुत की है उसके लिये आप बधाई के पात्र है। ....."

२२. **श्री गोपीलाल** अमर रिसर्च स्कालर सागर का पत्र दि० १५-५-७०

"स्मारिका सर्वांग सुन्दर बन पडी है। आपके सतत प्रयत्न की छाप उस पर खूब उभरी है। जैन वाङ्‌मय की श्री वृद्धि मे यह स्मारिका भी महत्व अर्जित करेगी—बधाइया।"

२३ **श्री नानालाल के० मेहता** एडवोकेट रतलाम का पत्र दि० १-७-७०

"महावीर जयन्ती स्मारिका बहुत ही उच्चकोटि के विद्वानो के लेखो तथा गहरे परिश्रम द्वारा सजधज के साथ प्रकाशित होती है। इसका विद्वान् संपादन मण्डल इसे उत्तरोत्तर तरक्की की मजिल पर पहुचा रहा है। इसको पढने वाले को यह शान्ति और पुरुषार्थ दोनो प्रदान करती है। इस वर्ष की स्मारिका पहले से भी अतीव श्रेष्ठ और सुन्दर लेखो से पूर्ण होकर छपाई सफाई भी बहुत ही सुन्दर है।.... ...."

२४ **श्री रिधकरण बोथरा**—कार्यालय सचिव जैन सभा श्री गगानगर—

"स्मारिका वास्तव मे सुन्दरता के साथ-साथ उपयोगिता की दृष्टि से भी बहुत महत्वपूर्ण स्थान रखती है। इसके लिये सम्पादक मण्डल बधाई के पात्र है।........"

२५. **श्री जमनालाल जी जैन** सारनाथ वाराणसी का पत्र दि० १२-५-७०

'स्मारिका सामग्री, छपाई, गेट अप सब दृष्टि से आकर्षक बनी है। यह एक सग्रहणीय वस्तु है जो आप लोग प्रतिवर्ष देते है।"

२६ **श्री दिगम्बरदास** एडवोकेट सहारनपुर का पत्र दि० ३-८-७०

'Mahaveer Jayanti Smarika is really an attractive illustrated collection of impressive Hindi English Articles—The volume is very nicely edited, well get up, durable paper, nice printing "

२७ **श्री मदनलाल जी जैन** जैन स्टोर जलंधर—

"स्मारिका क्या है एक महान् ग्र थ रूप है।......... .. . '

२८ **"जैन सन्देश"** साप्ताहिक के भाग ४१ सख्या ६ दिनाक ४-६-७० के पृष्ठ ६१ पर स्मारिका की समीक्षा करते हुए छपा है—

"जयपुर से प्रति वष महावीर जयन्ती पर महावीर जयन्ती स्मारिका प्रकाशित होती है। यो तो प्रत्येक स्मारिका सग्रह करने योग्य होतो है किन्तु इस वर्ष की स्मारिका की पाठ्य सामग्री ने तो उन पर भी हाथ रख दिया है। लेखो का सकलन और चयन बडे श्रम से किया गया है। जैन और जैनेतर विद्वानो के लेखो ने स्मारिका को स्मारिका बना दिया है। स्मारिका के तीन खण्ड है। प्रथम खण्ड है महावीर और उनकी देशना। इसमे २६ रचनाए है। सबसे प्रथम डा. गोकुलचद जी का वर्धमान महावीर पर एक रूपक है जो आकाशवाणी से प्रसारित हुवा था। रूपक बहुत सुन्दर है। इसी तरह प० हीरालाल जी ब्यावर का भगवान् महावीर के पूर्व भव शीर्षक लेख से भी भगवान् के पूर्व भवो के सम्बन्ध मे नई जानकारी मिलती है। शिवपुरी के श्री नेमीचद जी को 'मैं जैन नही हूँ' शीर्षक कविता तो आत्म निरीक्षण के लिए प्रत्येक जैन को एक बार अवश्य पढनी चाहिए। इस ही तरह अन्य भी लेख पठनीय है। दूसरे खण्ड मे शोध खोज साहित्य से सम्बद्ध २५ रचनाए है। इसके प्रारभ मे ही डा० मुनि नगराज जी का तिरुकुरल के सबध मे लेख पठनीय है। मुनि जी ने बहुत ही अध्ययन पूर्ण प्रकाश तिरुकुरल और उसके कर्ता के सम्बध मे डाला है। इसी तरह डा० नेमीचद शास्त्री आरा का 'वीरनन्दि द्वारा 'तत्वोपप्लववाद समीक्षा' जैसे अनेक पठनीय लेख इस खण्ड मे है।................'

२६ **पाक्षिक पत्र** 'वीर' ने अपने वर्ष ४८ अङ्क ६ दिनाक १-७-७० के अक मे पृष्ठ ४ पर लिखा है—

"जैन समाज का यह अपने ढग का एक शानदार और सर्वोपयोगी सुन्दर प्रकाशन है। गत छ वर्षों की ही भाति इस वर्ष भी महावीर जयन्ती पर यह सातवाँ वार्षिक ग्र थ प्रकाशित हुवा है। यह स्मारिका ४ भागो मे विभाजित है। प्रथम खण्ड मे 'भगवान महावीर और उनकी देशना' के सबध मे २६ गण्य मान्य विद्वानो के लेख है। साथ ही प० अनूपचद जी न्यायतीर्थ, श्री नेमीचद जी गोद वाले शिवपुरी और श्री घासीराम जी 'चन्द्र' को मनोरम प्रभावशाली कविताए हैं। श्वे० जैन साधु साध्वियों को भी मननीय लेख है।

द्वितीय खण्ड में शोध पुरातत्व विषयक २५ विद्वानो के लेख है जिनमे विविध विषयो के विशेषज्ञ डाक्टर शास्त्री और आचार्य है। इसका प्रत्येक लेख पठनीय, मननीय और ज्ञातव्य है। तृतीय खण्ड मे ३ विविध विषयक और चतुर्थ खण्ड मे ५ अग्रेजी लेख है।

इस सग्रहणीय सर्व सुन्दर और प्रशस्त प्रकाशन के लिए सम्पादक मण्डल को विशेषत प्रधान सम्पादक को हार्दिक धन्यवाद और बधाई।"

२६. **'वीरवाणी'** पाक्षिक के वर्ष २२ के अङ्क २३-२४ दि० १८ सितम्बर १६७० के पृष्ठ ५०१ पर स्मारिका की समालोचना इस प्रकार है—

"..................इसमे चार खण्ड है। प्रथम खण्ड मे भगवान् महावीर, उनकी देशना सम्बधित विभिन्न विद्वानो की २६ रचनाए है। द्वितीय खण्ड में शोध, खोज साहित्य और पुरातत्व सबधी २५ रचनाए हैं जो इस स्मारिका का बडा अध्याय है। तृतीय खण्ड मे विविध विषय के तीन लेख और चतुर्थ खण्ड मे अग्रेजी के ५ लेख।

जयपुर की यह स्मारिका साहित्य क्षेत्र मे अपना प्रमुख स्थान रखती है। प्रथम खण्ड के लेख महत्वपूर्ण है। भगवान महावीर की देशना सबधी सभी रचनाए पठनीय और जीवन निर्माण के लिये अनुकरणीय है। द्वितीय खण्ड स्मारिका का महत्वपूर्व भाग है। खोजपूर्ण सामग्री के लिए विशेष अध्ययन की आवश्यकता होती है। विद्वानो की ऐसी कृतिया नई दिशा प्रदान करती है। प्रस्तुत अङ्क मे ऐसी कई महत्वपूर्ण रचनाए है। ...."

३०. **'जैन मित्र'** ने अपने २१ मई सन् १६७० के अङ्क मे पृष्ठ २६१ पर 'प्राप्ति स्वीकार' शीर्षक समीक्षा के अन्तर्गत लिखा है—

"........ .....इस बडे अङ्क के लिए बडा परिश्रम और बडा खर्च किया गया मालूम होता है। विशेषता यह है कि श्वेताम्बर समाज के विद्वानो के लेख भी इसमें है।..................इसे मगाकर स्वध्याय करने योग्य है।............ ..."

सूचना

इस स्मारिका की बहुत थोडी प्रतियाँ शेष बची है। इसमे ३५० के लगभग पृष्ठ है। साथ ही भगवान महावीर का बहुरगा आकर्षक चित्र एव अन्य चित्र है। मूल्य लागत से भी बहुत कम २) रुपया मात्र है। स्मारिका को खरीदने के इच्छुक सज्जनो को अतिशीघ्र अपने आर्डर निम्न पतो मे से किसी एक पर भेजना चाहिये। इससे पूर्व के वर्षों की स्मारिकाए भी उपलब्ध है—

१ **केवलचंद ठोलिया** एडवोकेट
सभापति राजस्थान जैनसभा
घी वालो का रास्ता, जयपुर–३

२ **ताराचद साह** एडवोकेट
मत्री राजस्थान जैन सभा
बोरडी का रास्ता, जयपुर–३

३. **भवरलाल पोल्याका**, जैनदर्शनाचार्य, साहित्य शास्त्री
प्रधान सम्पादक 'महावीर जयन्ती स्मारिका'
५६६, जोशी भवन के सामने, मनिहारो का रास्ता, जयपुर–३

जिनकी प्रेरणा से महावीर जयन्ती स्मारिका का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ

प्रसिद्ध दार्शनिक, शिक्षा शास्त्री नवयुवकों के
प्रेरणास्त्रोत एवं राष्ट्रपति पुरस्कृत
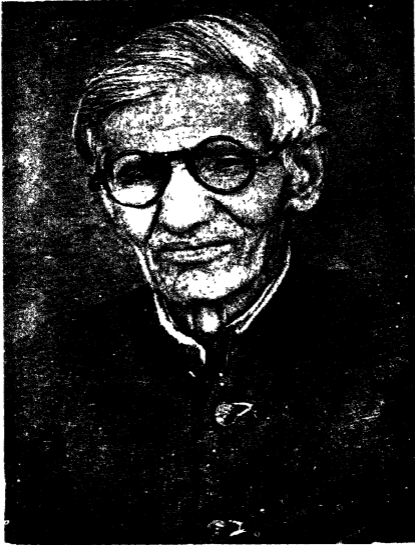
श्रद्धेय स्व० पं० चैनसुख दास न्यायतीर्थ

जन्म तिथि	निधन तिथि
२२ जनवरी, १८९९	२६ जनवरी, १९६९

आत्म – निवेदन

मुख पृष्ठ चित्र परिचय

• दि० जैन तीर्थ क्षेत्र सोनागिरी जी

•• मान-स्तम्भ श्री महावीर जी

••• श्वेताम्बर जैन मन्दिर राणकपुर

राजस्थान जैन सभा द्वारा आयोजित

क्षमापन पर्व महोत्सव १९७०

राजस्थान जैन सभा के अध्यक्ष श्री केवल चन्द ठोलिया
जन समूह को संबोधित करते हुए

महोत्सव के अध्यक्ष राजस्थान के राज्यपाल महामहिम
सरदार हुकमसिंह समारोह में पधारते हुए

महोत्सव के अध्यक्ष राजस्थान के राज्यपाल सरदार हुकमसिंह विशाल जन समूह को सम्बोधित करते हुए

दो शब्द

महावीर जयन्ती के पुनीत पर्व पर राजस्थान जैन सभा, जयपुर सन् १९६२ से एक स्मारिका का प्रकाशन करती आ रही है। इस प्रकाशन का उद्देश्य इस पावन पर्व पर जनता को भगवान् महावीर के प्रेरणाप्रद जीवन, उनके सर्वोदयी सिद्धान्तो आदि के साथ साथ जैनधर्म और जाति के इतिहास, पुरातत्त्व, सस्कृति आदि से परिचित कराना है। इस हेतु सभा भारत के जैनाजैन बहुश्रुत विद्वानो की रचनाए इन स्मारिकाओ मे प्रकाशित करती है। सभा के लिए यह गौरव का विषय है कि सभा की इस प्रवृत्ति की सभी क्षेत्रो मे मुक्त कण्ठ से सराहना और अनुमोदना हुई है। न केवल सामान्य पाठक ने इसकी उपयोगिता को स्वीकार किया है अपितु भारत के जैनाजैन विद्वानो ने भी इन स्मारिकाओ के सान्दर्भिक महत्त्व को आका है। सारे भारत मे शायद इस सभा को ही यह गौरव प्राप्त है कि भगवान् महावीर की पुनीत जयन्ती के अवसर पर इस प्रकार का महत्त्वपूर्ण प्रकाशन वह करती है।

अब तक इस स्मारिका के १० अङ्क पाठको के पास पहुँचने चाहिये थे किन्तु कुछ परिस्थिति विशेष के कारण इसके दो अङ्क प्रकाशित नही हो सके अतः स्मारिका का यह आठवा अङ्क पाठको के हाथ मे है। स्मारिका प्रत्येक दृष्टि से अधिकाधिक उपयोगी सुन्दर एव आकर्षक हो सर्वदा ही हमारा यह प्रयास रहता है। इस प्रयास मे हम कहा तक सफल रहे हैं यह निर्णय करना हमारा काम नही। गत वर्षो की भांति इस वर्ष भी स्मारिका के लिए एक सम्पादक मण्डल का गठन किया गया जिसमे प्रधान सम्पादक के स्थान पर श्री भवरलाल पोल्याका जैनदर्शनाचार्य साहित्य शास्त्री का चयन किया गया। स्व० श्रद्धेय प० चैनसुखदास जी न्यायतीर्थ के स्वर्गवास के पश्चात् वे ही अब तक इस कार्य को देखते रहे है और मुझे लिखते प्रसन्नता है कि अपने सम्पादन काल मे उन्होने स्मारिका के स्तर को न केवल

गिरने से बचाया अपितु उसे और भी ऊँचा उठाया। लेखो के सकलन, चयन, सशोधन आदि से लेकर सारा ही कार्य वे स्वय देखते है।

स्मारिका के प्रकाशन मे प्रत्यक्ष एव अप्रत्यक्ष रूप से जिनका सहयोग रहा है उनके हम हृदय से कृतज्ञ है। विशेष रूप से आर्थिक समस्याओ को हल करने, उनके लिये विज्ञापन जुटाने आदि मे विशेषत· जो सर्वश्री कपूर चन्द जी पाटनी, मुन्नोलाल जी वैद, मदनलाल जी वैद, लालचन्द जी पाटनी, अनूपचन्द जी ठोलिया, राजमल जी सघी, चन्दनमल जी वैद्य, प्रकाशचन्द पाटनी आदि का जो सक्रिय सहयोग मिला इसके लिये हम हृदय से उनको धन्यवाद अर्पण करते है।

जिन विद्वानो की रचना इसमे प्रकाशनार्थ हमे प्राप्त हुई एव जिनके विज्ञापन मिले उन सबके हम समान रूप मे धन्यवादार्ह है। वास्तव मे स्मारिका का प्रकाशन उनके सहयोग का ही तो फल है।

स्मारिका के मुद्रण का कार्य अजन्ता प्रिण्टर्स ने किया है। उसके मैनेजर श्री महावीर कुमार रारा एव श्री जितेन्द्र मोहन सघी ने कई रात जग कर सारी व्यवस्था की और इसको कलात्मक रूप प्रदान किया। यह अङ्क यथासमय पाठको के हाथो मे है यह भी उनके परिश्रम और अध्यवसाय का ही फल है। वे भी एतदर्थ धन्यवाद के पात्र है।

पाठको से निवेदन है कि वे स्मारिका के सम्बन्ध मे अपनी बहुमूल्य सम्मति भेजने की कृपा करे साथ ही यदि कोई त्रुटि हो तो उसकी ओर भी हमारा ध्यान आकृष्ट करे जिससे भविष्य मे उनकी पुनरावृत्ति न हो सके।

जय वीर!

केवलचन्द ठोलिया
अध्यक्ष, राजस्थान जैन सभा, जयपुर

सम्पादकीय

आज महावीर जयन्ती का दिन है। सारे विश्व में उनका २५६६वा जन्मदिन बडे उत्साह से मनाया जा रहा है। कही विशाल जलूस निकाले जा रहे है, भगवान् महावीर की जय के नारे बडे जोरो से लगाए जा रहे है। उन द्वारा प्रदर्शित मार्ग के, देशना के कुछ आदर्श वाक्यो का प्रदर्शन भी किया जा रहा है। उनके जीवन पर बडे-बडे विद्वानों का प्रेरणाप्रद भाषण भी हो रहे है। लोगो मे बड़ा जोश और उत्साह है।

भगवान् महावीर की इस प्रकार जयन्ती मनाने का इतिहास अधिक पुराना नही है। १०० वर्ष पुराना भी नही। राज्य सरकारो और रियासतो में भी रामनवमी, कृष्ण जन्माष्टमी आदि की छुट्टिया तो होती थी किन्तु महावीर जयन्ती की नही। शास्त्रो में भी कही जयन्ती मनाने का उल्लेख नही मिलता। इतिहास भी इस सम्बन्ध मे मौन है क्या यह अकारण था ? यह है एक प्रश्न जिस पर मैं कभी-कभी विचार करता हूँ। समाधान भी स्पष्ट है। जैन और जैनेतर सस्कृति मे एक मौलिक अन्तर है। जैन सस्कृति मानव के कर्म को महत्व देती है जन्म को नही। जन्म तो इस ससार मे प्रत्येक प्राणी लेता है किन्तु जन्म उसका ही सफल कहा जाता है जिसका मरण आदर्श और अनुकरणीय रहा हो। भगवान् महावीर भी एक ऐसे ही महामानव थे जिन्होने अपने जीवन मे हमारे लिये एक आदर्श उपस्थित किया था—वह आदर्श था यदि अपना उत्थान चाहते हो तो ऐसी मौत मरो कि फिर जन्मना न पड़े। उन्होने स्वय ऐसा जीवन जीया था और ऐसा जीवन जीने का ही लोगों को उपदेश दिया था—यही कारण है कि प्राचीन काल से अर्थात् उनके निर्वाण काल से ही यह परपरा चली कि उनका निर्वाण दिवस प्रति वर्ष बडे उत्साह से मनाया जावे।

इन पंक्तियो के लिखने का तात्पर्य हमारा यह कतई नही है कि हम महावीर जयन्ती का महत्व कम कर रहे है या कम ग्राकते है ग्रथवा महावीर जयन्ती पर छुट्टी होने का विरोध करते है। जयन्ती भी हमारा पावन पर्व है ग्रौर इस दिन छुट्टी भी ग्रवश्य होनी चाहिये किन्तु प्रश्न है क्या हमने नैतिक रूप से सरकार के सामने ऐसा ग्रादर्श उपस्थित किया है जिससे वह इस दिन की छुट्टी करने को बाध्य हो। जब हम सरकार से इस दिन ग्रपना कारोबार बन्द करने को कहते है तो नैतिक दृष्टि से हमारा क्या यह कर्तव्य नही है कि हम उस दिन स्वय भी हमारा सारा कारोबार व्यापार ग्रादि बन्द रखे। यद्यपि भारत सरकार ने इस दिन बहुत वर्षो के पश्चात् इस वर्ष जयन्ती की सार्वजनिक छुट्टी घोषित की है। किन्तु राजस्थान मे ए. जी ग्रादि कार्यालयो मे वह केवल प्रतिबंधित (Restricted) छुट्टियो मे रखी गई है ग्रर्थात् कोई भी चाहे तो उस दिन ग्रनुपस्थित रह सकता है। समझ मे नही ग्राता ऐसा क्यो किया गया ? क्या इससे हमारी शक्तिहीनता प्रकट नही होती ? क्या इससे यह प्रकट नही होता कि सरकार हमे कोई महत्त्व नही देती ? जयन्ती ही नही ग्रन्य दिनो मे भी हमे इस पर विचार करना चाहिये किस प्रकार हमारा समाज शक्तिशाली ग्रौर महत्त्वपूर्ण बने। किसी भी महापुरुष की जयन्ती मनाने का उद्देश्य ही केवल यह होता है हम उन द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर चलने के लिये प्रेरित हो। भगवान महावीर की जयन्ती मनाने का उद्देश्य भी इससे पृथक नही हो सकता।

स्वस्थ समाज निर्माण के लिये ग्रावश्यक है कि हम स्वय स्वस्थ हो, शक्तिशाली हो। महात्मा भगवानदीन ने एक स्थल पर कहा है—"समाज ग्रावश्यकता पडने पर दुधमुहो यानी ग्रपाहिजो को नही पुकारती, कायरो ग्रौर डरपोको को नही बुलाती, कमजोरो को नही चाहती, वह तन्दुरुस्त ग्रौर हिम्मत वालो, जोरदारो को पुकारती है।' समाज मे यह शक्ति सगठन से ही उत्पन्न होती है। भगवान् महावीर ने विश्व के प्राणियो का एक सगठन बनाने को कहा, सबको समान दृष्टि से देखने को कहा किन्तु ग्राज हमारी क्या हालत है। एक गाव मे यदि दो घर जैनियो के होगे तो वे भी मिलकर नही रह सकते—मिलकर भगवान् की पूजा उपासना नही कर सकते—वहा वे दो घर ही तीन मन्दिर बना डालेगे ग्रौर एक उस मन्दिर मे नही जावेगा तो दूसरा उस मन्दिर मे। 'तीन कन्नौजिये तेरह चूल्हे' वाली कहावत पूर्ण रूप से हमारी समाज पर ही चरितार्थ होती है। ग्रौर तो ग्रौर दिगम्बर दिगम्बर ग्रौर श्वेताम्बर श्वेताम्बर भी ग्रापस में ही लड़ते है। प्रत्येक जैनी ग्रपने को सम्यग्दृष्टि मानता है किन्तु कहा है हमारा प्रवचन-वत्सलत्व ? शास्त्र कहते है सम्यक्त्व के ग्राठ ग्रगो मे से एक ग्रग

महावीर जयन्ती १९७०

राज० एग्रो इण्डस्ट्रियल कारपोरेशन प्रा० लि०
के अध्यक्ष व मैनेजिंग डाईरेक्टर
श्री चन्दनलाल वैद ध्वजारोहण करते हुए

ध्वजारोहण के पश्चात् श्री वैद विशाल जन-समूह
को सम्बोधित करते हुए
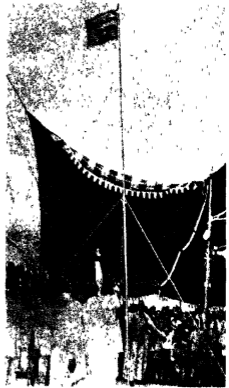
जयन्ती जुलूस
एक दृश्य

भी न हो तो सम्यग्दर्शन नही होता तो फिर हम कैसे सम्यग्दृष्टि हैं जो आपस मे मिलकर भी नही रह सकते। हम कहते हैं अहिंसा ही परम धर्म है और ऊपर से हम अपने आपको अहिंसक दिखाने का प्रयत्न भी करते हैं किन्तु क्या हम वास्तव मे अहिंसक है ? रामधारी सिंह दिनकर ने कहा है— "अहिसा केवल अनाघात को नही कहते। सच्चा अहिसक वह है जो विरोधी के मन को भी क्लेश नही देता, जिसे चिन्तन के धरातल पर भी गुस्सा नही आता। जो कुछ मै कहता हूँ वह ठीक दूसरे लोग जो कहते है वह गलत है ऐसा आग्रह उसका नही होता।" अनेकान्त भी तो हमें यही सिखाता है किन्तु अपने जीवन मे हम कितने आग्रही है यह कहने और लिखने की बात नही। हमारे चारो ओर तो एकान्त का एक ऐसा कोहरा छाया हुआ है जिसमे पास की चीजे तो दिखाई देती हैं मगर दूर की नही। हम अपनी बात को तो सम्पूर्ण सत्य समझते है और दूसरो की बात को गलत।

कोई भी समाज तब तक उन्नति नही कर सकता, जीवन प्राप्त नही कर सकता जब तक कि वह गतिशील न बने, समय के साथ न चले। जीवन मे गति प्राप्त करने के लिये आवश्यकता है चारित्र बल की। चारित्र ही वह वस्तु है जो मानव को मानव से ऊँचा उठा कर देवत्व की प्राप्ति कराता है और अन्त मे शाश्वतिक सुख के साथ मोक्ष सम्पत्ति को दिलाता है। मानव मे मानवता के अर्थात् आत्मिक गुणो का विकास ही सच्चा चारित्र है और इसके विरुद्ध हमारी जो भी क्रियाए है वह सब पाप की परिधि मे आती है और यह ही आध्यात्मिक मृत्यु है। इस सत्य को आज हमने भुला दिया है अत: आज हमारा समाज मृत है उसमे जीवन के कोई चिह्न नही है।

हमारे जीवन मे सच्चा चारित्र उतरे इसके लिये आवश्यक है कि हमारे हृदय का अज्ञानान्धकार दूर हो, उसमे विवेक का प्रकाश जागृत हो अपना हिताहित समझने की क्षमता हमारे मे उत्पन्न हो। यह हो सकता है भगवान् महावीर की वाणी जिनवाणी का अध्ययन करने से, उसका मनन करने से। भगवान् की वाणी के कारण ही आज भी हमारा तीर्थंकरों से अप्रत्यक्ष सम्पर्क है। जिनवाणी की भक्ति तो उसे प्रकाश मे लाने में है, उसे सर्व सुखाय बनाने मे है। प्रचार के इस युग मे तो यह और भी अधिक आवश्यक है। दुनिया में वह ही सौदा अधिक बिकता है जो बहु विज्ञापित हो। सफल व्यापार का यही रहस्य है। इस ही प्रकार आज हमारे धर्म के विज्ञापन की भी अत्यधिक आवश्यकता है। दुःख है इस महत्त्वपूर्ण कार्य की ओर भी हमारा ध्यान नही है। समाज मे इसके लिये पैसा नहीं हो यह

बात भी नही है। प्रति वर्ष करोडो रुपया हमारी समाज का उत्सवो, प्रतिष्ठाम्रों आदि में व्यय होता है। जहा आवश्यकता नही वहा मन्दिर बनते हैं मूर्तियां बनती है, सोने चादी के उपकरण बनते है। मन्दिरो की दीवारो को सोने से मढाया जाता है। अपरिग्रही भगवान् को अधिक से अधिक परिग्रही बनाने का प्रयत्न किया जाता है। समझ मे नही आता यह सब हमारी अपरिग्रही सस्कृति से कैसे मेल खाता है। यदि कोई विचारक इनका विरोध करता है तो उसे धर्मद्रोही आदि पदो से विभूषित किया जाता है। मन्दिरो मे जो प्रतिवर्ष लाखो रुपयो की चोरिया होती है उसका कारण भी हमारी सग्रह प्रवृत्ति ही है। जयपुर मे ही अभी एक मन्दिर मे मान स्तम्भ निर्माण की चर्चा चल रही है कोई उस मन्दिर के पचो, कर्ताधर्ताओ से पूछे आज उस मन्दिर मे इसकी क्या उपयोगिता है। इन मन्दिरो के पचो से कोई कहे कि अमुक ग्रथ प्रकाशन के लिये पैसा चाहिये तो उसके लिये देते हुए हिचकेंगे, पैसा न होने का बहाना करेगे। स्मारिका जैसे उपयोगी प्रकाशनो के लिए अर्थ की व्यवस्था करने हेतु लोगो के पास विज्ञापन इकट्ठे करने जाना पडता है। जयपुर मे इतने धनपति है और जैनो की इतनी बडी जनसख्या है फिर भी यह हाल है। आज इसकी भी महती आवश्यकता है कि हम दान की धारा के प्रवाह को भी ठीक दिशा की ओर मोडे क्योकि अनावश्यक बातो मे व्यय किया गया धन, द्रव्य कभी भी फलदाई नही हो सकता —ऊसर भूमि मे हल चलाने से भला कही कुछ प्राप्त हो सकता है। अस्तु !

इन दिनो जयपुर मे अनुसधान क्षेत्र मे कार्य करने हेतु दो सस्थाए खुली है। एक है उच्चस्तरीय अध्ययन अनुसधान सस्थान। १९७१-७२ के लिये इस सस्था ने अपने कार्य का लक्ष्य रखा है—(१) दस ऐसे ग्रन्थो का अध्ययन जो अनुसधान की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इस अध्ययन से प्राप्त सामग्री का परीक्षण एव यथा सभव प्रकाशन, (२) तुलनात्मक पौराणिक देव शास्त्र, (३) परिभाषा कोष का प्रणयन, (४) प्राचीन ग्रन्थागारो का अवलोकन आदि। इसमे जैन ग्रन्थो का अध्ययन और जैन पारिभाषिक शब्दो का कोष प्रकाशन भी सम्मिलित है। श्री प्रवीणचन्द्र जी जैन आचार्य वनस्थली विद्यापीठ, डा० राजकृष्ण एव डा० गोपीचन्द पाटनी इसके डाइरेक्टर्स हैं। इस सस्था से एक त्रैमासिक शोध पत्रिका के प्रकाशन की भी योजना है। दूसरी सस्था है भारती मन्दिर अनुसधानशाला जिसके आदरी निदेशक डा० सुधीर कुमार गुप्त है। यहा से एक भारती शोध सार सग्रह पत्रिका के प्रकाशन की योजना है। दोनो ही सस्थाए साम्प्रदायिक आग्रह से मुक्त है और जैनों से भी प्रत्येक सभव सहयोग की अधिकारिणी है।

स्मारिका के सम्पादन का कार्य भी कम परिश्रम साध्य नही है। स्मारिका का यह रूप कुछ सप्ताहो के परिश्रम का फल है अत· आशानुरूप इसका रूप सवर नही पाया है। अनेक लेख देर से प्राप्त हुए वे अपना उचित स्थान ग्रहण नही कर सके। स्मारिका का स्तर भी पूज्य गुरूदेव के समय जैसा था वैसा शायद नही रह पाया है। इस विषय में मै अपनी अयौग्यता स्वीकार करता हूँ।

स्मारिका सम्पूर्ण समाज की पत्रिका है। हो सकता है इसमें प्रकाशित कुछ लेखो मे ऐसा कुछ हो जो किसी सम्प्रदाय के पाठको को रुचिकर न हो अथवा उनकी मान्यताओ के विरुद्ध हो। पाठको से हमारा अनुरोध है कि वे इस दृष्टि से कुछ सहिष्णुता और उदारता का परिचय दे।

स्मारिका के लिये हमारे अनुरोध को मान जिन लेखक बधुओ ने अपनी बहुमूल्य रचनाए प्रकाशनार्थ भेजी उनके हम हृदय से आभारी है। इस वर्ष स्मारिका मे प्रकाशनार्थ इतनी रचनाए प्राप्त हुई कि उनमे से कुछ स्थानाभाव के कारण स्मारिका मे स्थान नही पा सकी। इसके लिए हम उन लेखक बधुओ से जिनकी रचनाए हम प्रकाशित नही कर सके क्षमा प्रार्थी है। इसका अर्थ वे यह कतई न ले कि इसके अतिरिक्त उन रचनाओ के प्रकाशित न करने का और कोई कारण था। कुछ रचनाए देर से प्राप्त होने के कारण भी स्थान नही पा सकी। आशा है भविष्य मे भी इन सभी लेखक बधुओ का स्मारिका के प्रति इस ही प्रकार सहयोग और प्रेमभाव बना रहेगा। अपनी असमर्थता के लिए एक बार पुन हम सखेद क्षमाप्रार्थी है। चाहने पर ये रचनाए लौटाई जा सकेगी नही भविष्य मे उपयोग करने हेतु इन्हे सुरक्षित कर दिया जावेगा।

इस अवसर पर बरबस ही मुझे श्रद्धेय गुरूदेव प० चैनसुखदास जी जी की याद आती है जिनकी प्रेरणा से स्मारिका का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ, उनका स्मरणमात्र ही हृदय मे एक स्फूर्ति देता है, उनकी याद ही मेरा सम्बल है। श्रद्धा के दो फूल उनके चरणो मे भी समर्पण करता हूँ।

राजस्थान जैन सभा का भी मैं आभारी हूँ कि उन्होने मुझे स्मारिका के सम्पादन जैसे महत्त्वपूर्ण पद के योग्य समझा। इससे मैं अपने आप को गौरवान्वित अनुभव करता हू।

सम्पादक मण्डल के अपने अन्य साथियो का भी मैं हृदय से आभार मानता हूँ जिनका पूर्ण सहयोग मुझे मिला।

स्मारिका प्रकाशन मे रही त्रुटियों के लिए मैं अपना पूर्व उत्तरदायित्व स्वीकार करता हू। पाठको से निवेदन है कि वे नि सकोच उस ओर ध्यान आकृष्ट करे जिससे भविष्य में सावधानी बरती जा सके। स्मारिका का यह अङ्क आपको कैसा लगा इस पर भी अपनी सम्मति भेज हमे अनुगृहीत करे।

भंवरलाल पोल्याका

महावीर जयन्ती समारोह १९७०

महिला सम्मेलन की अध्यक्षा रानी साहिबा ममुदा श्री उर्मिला देवी महिलाओं को सम्बोधित करती हुई

समारोह पर आयोजित महिला सम्मेलन का एक दृश्य
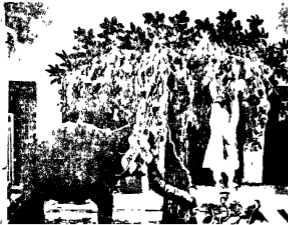
श्री तेजकरण डण्डिया द्वारा निर्देशित श्री महावीर दि० जैन हाईस्कूल द्वारा प्रदर्शित
संसार दर्शन नामक झांकी

महिला सम्मेलन मे बालिकाए सांस्कृतिक कार्यक्रम प्रस्तुत करती हुई

प्रकाशकीय

जिस समय स्मारिका का यह अङ्क पाठको के हाथो मे पहुँचेगा विश्व भगवान् महावीर की २५६६वी जयन्ती मना रहा होगा। किसी भी विशेष अवसर के लिये विज्ञापन आदि द्वारा अर्थ सचय हेतु स्मारिका का प्रकाशन करना आजकल एक सामान्य प्रवृत्ति हो गई है। पाठको ने ऐसी स्मारिकाए अवश्य देखी होगी जिनमे सारी स्मारिका मे विज्ञापनो के अतिरिक्त जरा भी पठनीय सामग्री नही होती। हमे गर्व है कि राजस्थान जैन सभा जयपुर द्वारा महावीर जयन्ती के पुनीत अवसर पर प्रकाशित स्मारिका इस कोटि की न होकर अपना एक विशेष ही महत्त्व रखती है।

सभा द्वारा प्रकाशित स्मारिका का उद्देश्य पाठको को ऐसा साहित्य प्रदान करना है जो भगवान् महावीर और उन द्वारा उपदिष्ट धर्म एव दर्शन पर विभिन्न दृष्टिकोणो से प्रकाश डाल सके। जैन सभा ने अपने इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु अब तक सात स्मारिकाए प्रकाशित की है और स्मारिका का यह आठवा अङ्क पाठको के हाथो मे है।

पाठक जानते है इन स्मारिकाओ का प्रकाशन स्व० प० चैनसुखदास जी न्यायतीर्थ की प्रेरणा का फल था। प्रारम्भ के पाच अङ्को का सम्पादन भी उन्होने ही किया था। उनके स्वर्गवास के पश्चात् आशका थी कि शायद स्मारिका अब अपना स्तर कायम न रख सके किन्तु प्रसन्नता का विषय है कि वह आशका निर्मूल सिद्ध हुई। न केवल स्मारिका अपना पूर्व स्तर कायम रख सकी अपितु इस दृष्टि से उसने एक कदम आगे ही रखा। गत वष की स्मारिका पर आई सम्मतिया जो इस ही स्मारिका मे अन्यत्र प्रकाशित हैं हमारे इस कथन की पुष्टि करती है। इसका श्रेय यदि किसी को दिया जा सकता है तो वह नि सन्देह इसके प्रधान सम्पादक श्री भवरलाल पोल्याका को है जो लेखो के सकलन आदि से लेकर स्मारिका को सजाने

सवारने का सारा काय स्वय ही देखते है। इस अङ्क का सम्पादन भी उन्होने ही किया है। इसके लिए हम उनका हृदय से आभार मानते है।

सम्पादक मण्डल के अन्य सदस्यो ने भी कन्धे से कधा मिला कर कार्य किया है और अपना सहयोग दिया है उनका भी मै आभारी हूँ और विश्वास करता हूँ कि भविष्य मे भी उनसे इस ही प्रकार सहयोग और मार्गदर्शन प्राप्त होता रहेगा।

आज का युग अर्थ प्रधान है। कोई भी कार्य अर्थ के अभाव मे सम्पन्न नही हो सकता। स्मारिका के सम्बन्ध मे भी यही बात है। सभा विज्ञापन के माध्यम से स्मारिका के प्रकाशन के लिए अर्थ व्यवस्था करती है। इस वर्ष के लिये विज्ञापन जुटाने मे हमे स्मारिका विज्ञापन समिति के सयोजक श्री कपूरचन्द जी पाटनी तथा श्री केवलचन्द जी ठोलिया, श्री मुन्नीलाल जी जैन, श्री मदनलाल जी वेद, श्री प्रकाशचन्द जी पाटनी आदि का सहयोग मिला है। इन्होने रात दिन परिश्रम करके विज्ञापन जुटाये है और इस प्रकार आर्थिक समस्या का हल प्रस्तुत किया है। इन सबके प्रति भी आभार प्रकट करना मै अपना कर्तव्य समझता हूँ। साथ ही उन विज्ञापन-दाताओ को भी मैं हृदय से धन्यवाद अर्पण करता हू जिन्होंने विज्ञापन दे इस पवित्र यज्ञ मे अपनी आहुति डाली है।

स्मारिका का मुद्रण मैसर्स अजन्ता प्रिण्टर्स ने किया है। उसके मैनेजर श्री महावीर कुमार रारा और श्री जितेन्द्र मोहन सघी ने रात दिन परिश्रम करके प्रकाशन को कलापूर्ण बनाने का प्रयत्न किया है। यह उन ही के परिश्रम का फल है कि स्मारिका का यह अङ्क समय पर पाठको के हाथो मे पहुच रहा है। इस हेतु उनके प्रति भी हम कृतज्ञता ज्ञापन करते है।

भविष्य मे इससे भी सुन्दर और उपयोगी प्रकाशन हम पाठको को दे सके इसी पवित्र भावना और कामना के साथ—

विनीत

ताराचंद साह

मन्त्री राजस्थान जैन सभा, जयपुर

राजस्थान जैन सभा, जयपुर

परिचय एवं संक्षिप्त कार्य विवरण

राजस्थान जैन सभा, जयपुर, राजस्थान की राजधानी, भारत के पेरिस गुलाबी नगर जयपुर मे सम्पूर्ण जैन समाज का एक मात्र ऐसा प्रतिनिधि सगठन है जो अपने जन्मकाल से ही जैन समाज के सब वर्गों को सगठित कर उसकी सर्वांगीण उन्नति मे अपना सक्रिय योगदान करती रही है।

आज से अनुमान १८ वर्ष पूर्व जयपुर मे कोई ऐसा सगठन नही था जिसे समाज के सभी वर्गों का सहयोग प्राप्त हो और जो सारी समाज की ओर से प्रतिनिधि रूप मे अपनी आवाज समय पर बुलन्द कर सके। कुछ ऐसी सस्थाए अवश्य थी जो अपने सीमित दायरे मे कार्यरत थी। ये सस्थाए सकुचित कार्य क्षेत्र एव सीमित साधनो के कारण यथा आशा अपेक्षित कार्य नही कर पा रही थी। समाज मे एक ऐसी सस्था का अभाव तीव्रता से अनुभव किया जा रहा था जो सारे राजस्थान की जैन समाज को एक सूत्र मे सगठित कर योजनाबद्ध तरीके से सामाजिक एव धार्मिक उन्नति एव उत्थान का कार्य कर सके और जो समय पर सारी समाज का प्रतिनिधित्व कर सके। फलस्वरूप सन् १९५२ मे समाज के उत्साही नवयुवको ने आपसी मत भेद मिटा कर, सस्था के नाम पदो का मोह त्याग कर समाज सेवा की पवित्र भावना से राजस्थान जैन सभा की स्थापना की जो अद्यावधि अपने उद्देश्यो की प्राप्ति मे सतत् जागरूक और प्रयत्नशील है।

सभा का अपना सविधान है और वह राजस्थान सोसाइटिज एक्ट के अनुसार पजीकृत है। सभा की वर्तमान सदस्य सख्या ६७० है।

यह ठीक है कि सभा आशा अनुरूप कार्य नही कर पा रही किन्तु फिर भी अपने स्थापना काल से जो कुछ भी उसने किया वह सर्वथा नगण्य भी नहीं है।

जब-जब भी समाज के अधिकारों और स्वत्वों पर किसी भी ओर से बाधा अथवा आपत्ति आई है सभा ने तत्काल उसके निवारणार्थ, सक्रिय कदम उठाये है और अधिकाश मे वह अपने प्रयत्नो मे सफल भी हुई है। राजस्थान विधान सभा मे प्रस्तुत नग्न विरोधी बिल को वापिस कराने, राजस्थान ट्रस्ट एक्ट मे सशोधन कराने आदि कार्यों के नाम इस सबध मे गिनाये जा सकते है।

समाज अपने धर्म और कर्तव्य की ओर प्रेरित हो इस हेतु वह विभिन्न पर्वो पर विभिन्न प्रकार के आयोजन करती रहती है जिनके लेखे जोखे मे प्रति वर्ष समाज को परिचित कराया जाता रहा है। ३१ दिसम्बर सन् १६७० को समाप्त होने वाले वर्ष की गतिविधियो का सक्षिप्त सिहावलोकन समाज की जानकारी हेतु नीचे की पक्तियो म प्रस्तुत किया जा रहा है।

मास्टर मोतीलाल जी सघी स्मृति दिवस

स्वनाम धन्य मास्टर मोतीलाल जी मानव समाज के मुख्य सेवक थे। उनके जीवन से प्रेरणा ग्रहण करने और उन द्वारा छोडे अपूर्ण कार्य को पूर्ण करने हेतु सभा प्रति वर्ष उनके स्वर्गारोहण के दिन एक स्मृति दिवस का आयोजन करती है। इस वर्ष भी १८ जनवरी सन् १६७० को यह दिवस बडे दीवाण जी के मदिर मे अवकाश प्राप्त मुख्य न्यायाधीश श्री दौलतमल जी भण्डारी की अध्यक्षता मे मनाया गया जिसमे सर्व श्री बालचद जी वैद, तेजकरण जी डडिया, केवलचद जी ठोलिया, रूपचद जी चोकसी, मोहनलाल जी माथुर, ताराचद साह, वैद्य गोपाल दत्त जी शर्मा, गगा सहाय जी पुरोहित, राधेश्याम जी अग्रवाल, हीराचद जी धाधिया, कपूरचद जी पाटणी आदि वक्ताओ ने मास्टर साहब के जीवन पर विशद प्रकाश डालते हुए भाव भीनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित की। सुश्री प्रमिला एव पुष्पा ने मगला चरण एव सरस्वती वन्दना की तथा श्री प्रसन्न कुमार जी सेठी ने कविता पाठ किया।

महावीर जयन्ती समारोह

जैन समाज की विभिन्न धार्मिक, सास्कृतिक एव शिक्षण सस्थाओ के प्रतिनिधियो एव प्रतिष्ठित व्यक्तियो की एक सभा मे यह निश्चय किया गया कि इस वर्ष महावीर जयन्ती तीन दिन तक बड़े उत्साह पूर्वक मनाई जावे एव प्रति वर्ष की भाति स्मारिका का प्रकाशन भी किया जावे। समारोह सफलता पूर्वक मनाया जा सके इस हेतु श्री ताराचद साह को सयोजक चुना गया और विभिन्न उप-समितियो का निर्माण किया गया। स्मारिका के प्रधान सम्पादक श्री भवरलाल पोल्याका चुने गये। तदनुसार ता० १७-४-७० को रानी साहिबा मसूदा श्री उर्मिला देवी जी अध्यक्षा समाज कल्याण बोर्ड की अध्यक्षता मे शिवजी राम भवन मे महिला सम्मेलन का आयोजन किया गया जिसमे विदुषी महिलाओ के भाषण एव सास्कृतिक कार्यक्रम हुए जिसे सब ने सराहा।

दि० १८ अप्रेल १९७० को प्रातः नगर के प्रमुख मार्गों मे होकर प्रभात फेरी निकाली गई जिसमे पर्याप्त सख्या मे पुरुषो और महिलाओ ने भाग लिया। इस कार्य मे समाज की विभिन्न भजन मण्डलियो का पूर्ण सहयोग रहा जिसके लिये सभा उनकी आभारी है। इस ही सध्या को रामलीला मैदान मे श्री कमला कर जी 'कमल' की अध्यक्षता मे एक कवि सम्मेलन का आयोजन किया गया जिसमे राजस्थान के प्रतिनिधि कवियो ने कविता पाठ किया। कवि सम्मेलन पर्याप्त सफल रहा।

दि० १९-४-७० को प्रात महावीर पार्क से एक विशाल जलूस रवाना हुआ जिसमे हजारो की सख्या मे स्त्री पुरुष सम्मिलित हुए। श्री महावीर दि० जैन हायर सैकण्डरी स्कूल द्वारा प्रदर्शित 'ससार दर्शन' नामक झाकी इस वर्ष इस जलूस का मुख्य आकर्षण थी। नगर के प्रमुख बाजारो मे होता हुवा यह जलूस रामलीला मैदान पर समाप्त हुवा। वहा श्री चन्दनमल वैद अध्यक्ष व मैनेजिग डाईरेक्टर राज० एग्रो इण्डस्ट्रियल कारपोरेशन प्रा० लि० द्वारा झण्डारोहण किया गया। श्री महावीर दि० जैन हायर सैकण्डरी के स्कूल केडेटो द्वारा सलामी दी गई। श्री पोल्याका ने इस वर्ष प्रकाशित स्मारिका की एक प्रति मुख्य अतिथि को भेंट की। श्री वीर सेवक मण्डल द्वारा की गई सराहनीय समाज सेवाओ के लिये मण्डल के दलपति श्री कैलाश चन्द सौगानी को सभा की ओर से एक शील्ड प्रदान की गई।

सध्या को इस ही स्थान पर श्री केवलचद ठोलिया की अध्यक्षता मे सार्वजनिक सभा का आयोजन हुवा जिसमे भगवान् महावीर के जीवन पर विभिन्न विद्वानो के सारगर्भित भाषण हुए। श्री बलभद्र जैन एव श्री राजमल बेगस्या ने कविता पाठ किया। महावीर जयन्ती का सार्वजनिक अवकाश घोषित करने एव मूर्तियो की चोरी के मामलो म आवश्यक कदम शीघ्र उठाने हेतु केन्द्र एव राज्य सरकार से प्रार्थना करते हुए सर्व सम्मति से दो प्रस्ताव पारित किये गये। मत्री द्वारा धन्यवाद ज्ञापन के पश्चात् भगवान महावीर की जय ध्वनि के साथ सभा विसर्जित हुई।

स्मारिका

अपनी परम्परानुसार इस वर्ष भी सभा द्वारा स्मारिका का प्रकाशन किया गया, जो विद्वानो द्वारा पर्याप्त रूपेण समादृत हुई। स्मारिका का प्रकाशन कितना सफल रहा इसकी कुछ झलक पाठको को इस अक मे अन्य स्थान पर मुद्रित स्मारिका के सबध मे आई सम्मतियो से लगेगा। इस सफलता का प्रमुख श्रेय स्मारिका के प्रधान सम्पादक श्री भवरलाल पोल्याका को है जिन्होने बडे परिश्रम से इस कार्य को सम्पादित किया। सम्पादक मण्डल के अन्य सदस्यो ने भी अपने-अपने हिस्से का

कार्य बड़ी मेहनत से किया, स्मारिका के लिये अर्थ आदि की व्यवस्था की । अत. वे भी समान रूप से धन्यवाद के अधिकारी है ।

दस लक्षण पर्व

इस वर्ष भी ५ सितम्बर से १४ सितम्बर सन् ७० तक बड़े दीवारा जी के मंदिर मे सध्या ७।। बजे से मनाया गया । प्रतिदिन प्रसिद्ध अध्यात्म प्रवचन कार प० हुकमचंद जी न्यायतीर्थ का प्रत्येक धर्म पर बड़ा रोचक और सारगर्भित भाषण होता था जिसे जनता मंत्र-मुग्ध होकर सुनती थी । इसके अतिरिक्त अन्य विद्वानो के भाषण भी इस अवसर पर हुए । श्री भवरलाल पोल्याका ने 'धर्म का तत्व स्वाध्याय', डा० कस्तूरचद कासलीवाल ने 'जयपुर के जैन विद्वान्' श्री बाबूलाल सेठी 'जीवन मे धर्म की आवश्यकता,' श्री तजकरण डडिया का 'धर्म एव आचरण' डा० राजमल कासलीवाल जैन ने 'धर्म की वैज्ञानिकता' डा० पुष्पा ने 'पर्वो का महत्व,' डा० मदन गोपाल शर्मा का 'जैन साहित्य-महत्व एव मूल्याङ्कन', प० गोविन्द नारायण प्रिंसिपल राजकीय सस्कृत कालेज मे 'मानव जीवन की सार्थकता' श्री प्रेमचद रावका ने, 'धार्मिक शिक्षा, एव जैन समाज,' श्री फूलचद जैन ने 'सत्य अहिंसा का महत्व,' श्री माणकचद जैन ने 'समाज एव युवक वर्ग', डा० गोपीचद पाटनी ने 'विश्व क्या है' श्री कपूरचद पाटनी ने 'हमारी सामाजिक समस्याए' इन विषयो पर अपने विचार समाज के समक्ष रखे । श्री प्रसन्न कुमार सेठी, श्री राजमल जैन, श्री नेमीचद जी खिन्दूका, श्री दामूलाल जी जैन आदि ने कविता पाठ एव भजन प्रस्तुत किये । उपरोक्त सभी विद्वानो के उनके सहयोग के लिये एव मदिर के पच गणो के सुव्यवस्था आदि के लिए आभारी है ।

क्षमापन पर्व समारोह

दि० १७ सितम्बर सन् १६७० को राजस्थान के राज्यपाल महामहिम सरदार हुकमसिंह जी की अध्यक्षता मे प्रात. महावीर पार्क मे सभा की ओर से सामूहिक क्षमापन पर्व का आयोजन हुवा जिसमे पूज्य मुनि श्री सम्मति सागर जी एव श्री सन्मति सागर जी ने क्षमा के जीवन मे महत्व को बड़े ही सरल शब्दो मे समझाया । प० हुकमचन्द्र जी न्यायतीर्थ ने क्षमा के आध्यात्मिक पहलू पर प्रकाश डाला । राज्यपाल महोदय ने क्षमा को आत्मिक शुद्धि का मूल मत्र बताया । अत मे धन्यवाद के पश्चात् समारोह समाप्त हुवा । इस समारोह मे हजारो लोग सम्मिलित हुए और समारोह के अन्त मे परस्पर गले मिल एक दूसरे से क्षमा प्रार्थना की गई । दृश्य देखते ही बनता था ।

श्री महावीर निर्वाण महोत्सव

ता० ३०-१०-७० को श्री केवलचद जी ठोलिया की अध्यक्षता मे मनाया

गया। इस अवसर पर सर्व श्री निहालचद जैन, श्री माणकचन्द्र जैन, सौभाग्य मल जैन, डा० कस्तूर चद कासलीवाल, श्री ताराचद बख्शी, श्री कपूरचद्र पाटणी, श्री बाबूलाल सेठी तथा ताराचद साह आदि के भाषण हुए। भाषणो मे भगवान् महावीर के जीवन और जैन धर्म के सिद्धान्तो पर प्रकाश डाला गया। उपस्थिति महोत्सव के अनुरूप नही थी जिस पर सभी वक्ताओ ने चिन्ता प्रकट की विशेष कर जब कि थोडे ही समय बाद भगवान् महावीर का २५०० वा निर्वाण दिवस मनाया जाने वाला है तो ऐसे अवसर पर समाज का रुचि प्रदर्शित न करना निश्चय ही खेद का विषय है।

सामाजिक कुरीतिया

समाज मे पर्याप्त समय से सगाई विवाह आदि अवसरो पर होने वाली कुरीतियो और अप व्यय पर पर्याप्त समय मे चर्चा चल रही थी मगर कोई भी इनके विरुद्ध आवाज उठाने का उपक्रम नही कर रहा था। सभा ने अपना कर्तव्य समझ कर इस ओर ध्यान दिया और १५-११-७० को साय ७॥ बजे चाकसू के मदिर मे इस सबध मे विचार करने हेतु एक आम सभा का आयोजन किया। इसमे सभी सस्थाओ के प्रतिनिधियो, समाज सुधारको, विद्वानो एव विचारको ने इस सबध मे अपने विचार प्रकट किये। सभी इस विषय पर एक मत थे कि समाज मे फैली कुरीतियो के निवारणार्थ आवश्यक कदम उठाये जावे। फलस्वरूप सभा से कहा गया कि वह अपने सदस्यो की एक उप समिति बनाकर इस सम्बन्ध मे अपने सुझाव समाज के समक्ष प्रस्तुत करे। उप समिति ने अपने सुझाव समाज के समक्ष रखे और विचार करने के लिये ता० २४-१-७१ को खिन्दूको के मन्दिर मे दूसरी आम सभा हुई। ऊहापोह के पश्चात् इस सबध मे पुन सभा बुलाने का निश्चय किया गया।

सभा के सभी आयोजनो मे वीर सेवक मण्डल प्रारम्भ से ही अपना सहयोग प्रदान करता आ रहा है जिसके लिये सभा मण्डल की कृतज्ञ है वह भविष्य मे मण्डल से इसमे भी अधिक सहयोग और घनिष्टता की कामना करती है।

सभा उन शिक्षण सस्थाओ की भी आभारी है जो समय-समय पर सभा के कार्यों मे सहयोग का हाथ बटाती रहती है। इसमे श्री वीर बालिका विद्यालय, महावीर दि जैन बालिका विद्यालय, पद्मावती हा से स्कूल, सुबोध कालेज एव विद्यालय, श्री म. दि जैन हा. से स्कूल के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

सभा उन सबकी भी हृदय से कृतज्ञ है जो समय-समय पर सभा की प्रवृत्तियो मे अपना हर सभव सहयोग प्रदान करते है। वास्तव मे उन ही के सहयोग के बल पर ही तो सभा अपना कार्य करने मे सक्षम होती है।

सभा समाजगत रूढ़ियो और कुरीतियों के विरुद्ध प्रभावशील रूप मे कदम उठा सके, समाज की साहित्यिक, चारित्रिक, सास्कृतिक उन्नति के लिए द्रुत गति से अपने पाव उठा सके, एक आदर्श और प्रत्येक दृष्टि से उन्नत समाज के निर्माण मे प्रयत्नशील हो इस हेतु सभा आपसे प्रत्येक सभव सहयोग की कामना करती है ।

विनीत
ताराचन्द्र साह
मत्री, राजस्थान जैन सभा, जयपुर।

महावीर जयन्ती समारोह १६७०

वीर सेवा मण्डल की सराहनीय सेवाओं के उपलक्ष में उसके दलपति श्री कैलाश चन्द्र सोगाणी को जैन सभा के अध्यक्ष श्री केवल चन्द ठोलिया शील्ड प्रदान करते हुए

जैन सभा के मन्त्री श्री ताराचन्द शाह विशाल जन-समूह को सम्बोधित करते हुए।
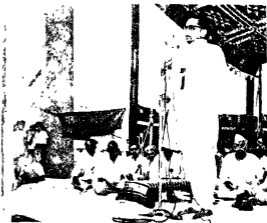
समारोह के अवसर पर आयोजित कवि सम्मेलन का एक दृश्य— सम्मेलन के अध्यक्ष श्री कमलाकर जी 'कमल' अध्यक्ष के आसन पर आसीन है, जैन सभा के अध्यक्ष श्री ठोलिया एवं सम्मेलन के संचालक श्री प्रकाश चन्द्र पाटनी अन्य कवि बन्धुओं के साथ मंच पर दिखाई दे रहे है

वीर बालिका विद्यालय की छात्राएं मंगला चरण करती हुई

भगवान् महावीर
उनका
धर्म और दर्शन

प्रथम खण्ड

१	ज्योतिर्मय अमर दीप (कविता)	श्री निर्भय हाथरसी	१
	महावीर के चिन्तन मे जीवन सरोज की पांच पखुडी	श्री निहालचन्द जैन	३
३	महावीर जयन्ती की पुण्य वेला	प पन्नालाल	७
४	महावीर का अहिंसा दर्शन	प्रो उदयचद जैन	१३
५	भजन (जयन्ती आई सुखकारी)	सुश्री सुशीलाकुमारी बैद	१६
६	जैन दर्शन का उदार स्वरूप	श्री इन्द्रमल जैन	१७
७	क्रान्ति और भ्रान्ति के दो राहे पर	श्री चन्दनमल 'चांद'	१९
	जीवन पथ (कविता)	स्व प चैनसुखदास	२२
	भोर	श्रीमती शान्ता भानावत	२३
१०	आत्मवेदना (कविता)	स्व प चैनसुखदास	२६
११	ग्रन्थ और उसकी पृष्ठभूमि तथा जैनधर्म के अनुसार उसके स्वरूप की एक झलक	प्रो प्रवीणचन्द्र जैन	२७
१२	जब जब होता नाश धर्म का	सुश्री सुशीलाकुमारी बैद	३१
१३	महावीर का जीवन झांकी	वि उदयचन्द जैन	३३
१४	अहिंसा के प्रवर्तक भगवान् महावीर	श्री गजानन्द डेरोलिया	३७
१५	उपालम्भ (कविता)	स्व प चैनसुखदास	४०
१६	विश्वशांति का अमोघ उपाय अहिंसा और अपरिग्रह	श्री अगरचन्द नाहटा	४१
१७	महान् क्रान्तिकारी भगवान् महावीर	श्री सत्यधर कुमार सेठी	४४
१८	आत्म कामना (कविता)	स्व प चैनसुखदास	४८
१९	निक्षेप का महत्व	प वासुदेव	४९
२०	अभ्यर्थना	स्व प चैनसुखदास	५२
२१	मानव का प्राकृतिक भोजन शाकाहार	डा नरेन्द्र भानावत	५३
२२	अणुव्रत एक चिन्तन	लक्ष्मीचन्द सरोज	५७
२३	मानवता के उपदेष्टा महाश्रमण महावीर	डा कस्तूरचन्द कासलीवाल	६५
२४	धर्म और उसकी अनिवार्यता	प्रेमचन्द रांवका	६९

ज्योतिर्मय अमर-दीप

—निर्भय हाथरसी
निर्भय नगर, हाथरस (उ० प्र०)

शान भरे इन्सान की जय ।
इन्सान मे महान की जय ।
सत्य-अहिंसा-प्रेम-प्रदाता महावीर भगवान की जय ।

'बिहार' के होकर बिहार के बिहार से कतराते है ।
'वैशाली' के थे इस कारण वय-शाली हो जाते हैं ।
'कुण्डग्राम' से धरा धाम पर जग अभिराम बनाते हैं ।
वृद्धिमान हो 'वर्धमान' में महावीरता पाते हैं !

त्रिशला की सन्तान की जय ।
सुत-सिद्धार्थ-सुजान की जय ।
सत्कर्मों से ईश्वर बन जाने वाले इन्सान की जय ।
सत्य-अहिंसा-प्रेम-प्रदाता महावीर भगवान की जय ।।

'श्रमण-सघ' द्वारा 'निगण्ठ' यदि घोर तपस्या धारी हैं ।
सहज भाव से सद्गृहस्थ भी धर्म ध्यान अधिकारी है ।
श्रद्धा के अनुसार सभी 'जिन' के आलोक पुजारी हैं ।
त्रिलोक की क्या? लोक-लोक-परलोक सभी आभारी हैं ।

धर्मधुरी-ध्रुवभान की जय,
पावन-पथ-प्रस्थान की जय,
जड़-चेतन तक जैनधर्म के विश्वविदित अभियान की जय ।
सत्य-अहिंसा-प्रेम-प्रदाता महावीर भगवान की जय ।।

सबसे बढकर दुख, दुनिया मे जन्म-मरण का होना है।
कारण केवल कर्म, कर्म-फल का हर बोझा ढोना है।
कर्म फलो के मूल रूप में मन के अकुर बोना है।
मन हिंसा का मूल, सभी कुछ मन का रोना-धोना है।

जन-जीवन-जलयान की जय,
सयम-सिन्धु-सुज्ञान की जय,
जन्म-मरण के रहस्यभेदी-कर्मठ-कर्म-विधान की जय।
सत्य-अहिंसा-प्रेम-प्रदाता महावीर भगवान की जय।।

सम्यक् दर्शन, ज्ञान, चरित्र अगर जीवन मे आते है।
प्रपच तज, यदि पच-व्रत को श्रद्धा से अपनाते है।
मुख्य रूप से अगर अहिंसा-परमोधर्म निभाते है।
तो भव सागर तज कर प्राणी सहज मोक्ष-पद पाते है।

पंच-व्रत परिधान की जय,
रत्न-त्रय की खान की जय,
ब्रह्मचर्य-अस्तेय-अहिंसा-सत-परिग्रह परिमाण की जय,
सत्य-अहिंसा-प्रेम-प्रदाता महावीर भगवान की जय।

महावीर के चिंतन में :

जीवन सरोज की पांच पंखुड़ी

—श्री निहालचन्द जैन
एम. एस-सी., व्याख्याता
पृथ्वीपुर टीकमगढ़ (म प्र)

(१)

जीवन संकल्प के समर्पण में

राजकक्षो को दीवारो मे घिरा मेरा जीवन आजतक परिवार के अपरिहार्य मोह मे डूबा रहा। यह जीवन" ? अनन्त प्रश्नो का जोड। आज तक इन प्रश्नो को जीवन-डायरी के तीन सौ पैसठ दुख-पृष्ठो पर लिखता रहा। आज प्रासादो के पीडन से मुक्त हुआ हू। आज सम्पदा और मोह की विडम्बना से उन्मुक्त हुआ हू। इसलिए इन प्रश्नो के उत्तर खोजू गा। अब समय नही सकल्प ही महत्वपूर्ण होगा। समय की प्रतीक्षा मे जीवन के तीस वर्ष बिता दिये अब सकल्प की वेदी पर जीवन का अर्घ्य चढ़ाना होगा। जीवन के सत्य, समय को नही अपितु सकल्प की डोर से बधे होते है। 'जीवन क्या है ?' यह महत्वपूर्ण नही रह गया। 'जीवन क्या हो सकता है ?' यह देखना है। क्योकि यह अनन्त प्रसुप्त-सम्भावनाओ की उपलब्धि का हेतु है, द्वार है।

"उनका (भगवान् महावीर का) मौन कह रहा था--गौतम। ससार में जन्म और मरण के तीव्र प्रवाह में डूबते प्राणियों को धर्म ही एक शरण है। प्रतिष्ठा और गति है। तुम स्वय अपने दीपक हो। अपनी ही ज्योति में अपने को देखो। स्व के प्रति जागो। स्वानुभूति के अलावा कोई शरण नहीं। ऐसा कोई प्रभू नहीं जो कि अगुलि पकड कर भवसागर पार करा दे।"

कल मित्र ने बताया था–निकटवर्ती गाव मे एक यज्ञ हुआ था जिसमे निरपराध मूक पशुओ की बलि का अर्ध्य दिया गया था। बडा आर्तक्रन्दनपूर्ण वातावरण था। वहा मनुष्य की बुभुक्षा अट्टहास कर रही थी। हिंसा का एक ताडव नृत्य सा मचा था। मोक्ष के नाम पर प्रचलित ऐसे तथा कथित धर्म जीवन को कितने दुर्भाग्य मे, कितनी पीडा और अवसाद मे छोडेगे, नही सोच पा रहा हूं। बधी लकीरो पर चलने वाले ऐसे मनुष्यो को क्राति के सिंहनादो से जीवन का आमत्रण देना होगा। जीवन का पथ स्वय निर्माण कर उस पर चलना होगा। पाप के कीचड पर आनन्द और प्रेम के एक एक पत्थर जमा कर जीवन और सत्य के बीच मनुष्य को इस पशुता और प्रभु के बीच एक सेतु का निर्माण करना होगा।

देख रहा हू जगत दुखी है। इसलिए नही कि जीने लायक कुछ नही है। पेट भरने लायक तो सब कुछ है। लेकिन हा! तृष्णा का मुह भरने लायक कुछ नही है। मनुष्य की इस आशा-गर्त के अनन्त विस्तार मे ससार का सम्पूर्ण वैभव एक परमाणु के बराबर नजर आने लगा है। इच्छा के इस कटोरे को किस वस्तु मे भरा जाय क्योकि यह कटोरा किसी धातु का नही बल्कि मानव-हृदय का बना है। मै इस प्यासे और खाली कटोरे को करुणा, प्रेम और मैत्रीत्व से भरना चाहता हू। इसलिए क्यो न अवशेष जीवन को समर्पण के सकल्प मे लगा दू? क्योकि समय तो ससार की ही उपलब्धिया दे सकता है। प्रेम और सत्य की उपलब्धिया तो सकल्प से ही मिल पाती है। स्व-शक्ति की अभिव्यक्ति अब व्रात्य बनकर पूरी हो सकेगी।

जीवन: बन्धन की उन्मुक्तता मे

पूज्य मा श्री ने बुलाया था। इसलिए मैं उनके प्रकोष्ठ मे गया था। मा ने एक ममता भरा उलाहना दिया है। लेकिन प्रणय-बन्धन ' ?

मैने मा से कहा—'मा! यह भी तो बन्धन है। जजीरे तो बाधती ही है चाहे वे स्वर्ण की हो या लोहे की बन्धन मुक्ति का हेतु कैसे हो सकता है? मा ने बडा समझाया है। राजकुमार से युवराज बनने की बात कही है। लेकिन युवराज सज्ञा शक्ति-साम्राज्य की अपर सज्ञा है। शक्ति, स्वार्थ और सत्रास से शरीर पर तो काबू किया जा सकता है। लेकिन अन्त करण पर विजय पाना सम्भव है? इस विजय की अन्तर्यात्रा की बात ज्यो ही मैंने मा से कही उनका पुत्र-वत्सलता का आवेग फूट पडा। कहने लगी—'बेटे! तुझे किस सुख की कमी है? कौन सी आकाक्षा शेष है?' लेकिन एक ही सिक्के के दो पहलुओ की भाति आकाक्षा की दूसरी ओर दुख का रूप टिका है और यह तथाकथित ऐन्द्रिक सुख-दुख का मीठा रस है। जिसका लोभ-सवरण कोई नही कर पाता। कहने लगी—'अल्पवय मे इतने उदासीन क्यो?' मैने समझाया—'मा (उत्+आसीन) होकर ही द्रष्टा बना जा सकता है। ऊपर रहकर ही सबको देख पाना सम्भव होता है। और कालचक्र जब जीवन रथ का मृत्यु मिलन पर लिये जा रहा हो तो उसकी दृष्टि मे वय का प्रश्न कहा होता है।

मा चुप हो गयी। लगता है समष्टि के शिवत्व मे वात्सल्यता मौन हो गयी। प्रेम एक पर हो तो स्वार्थ है अनन्त पर हो तो सेवा है। सेवा के इस व्रत को निरख कर मा शान्त हो गयी। और फिर स्वय के प्रश्न का उत्तर देकर मै चला आया। मैने मा से पूछा था—'तोते को बहेलिया पकडता है या उसकी स्वय की समझ?' मा की जिज्ञासा मुझे देखने लगी। मैने कहा—जब बहेलिया ऐठी हुई रस्सी मे बधी लकडी पर दाने डालता है और दानो के लालच से तोते उस पर बैठते है और बहेलिया रस्सी को खीचकर उसे उलटा कर देता है, तो वह तोता जिसके पख होते है और जो उन्मुक्त आकाश मे उड सकता है, नीचे गिर जाने

के भय से उस लकडी को मजबूती से जकड लेना है। अपने पखो की पकड से वह बन्धन मे आ जाता है और बहेलिया द्वारा पकड लिया जाता है। मा श्री महावीर की बात सुन मुस्करा उठी थी।

जीवन: क्रान्ति के आमन्त्रण मे

[आज चौथा दिन है। कौशाम्बी के नागरिको मे एक गहरी अन्तर्वेदना लक्षित हो रही है। पिछले तीन दिनो से महाश्रमण महावीर बिना पारणा किये बन को लौट जाते है। योग्य आहार विधि नही मिल पा रही है। एक वृद्ध बुद्धिनन्द कह रहा है—निग्गठनाथ स्वामी की अनुकम्पा का वरदहस्त किसी पीडित, उपेक्षित, दुखी या विकलाग पर होगा। वे किसी ऐश्वर्यशाली दाता को नही अपितु बेबसी के पानी से गीली आखो वाले किसी निष्कलक हृदय की पुकार को खोज रहे है।]

'मेरा आहार न तो भोगाकाक्षा और न ही शरीर अभिवृद्धि हेतु है वरन् धर्म की मर्यादा के लिए है। आज समाज मे कुमारियो का कौमार्य क्रिय विक्रय की वस्तु बन गया है। गुलाम प्रथा समाज के लिए कलक है। नारी का स्वत्व क्षरण और उपेक्षणीय बनता जा रहा है। ऐसे समय को क्राति की आवश्यकता है। इसलिए मेरा सकल्प सामयिक है कि मै ऐसी अबला के हाथो आहार ग्रहण करूगा जो बन्धनाविष्ट होकर भी भीतर से परम स्वातन्त्र्य की ओर बढ रही होगी।'

····और चन्दनबाला धन्य और कृतपुण्य हो गयी। सेट्ठि धनावह के गर्भगृह मे साकलो से जकडी चन्दनबाला एक अपूर्व चैतन्यता से भर गयी, जब उसने देखा कि महापुण्यशाली महावीर मेरी ओर बढ़ते चले आ रहे है। उसके पास जो कुछ भी था, मन वचन काय की शुद्ध परिणति पूर्वक, देने के लिए पडगाहन करने लगी। और आहार देकर कृतार्थ हो गयी। चन्दनबाला अब निर्बन्ध थी। रूप की सजा पाने वाली स्वरूप प्राप्ति के लिए भ० महावीर का अनुगमन कर उनके पीछे २ उस पथ पर बढ़ चली जिस पर सच्चे सुख सुगन्ध के सुमन खिले थे।

जीवन: ज्ञान की तेजस्विता मे

केवल ज्ञान की तेजस्विता से उद्‌भूत भ० महावीर स्वामी मौन हो एक शीतल वृक्ष की छाया मे पद्मासनस्थ आरूढ थे। ज्योतिषी पडित पुष्पक किसी पुण्यशाली सम्राट-गुणो के लक्षणो से युक्त रज पर अकित पद-चिन्हो को निरख २ यहा तक आ पहुचा था। पहिले तो एक दिगम्बर साधु को देखकर उसे अपनी विद्या पर क्षोभ आया और फिर थोडी देर बाद वहा के चिन्मय, निस्तब्ध और अलौकिक वातावरण से प्रभावित हो वहीं ठिठक कर रह गया। भ० महावीर के निकट गया जिनकी आखो से करुणा बह रही थी। जिनके अग अग से जीवन्त प्रेम का प्रवाह फूट रहा था। जिनकी मौन वाणी मे जीवन सत्य के अगम-सूत्र निस्सृत हो रहे थे। महावीर स्वामी के शरीर के एक एक लक्षण को देखकर ज्योतिषी पुष्पक चरणो मे झुक गया। उसे आज तक जो नही मिला था वह मिल गया। प्रभु के सान्निध्य मे वह प्रभु बनने की तैयारी मे लग गया। केवल ज्ञान की रश्मियो ने उसकी प्रज्ञा जगा दी। आया था जिज्ञासु बनकर और बन गया पुष्पक—भगवान के पथ का अनुयायी।

जीवन: परम चिन्मयता मे

आज राजगृही के विपुलाचल पर्वत पर अर्हन्त भगवान महावीर स्वामी की दिव्य देशना उदभूत हुई है। असख्य नर नारी भगवान के भव्य सभा मण्डप (समवशरण) मे उपस्थित है। भगवान महावीर कह रहे हैं—

'जह ममण पिय दुक्ख जाणिहि एमेण सव्व जीवाण।'

जैसे दुख तुम्हे प्रिय नही लगता ऐसे ही ससार के सब प्राणियो को जानो। 'सत्त्वेषु मैत्री' का उपदेश दिव्य ध्वनि के रूप मे खिर रहा है । भ० महावीर कह रहे है—'पुरिसा सच्चमेव समभि जाणहि सच्च लोगम्मि सारभूय'—चिदात्मन् । सत्य प्रतिज्ञा करो क्योकि सत्य ही ससार मे सारभूत है ।

पावापुरी की साध्य वेला । गौतम-श्रद्धावनत है—प्रभु ! तुम्हारे बिना अब कौन मार्ग सुझाएगा। सन्मार्ग का उद्योत कौन करेगा ? लोग अब किसकी शरण जायेंगे ? भ० महावीर अचल ध्यान मे प्रविष्ट हो गये थे। इनका मौन कह रहा था—गौतम ! समार मे जरा और मरण के तीव्र प्रवाह मे डूबते प्राणियो को धर्म ही एक शरण है, प्रतिष्ठा और गति है। तुम स्वय अपने दीपक हो। अपनी ही ज्योति मे अपने को देखो । स्व के प्रति जागो। स्वानुभूति के अलावा कोई शरण नही। ऐसा कोई प्रभू नही जो किसी की अगुली पकड कर भवसागर पार करा दे।

महाप्रभु अर्हन्त भ० महावीर कार्तिक अमावस्या की ऊषा बेला मे अनन्त तेजपुञ्ज बनकर सिद्ध गति को बढ़ने चले गये, बढते चले गये।

●

महावीर वाणी

जो वीर दुर्जय सग्राम मे लाखो योद्धाओ को जीतता है, यदि वह एकमात्र अपनी आत्मा को जीत ले, तो यह उसकी सर्वश्रेष्ठ विजय है।

—श्री सीवनकर

महावीर जयन्ती
की पुण्य बेला

—पं० पन्नालाल जी
साहित्याचार्य, मन्त्री भा० दि० जैन विद्वत्परिषद्
सागर (म० प्र०)

गणतन्त्र राज्य के प्रमुख राजा सिद्धार्थ की राजधानी वैशाली थी। वही उनकी त्रिशला रानी की कुक्षि से चैत्र शुक्ल त्रयोदशी की पुण्य बेला मे भगवान महावीर स्वामी का जन्म हुआ था। वे वर्धमान, वीर, अतिवीर, सन्मति और महावीर नाम से प्रसिद्ध थे। ये जन्म से ही विरक्त थे। ससार के भौतिक आकर्षण उनके मन मे रच मात्र भी आकर्षण उत्पन्न नही कर सके। ये बाल ब्रह्मचारी रहे और तीस वर्ष की भरी जवानी मे गृह त्याग कर दिगम्बर साधु हो गये। बारह वर्ष तक मौन तपस्या करने के बाद ब्यालीस वर्ष की अवस्था मे आपने केवल ज्ञान प्राप्त किया। आप सर्वज्ञ हो गये। राजगृही नगरी के समीप स्थित विपुलाचल पर आपके समवसरण की रचना हुई। वही श्रावण बदी १ के दिन आपकी प्रथम देशना हुई। इन्द्रभूति (गौतम) आपके प्रथम गणधर थे। इन्होने भगवान महावीर की देशना को द्वादशाग मे गुम्फित कर सुरक्षित एव प्रचारित किया।

"पत्थर से मूर्ति बनती है पर उसमें बाहर से क्या आता है। पत्थर के ऊपर के अनावश्यक अश कुशल कारीगर अपनी छेनी और हथोडों के प्रहार से अलग करता जाता है। जब सब अनावश्यक अश अलग हो जाते हैं तब पत्थर मूर्ति रूप में परिणत हो जाता है। इसी प्रकार आत्मा के ऊपर जो रागादिक बिकारी भाव लग रहे है उसे भेद विज्ञान रूपी छेनी और हथोडा की चोट से अलग कर दिया जावे तो आत्मा तत्काल ईश्वर बन सकता है।"

भगवान महावीर का उपदेश था कि यह जीव अनादिकाल से चतुर्गति रूप संसार के अन्दर भ्रमण करता हुआ दुःख उठा रहा है। इसके दुःख का कारण यही है कि इसने आज तक अपने ज्ञाता द्रष्टा स्वभाव की ओर लक्ष्य नही दिया। इसके विपरीत शरीरादि परपदार्थ की ओर दृष्टि देकर उन्हें ही अपना मानता रहा है। इसका कल्याण तभी हो सकता है जब यह शरीरादि परपदार्थ से भिन्न आत्मा के अस्तित्व को पृथक रूप से जाने तथा उसके ज्ञाता द्रष्टा स्वभाव की श्रद्धा कर उसके साथ लगे हुए राग द्वेषादि विकारी भावो पर पूर्ण विजय प्राप्त करे। अनादि काल से आत्मा और शरीरादि पुद्गल द्रव्य की सयोगी पर्याय चली आ रही है। इस संयोगी पर्याय मे जब तक एकत्व बुद्धि रहती है तब तक यह जीव स्वकीय शुद्ध स्वभाव से विमुख रहता है। यद्यपि रागादिक विकारीभाव अनादिकाल से आत्मा मे उत्पन्न हो रहे है तथापि वे सकारण-द्रव्य कर्म की उदयावस्था रूप कारण से युक्त होने से विभाव कहलाते हैं और कारण के दूर होने पर दूर हो जाते है। स्वभाव और विभाव की पहिचान कर जब यह जीव विभाव को नष्ट करने का पुरुषार्थ करता है तब स्वभाव मे स्थित हो जाता है और स्वभाव मे स्थिर हो जाना ही मोक्ष है, सुख का भण्डार है तथा चतुर्गति के परिभ्रमण से बचने का सरल उपाय है।

ससार के अन्दर चेतन और अचेतन के भेद से दो प्रकार के पदार्थ है। ये ही जीव और अजीव तत्व कहलाते है। यहा अजीव से तात्पर्य कर्म, नोकर्म रूप पुद्गल द्रव्य से है। इस पुद्गल द्रव्य रूप अजीव के साथ जीव का सम्बन्ध जिस कारण होता है वह आस्रव तत्व कहलाता है। दोनो का सयोग होने पर जो अवस्था होती है, उसे बन्ध कहते हैं। आस्रव के रुक जाने को सवर कहते है और पूर्व संचित कर्म रूप पुद्गल का एक देश दूर हो जाना निर्जरा कहलाती है तथा सवर और निर्जरा के होते होते जब समस्त कर्म रूप पुद्गल का आत्मा से सम्बन्ध छूट जाता है तब उस परिणति को मोक्ष कहते हैं।

यतश्च मोक्ष प्राप्ति के लिये उक्त सात तत्व प्रयोजन भूत तत्व है। ततश्च इनका यथार्थ निर्णय कर मोक्ष प्राप्ति के लिये अग्रसर होना चाहिये। भगवान महावीर स्वामी की देशना के निम्नांकित चार प्रमुख सिद्धात प्राणी मात्र का कल्याण करने वाले हैं:-

(१) अहिंसा (२) अनेकान्त (३) अपरिग्रह और (४) स्वतन्त्रता।

यहा सक्षेप से इन चारो सिद्धान्तो पर विचार किया जाता हैः-

१ अहिंसा

अपने आप को रागादिक विकारी भावो से दूर रखना अहिंसा है और रागादि विकारी भाव रूप परिणमन करना हिंसा है। यह हिंसा ही दुःख का कारण है। अहिंसा के प्रकट होने ही शान्ति का अनुभव होने लगता है। सच्चा अहिंसक प्राणी जहा बैठता है वहा का वातावरण भी अहिंसामय हो जाता है। परस्पर के विरोधी जीव भी अपना जन्म जात, बैरभाव छोड़कर परस्पर क्रीड़ा करने लगते है। ससार अनेक प्राणियो का आवास है उसमे सब प्राणी एक दूसरे का घात-प्रतिघात न कर सुख शान्ति से जीवन व्यतीत करे तो कितना आह्लाद न होगा। अहिंसा को आचार्यों ने परब्रह्म कहा है। अहिंसा ही परम धर्म माना गया है। यह अहिंसा नामक परमधर्म वीतरागता का नामान्तर है। रागदिक विकारी भावो से रहित आत्मा की परिणति धर्म कहलाती है और वैसी परिणति अहिंसा रूप ही होती है जो पूर्ण अहिंसक पूर्ण वीतराग बन जाता है। उसे अन्तर्मुहूर्त के भीतर नियम से केवलज्ञान हो जाता है। सर्वज्ञ बनने के लिये वीतराग या अहिंसक बनना आवश्यक है।

'मैं हिंसक हू या अहिंसक हूँ' इसका निर्णय व्यक्ति स्वय कर सकता है। अपने रागद्वेष रूप परिणामो की पहिचान अपने को न हो, यह नही हो सकता।

यह ठीक है कि अहिंसा की साधना एक साथ नही हो पाती, उसकी प्राप्ति के लिये मनुष्य को पुरुषार्थ करना पडता है। अपनी इन्द्रियो और मन को नियन्त्रित कर इच्छाओ के वेग को रोकना क्या कम पुरुषार्थ की बात है। बाह्य दृष्टि से प्रमत्त योग पूर्वक स्वपर प्राणो का घात करना हिंसा है और इससे विपरीत भाव, अहिंसा है। ईर्या समिति मे चलने वाले मुनि के पदतल के नीचे यदि कोई क्षुद्र जीव आकर अकस्मात् मर जाता है तो भी मुनि के हिंसा सम्बन्धी पाप बन्ध नही होता जबकि ईर्या समिति से न चलने वाले व्यक्ति के जीवघात न होने पर भी हिंसा सम्बन्धी पापबन्ध नियम से होता है। यही कारण हे कि हिंसा के लक्षण मे आचार्यों ने प्रमत्त योग हेतु प्रमुख रूप से दिया है।

लौकिक दृष्टि से हिंसा के सकल्पी, आरम्भी उद्यमी और विरोधी के भेद से चार भेद होते हैं। सकल्प कर किसी जीव का घात करना सकल्पी हिंसा है। गृहस्थी के कार्य करते समय अनिच्छापूर्वक जो हिंसा होती है, वह आरम्भी हिंसा है। व्यापार तथा खेती आदि करते समय जो हिंसा होती है वह उद्यमी हिंसा है और शत्रु से आत्म रक्षा करते समय जो हिंसा होती है वह विरोधी हिंसा है। गृहस्थ प्रारम्भ मे इन चार प्रकार की हिंसाओ मे सकल्पी हिंसा का ही त्याग कर सकती है, शेष तीन का नही। वह निवृत्ति के मार्ग मे जैसे जैसे आगे बढता जाता है वैसे वैसे ही इसकी शेष हिंसाए कम होती जाती हैं। आरम्भ त्याग प्रतिमा के होने पर आरम्भी, उद्यमी और विरोधी हिंसाए भी नष्ट हो जाती है। मुनि अवस्था हो जाने पर उक्त चारो प्रकार की बाह्य हिंसाए नष्ट हो जाती हैं इसलिये मुनि अहिंसा महाव्रत का धारक हो जाता है। मुनि अवस्था के पूर्व हिंसा का पूर्ण त्याग न होने से अहिंसाणुव्रत ही कहलाता है।

अपने पद के अनुरूप अहिंसा का पालन करने से ससार मे किसी प्रकार का द्वन्द्व नही होता। जैन शास्त्र इस बात की आज्ञा देते हैं कि अहिंसाणुव्रत का धारक श्रावक शत्रु मे युद्ध कर अपने देश की रक्षा कर सकता है। यह उचित है कि अहिंसाणुव्रत का पालन करने वाला मनुष्य कभी किसी पर स्वय आक्रमण नही करता परन्तु उस पर यदि कोई आक्रमण करता है तो वह आत्म रक्षा कर सकता है और उसमे होने वाली हिंसा के विचार मे वह कातर बनकर अपमानित या ध्वस्त नही होता। सत्य, अचौर्य, अकुशील और अपरिग्रह ये धर्म, अहिंसा के ही साधक है क्योंकि इनके विरुद्ध असत्य आदि मे प्रवृत्त मनुष्य हिंसा मे बच नही सकता। जैनाचार्यों ने अहिंसा का क्रमिक क्रमपूर्ण वर्णन किया है और क्रम से अहिंसा का पालन करने वाला मनुष्य कभी दुखी नही हो सकता।

आज ससार का वातावरण हिंसामय है, आतक से परिपूर्ण है। आज का मानव ऐसे ऐसे शस्त्रो के निर्माण मे सलग्न है कि जिनसे अल्पकाल मे सबका सहार हो सकता है। अपने स्वार्थ के पीछे आज का मनुष्य दूसरे का सहार करने में रच मात्र भी सकुचित नही होता। यही कारण है कि प्रत्येक राष्ट्र एक दूसरे से शकित है। पूर्व काल मे युद्ध होता भी था तो सिर्फ शत्रु को आतकित करने के लिये। उस समय के बाण आदि साधारण शस्त्र भी इस प्रकार के थे कि उनसे तत्काल मृत्यु नही होती थी। प्राणघातक शस्त्रो का उपयोग बहुत पीछे किया जाता था। युद्ध निश्चित समय पर होता था और नगर के बाह्य निश्चित युद्ध क्षेत्र मे ही युद्ध होता था। निरपराध नागरिको पर युद्ध का कोई प्रभाव नही होता था

पर ग्राज न युद्ध का काल निश्चित रहा है और न क्षेत्र भी। दिन मे, रात में, जब कभी भी शत्रु देश के किसी नगर पर बम गिरा कर निरपराध नागरिको को नष्ट कर दिया जाता है। जान पडता है कि मानव का यह ग्राविष्कार ही मानव को एक दिन नष्ट कर देगा। सब राष्ट्र हिंसा के साधन एकत्रित करने मे जुटे हुए हैं। एक से एक बढकर सहारक शस्त्र बनाये जा रहे है। कही से भी अहिंसा और शान्ति की किरण दिखाई नही दे रही है। अहिंसा को चर्चा करने वाला मानव ग्राज मूर्ख या कायर समझा जा रहा है परन्तु यह निश्चित है कि सुख और शान्ति का मार्ग अहिंसा ही है। जब तक मनुष्य हिंसा का वातावरण दूर नही करता तब तक वह सुख को सास नही ले सकता।

भगवान महावीर स्वामी ने इसी अहिंसा का उपदेश देकर पथभ्रान्त पुरुषो को सचेत किया था कि हे प्राणियो, यदि सुख शान्ति से जीवित रहना चाहते हो तो हिंसा से बचो।

२ अनेकान्त

अन्त का अर्थ धर्म है और अनेक का अर्थ है परस्पर विरोधी दो। पदार्थ मे रहने वाले परस्पर विरोधी दो अन्ता धर्मों-गुणो मे से एक को प्रधान और एक को गौण करते हुए ग्रहण करना अनेकान्त है। विवक्षाभेद से परस्पर विरोधी दो धर्मों का समन्वय करना अनेकान्त का उद्देश्य है। ससार का प्रत्येक पदार्थ सामान्य विशेष अथवा द्रव्य और पर्याय रूप मे अवस्थित है। सामान्य अश एक, नित्य तथा अभेद रूप होता है। जबकि विशेष अश इसके विपरीत अनेक, अनित्य तथा भेद रूप होता है। जब जीव द्रव्य का सामान्य रूप से उल्लेख होता है तब वह एकत्व, नित्यत्व आदि के लिये होता है और जब विशेष की अपेक्षा उसकी चर्चा होती है तब अनेक नित्य तथा भेद रूप प्रतीत होता है। अनेकान्त की विशेषता यह है कि वह परस्पर विरोधी धर्मों को ग्रहण करते हुए भी किसी एक को सर्वथा ग्रहण नही करता और सर्वथा नही छोडता। एक ही देवदत्त पुत्र है और पुत्र नही है, किन्तु पिता है। अपने पिता की अपेक्षा पुत्र है परन्तु अपने पुत्र की अपेक्षा पुत्र नही है किन्तु पिता है। इस तरह दो विभिन्न विवक्षाओ से देवदत्त मे पुत्रपना अस्ति नास्ति रूप होता है। प्रत्येक पदार्थ का, द्रव्य क्षेत्र काल भाव इन चार बातो की अपेक्षा वर्णन होता है जो पदार्थ स्वकीय द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा अस्ति रूप है वही पदार्थ, पर द्रव्य क्षेत्र काल.भाव की अपेक्षा नास्ति रूप है। प्लेट फार्म का टिकिट प्लेट फार्म पर ही अस्ति रूप है। ट्रेन मे नास्ति रूप है। ट्रेन के टिकिट का द्रव्य जुदा है और प्लेट फार्म के टिकिट का द्रव्य जुदा है। पिछली तारीख का टिकिट पास मे रहने पर भी अगली तारीख के दिन नास्ति रूप हो जाता है क्योंकि उसका काल बदल गया। छोटी लाइन का टिकिट बडी लाइन मे नास्ति रूप हो जाता है क्योंकि उसका क्षेत्र बदल जाता है। तृतीय श्रेणी का टिकिट द्वितीय और प्रथम श्रेणी मे नास्ति रूप माना जाता है क्योंकि उसका भाव पृथक् पृथक् होता है। साख्य दर्शन पदार्थ को कूटस्थ नित्य मानता है और बौद्ध-दर्शन पदार्थ को क्षणिक मानता है। अनेकान्त का कहना है कि पदार्थ द्रव्य दृष्टि से नित्य है और पर्याय दृष्टि से अनित्य है। ग्राम मे रूप, रस, गन्ध और स्पर्श है पर क्या सबके प्रदेश जुदे-जुदे है? नही, तब फिर ग्राम को चार रूप मानने की क्या ग्रावश्यकता है? अभेद दृष्टि से रूप, रस, गध, और स्पर्श एक है परन्तु रूप, रस, गन्ध और स्पर्श यदि एक है तो एक ही इन्द्रिय के द्वारा सबका ग्रहण क्यो नही होता? चार गुणो को जानने के लिये चार इन्द्रियो की ग्रावश्यकता क्यो पडती है? इससे जान पडता है कि रूपादि चारो भिन्न-भिन्न है। मनुष्य दो पैरो से चलता है परन्तु

एक को आगे रखता है और एक को पीछे। वह एक पैर स नही चल सकता और दोनो पैरो से एक साथ भी नही चल सकता। इसी प्रकार दुनिया भी द्विनया है दो,-नयो की अपेक्षा रखती है परन्तु एक को प्रधान और दूसरे को गौण रख कर चलती है। अनेकान्त जैनागम का प्राण है। इसके दूर हो जाने पर जैनागम निष्प्राण-मृत हो जावेगा यह अनेकान्त समस्त नयो के पारस्परिक विरोध को दूर करने वाला है। वक्ता, श्रोता की आवश्यकतानुसार पदार्थ का प्रतिपादन करे और श्रोता, वक्ता की नय विवक्षा को समझ कर उसे ग्रहण करे तो समस्त विरोध क्षणभर मे पलायमान हो जावे। अनेकान्त कहने सुनने की ही वस्तु नही है किन्तु जीवन मे उतारने की वस्तु है। आज की जनता अनेकान्त की चर्चा तो करती है पर जीवन मे नही उतारती। इसीलिये पद पद पर सघर्ष दिखाई देता है।

अपरिग्रह :

ससार के प्रत्येक मनुष्य के सामने भोजन, वस्त्र और आवास की समस्याए मुहबाये खडी हुई है। इन समस्याओ का समाधान परिग्रह के द्वारा ही होता है इसलिए ससार का प्रत्येक प्राणी इसके पीछे पडा है। मनुष्य दीर्घदर्शी प्राणी है। अत वह दूर की भी सोचता है। वह उस परिग्रह का सग्रह कर अपने दूर भविष्य को भी सुखमय बना लेना चाहता है। अपना ही नही अपनी सतान के भविष्य को भी सुखमय बनाने की इच्छा से वह रात दिन परिग्रह के सग्रह मे सलग्न रहता है। इसके विपरीत दूसरी विचार धारा यह है कि एक ही स्थान पर आवश्यकता से अधिक परिग्रह का सग्रह यदि होता है तो उसके बिना अन्यत्र कठिनाई का अनुभव होने लगता है। इसलिये किसी एक स्थान पर अनावश्यक सग्रह अनुचित है। मनुष्य का शरीर क्रियाशील तभी तक रहता है जब तक उसके समस्त अ गो मे खून का सचार होता रहता है जिस अ ग मे खून का सचार नही होता वह अ ग बेकार हो जाता है और जहा आवश्यकताओ से अधिक खून एकत्रित हो जाता है वहा वह विकार उत्पन्न कर देता है। इसी प्रकार परिग्रह का आदान प्रदान जब तक होता रहता है तब तक सबका निर्वाह ठीक रीति से चलता रहता है परन्तु इसके विपरीत यदि परिग्रह एक स्थान पर रुक जाता है तो उसके बिना दूसरे स्थान पर कठिनाई आने लगती है गरीबी और बेकारी दिखने लगती है। भगवान महावीर स्वामी ने कहा कि यदि गृहस्थ मानव को परिग्रह आवश्यक है तो वह आवश्यकता से अधिक परिग्रह का सग्रह न करे आवश्यकता के अनुसार उसका परिमाण निश्चित कर ले। साधु सस्था का निर्वाह भी यद्यपि परिग्रह के द्वारा ही होता है तथापि वह उसके स्वामित्व से दूर रहती है। यह उसके हित के लिये उत्तम बात है।

स्वतन्त्रता :

भगवान महावीर ने कहा कि ससार का प्रत्येक प्राणी आत्म कल्याण के लिये स्वतन्त्र है। कोई किसी को कुछ देता है या लेता है, यह सभव नही है। चौरासी लाख योनियो मे भ्रमण करने वाला प्राणी कालान्तर मे सिद्ध परमेष्ठी बन सकता है। किसी को कोई सिद्ध बना देता हो, ऐसी बात नही है। अपने पद के अनुरूप धर्माचरण कर प्राणी ससार सागर से पार हो सकता है। अन्य मतो के अनुसार ईश्वर ही प्राणी को नरकादि योनियो मे भेजता है, यह बात जैनधर्म सम्मत नही है। जैनधर्म की विशेषता है कि वह ईश्वर और जीवात्मा के बीच खाई को स्वीकृत नही करता। वह ऐसे ईश्वर को स्वीकृत नही करता जो अनादि शुद्ध हो तथा सबका कर्त्ता धर्त्ता हो। जैनधर्म मानता है कि द्रव्य दृष्टि से ससार के सब

जीव समान है और अपनी अपनी साधनाओ से सभी-जीव ईश्वर बन सकते है। ईश्वर का अर्थ है शुद्ध आत्मा। समारस्थ आत्मा राग, द्वेष, काम, क्रोध आदि विकारी भावो से अशुद्ध हो रहा है। यदि इन विकारी भावो को अलग कर दिया जावे तो यह आत्मा ही ईश्वर हो जाता है। पत्थर से मूर्ति बनती है पर उसमे बाहर से क्या आता है ? पत्थर के ऊपर जो अनावश्यक अश कुशल कारीगर अपने छैनी और हथोडो के प्रहार से अलग करता जाता है। जब सब अनावश्यक अश अलग हो जाते है तब पत्थर मूर्त्ति रूप मे परिणत हो जाता है। इसी प्रकार आत्मा के ऊपर जो रागादिक विकारी भाव लग रहे है, उन्हे भेद विज्ञान रूप छैनी और हथोडा की चोट से अलग कर दिया जावे तो आत्मा तत्काल ईश्वर बन सकता है। जैनधर्म के समान द्रव्य स्वतन्त्रता का वर्णन अन्यत्र नही मिलता।

आइये, महावीर जयन्ती की पुण्य बेला मे हम उनका स्मरण कर उनके उपर्युक्त सिद्धान्तो का प्रचार करे।

महावीर वाणी

जो मनुष्य अपना हित चाहता है, वह पाप को बढाने वाले क्रोध, मान, माया, और लोभ इन चार दोषो को सदा के लिए छोड दे।

—श्री सीवनकर

महावीर का अहिंसा दर्शन

—प्रो० उदयचंद जैन
प्राध्यापक, काशी हिन्दू विश्व विश्वविद्यालय
वाराणसी

"अहिंसा का सार तथा महत्त्व इतना ही है कि सब प्राणियों से मैत्री भाव रखो। किसी को अपना शत्रु मत समझो। राग द्वेष आदि अंतरंग शत्रुओं पर विजय प्राप्त करो तथा आसन, शयन, भोजन गमनादि प्रत्येक क्रिया सावधानी पूर्वक करो।"

विश्व के इतिहास मे ईसापूर्व छटी शताब्दी चिरस्मरणीय रहेगी। उस समय लोगो के मन मे प्रचलित धर्म के प्रति तरह तरह की शकाएं उठ रही थी। वह आध्यात्मिक अशान्ति का युग था। मनुष्य जन्म, जरा, मरण आदि के दुखो से छुटकारा पाने का साधन खोज रहे थे। वे ऐसे पुरुष की प्रतीक्षा मे थे जो उन्हे मोक्ष का मार्ग बतलाता, जो सासारिक दु.खो से उन्हे बचाता और जो धर्म के उच्च आदर्श को उनके सामने रखकर उन्हे कल्याण का पथिक बना देता। ऐसे समय मे भगवान् महावीर ने इस पवित्र भारत भूमि पर जन्म लिया था। उनके पिता लिच्छवी गणतन्त्र के प्रधान राजा सिद्धार्थ थे। और उनकी माता त्रिशला वज्जियो के प्रजातन्त्र के प्रमुख राजा चेटक की पुत्री थीं।

महावीर क्षत्रिय राजकुमार थे। उन्हे किसी बात की कमी न थी, सब प्रकार के सुख-साधन उपलब्ध थे। किन्तु महावीर का चित्त बाल्यकाल से ही सासारिक विषयो की ओर नही था। वह तो

चाहते थे कि किस दिन में वह शक्ति प्राप्त करू जिससे ससार के समस्त प्राणियो का कल्याण हो। उस समय हिसा का सर्वत्र बाहुल्य था । विचारे निरपराध पशु धर्म के नाम पर यज्ञो मे होमे जाते थे। पशुग्रो के ग्रतिरिक्त मनुष्यो को भी यज्ञो मे होमा जाता था। ग्रश्वमेघ ग्रौर नरमघ यज्ञो का ग्रातक छाया हुग्रा था। इस प्रकार की घोर हिसा से महावीर की ग्रात्मा तिलमिला उठी । ग्रत महावीर ने ग्रपने जीवन का प्रथम उद्देश्य मानव मात्र को ग्रहिसा का ग्रमूल्य सन्देश देना ही बनाया। इसी कारण सासारिक सुख तथा राज्य वैभव के प्रलोभन मे न पडकर उन्होने ग्रपने जीवन के तीस वर्ष ब्रह्मचर्य पूर्वक घर मे ही बिता दिये । यदि महावीर चाहते तो राजसत्ता के द्वारा भी हिसा का विरोध कर सकते थे, किन्तु ऐसा करना उन्होने उचित नही समझा। क्योकि ग्रादेश की ग्रपेक्षा उपदेश का प्रभाव ग्रधिक स्थायी ग्रौर मर्मभेदी होता है। इसलिए महावीर ने उपदेश के द्वारा ही ग्रहिसा का सन्देश देने का निश्चय किया। परन्तु उपदेश के लिए साधना ग्रौर शक्ति की ग्रावश्यकता होनी है। इसी शक्ति को प्राप्त करने के लिए महावीर ने घोर जगल मे जाकर कठिन से कठिन तपस्या की। बारह वर्ष की कठोर साधना के बाद उन्होने ग्रात्मज्ञान (केवल ज्ञान) को प्राप्त कर लिया। ग्रब महावीर भगवान् हो गये ग्रौर सर्वज्ञ, केवली, तीर्थकर इत्यादि कई नामो से पुकारे जाने लगे। उन्होने राग, द्वेष, काम, क्रोध ग्रादि ग्रन्तरङ्ग शत्रुग्रो पर पूर्ण विजय प्राप्त कर ली थी। इसीलिए वे जिन तथा वीतराग कहलाने लगे। उनकी दृष्टि मे ससार के सब प्राणी समान थे, ऊच-नीच का कोई भेद नही था। मनुष्य ही नही, पशु-पक्षी भी उनका उपदेश सुनते थे। उनके ग्रहिसामय जीवन का ऐसा माहात्म्य था कि सिह, गाय, बिल्ली-चूहा जैसे विरोधी प्राणी भी ग्रपने ग्रपने विरोध को छोडकर ग्रौर एकसाथ बैठकर धर्मोपदेश श्रवण करते थे।

भगवान् महावीर के उपदेश मे मुख्य बात ग्रहिसा की ही रहती थी। उन्होने 'ग्रहिसा परमो धर्म' का पाठ ससार को पढाकर विश्व के सामने ग्रहिसा के उच्च ग्रादर्श को रक्खा था। जब सबको ग्रपना ग्रपना जीवन प्रिय है तब क्यो न हम ग्रपने ही समान दूसरे प्राणियो के जीवन की रक्षा करे। उन्होने कहा कि तुम जियो ग्रौर दूसरो को जीने दो, मास मत खाग्रो, शराब मत पियो, झूठ मत बोलो, चोरी मत करो, सयमी जीवन बिताग्रो ग्रौर ग्रावश्यकता से ग्रधिक सग्रह मत करो । इस प्रकार उन्होने क्षुद्र से क्षुद्र जीवधारी के प्रति ग्रात्मीयता प्रदर्शित करने का पाठ पढाया। ग्रहिसा का एक ग्रलौकिक ही चमत्कार होता है । ससार के सब प्राणी सुख चाहते है किन्तु सुख के मूल ग्रहिसा को नही समझते है। ग्रहिसा के द्वारा हम इस पृथिवी को स्वर्ग बना सकते है ग्रौर हिसा के द्वारा इसी को नरक भी बना सकते है। प्रेम या ग्रहिसा ही वह शक्ति है जिसके द्वारा गाधी जी के रामराज्य की कल्पना सार्थक हो सकती है। ग्राज ससार को ग्रहिसा की महती ग्रावश्यकता है। यह वैज्ञानिक युग है। विज्ञान ने ऐसे साधन प्रदान किये है जिनके द्वारा यह ससार स्वर्ग बन सकता है तथा क्षणमात्र मे भस्मसात हो सकता है । हिसा या दमन मे विश्वास करने वालो को यह समझ लेना चाहिए कि हिसा से हिसा का प्रतिकार नही हो सकता है। महात्मा बुद्ध ने कहा था—

> नहि वेरेन वेरानि सम्मन्तीध कुदाचन।
> ग्रवेरेन च सम्मन्ति एस धम्मो सनन्तनो ॥

ग्रर्थात् इस ससार मे बैर से बैर कभी शान्त नही होते, ग्रबैर (मैत्री) से ही बैर शान्त होते है। यही सनातन धर्म है।

रूस के महात्मा टालस्टाय ने कहा था—"जिस प्रकार ग्रग्नि ग्रग्नि का शमन नही कर सकती उसी प्रकार पाप पाप का शमन नही कर

सकता।" ईसा ने भी कहा था—"पाप का प्रतिकार पाप से मत करो तथा जो तुम्हारे एक गाल पर चाटा मारे उसके सामने दूसरा गाल कर दो।"

इस प्रकार विश्व के सभी महापुरुषो ने अहिंसा का उपदेश दिया है। किन्तु महावीर ने द्रव्य हिंसा के त्याग के साथ ही भावहिंसा के त्याग पर भी जोर दिया था। उन्होने बतलाया कि आत्मा मे राग, द्वेष आदि की उत्पत्ति होना हिंसा है और इस हिंसा से बाह्य मे हिंसा न होने पर भी आत्मा का घात होता है। अत: आत्मा मे राग, द्वेष, क्रोध आदि की उत्पत्ति न हो ऐसा प्रयत्न सदा करना चाहिए तथा प्रत्येक क्रिया को यत्नाचार पूर्वक करना चाहिए। क्योकि जीवघात हो या न हो किन्तु अयत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति करने वाले को हिंसा का दोष निश्चित ही लगता है। इसके विपरीत यत्नाचार पूर्वक प्रवृति करने वाले को जीवघात होने पर भी हिंसा का दोष नही होता कहा भी है—

मरदु जियदु जीवो अयदाचारस्स
णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बन्धो हिंसामेत्तेण
समिदस्स।

सक्षेप मे अहिंसा का सार तथा महत्व इतना ही है कि सब प्राणियो से मैत्रीभाव रक्खो, किसी को अपना शत्रु मत समझो, राग, द्वेष आदि अन्तरङ्ग शत्रुओ पर विजय प्राप्त करो तथा आसन, शयन, भोजन, गमनादि प्रत्येक क्रिया सावधानी पूर्वक करो।

जो लोग अहिंसा के प्रति लाछन लगाते है कि यह कायरो का धर्म है अथवा अहिंसा कायर बनाती है वे अहिंसा के स्वरूप को ही नही समझते है। अहिंसा कायरो का नही, वीरो का धर्म है। महात्मा गांधी ने अहिंसा को अपना कर विश्व को दिखा दिया कि यदि समस्त विश्व मे सुख और शान्ति का साम्राज्य स्थापित करना है तो इसके लिए अहिंसा ही अमोघ अस्त्र है। गाधी जी पर महावीर की अहिंसा का बहुत प्रभाव पडा था। महावीर की अहिंसा इतनी व्यापक तथा सूक्ष्म है कि उसमे गृहस्थ मुनि आदि सब के लिए पृथक पृथक नियम तथा व्यवस्था है। राजाओ के लिए महावीर का आदेश था—

य: शस्त्रवृत्तिः समरे रिपु: स्यात्,
य कण्टको वा निजमण्डलस्य।
अस्त्राणि तत्रैव नृपा: क्षिपन्ति,
न दीनकानीनशुभाशयेषु॥

अर्थात् जो युद्ध मे शस्त्र लेकर युद्ध करने के लिए आया हो, अथवा जो अपने देश के लिए काटा हो, राजा लोग उसी पर शस्त्र चलाते हैं, दीन कायर, और सज्जनो पर नही। मुनि सब प्रकार की हिंसा का त्यागी होता है किन्तु गृहस्थ के लिए सकल्पी हिसा का त्याग करना ही आवश्यक होता है। वह गृहस्थी के सचालन तथा ससार यात्रा के लिए आरम्भी, उद्योगी और विरोधी हिंसा कर सकता है।

आज महावीर जयन्ती के इस पावन अवसर पर हमे आत्मालोचन करना चाहिए कि हमने जीवन मे महावीर की अहिंसा को कितना समझा है और उस पर कितना आचरण किया है। हम इस जीवन मे अहिंसा के महत्व को स्वय समझें तथा दूसरो को समझावे और इस प्रकार अपने जीवन को सार्थक करें।

अहिंसा परमो धर्म:
यतो धर्मस्ततो जयः।

भजन

रचयिता—सुश्री सुशीला कुमारी, वैद जयपुर

तर्ज—नेमजी की जान................

जयन्ती आई सुखकारी, मनाये खुशिया नरनारी

(१)

मा त्रिशला ने महावीर को जन्म दिया जिस काल
फैल रही थी जग मे हिंसा, और बहुत से पाप
शासक भी थे अत्याचारी। जयन्ती आई ....

(२)

देखा हिंसा ताण्डव जग का अकुलाये तब नाथ
दूर करन जीवो की पीडा, हुए सकल्पक आप
दिया फिर भाषण हितकारी। जयन्ती आई..........

(३)

अनेकांत औ स्याद्वाद औ मिला अहिंसा साथ
अपरिग्रह, जीवो जीने दो, दिये आपने नाथ
प्रजा तब हुई हर्षित सारी। जयन्ती आई..........

(४)

त्रिशलाप्यारे वीर प्रभु की, जय बोलो सब साथ
मुदित हृदय औ नमित भाव से, सब ही नाव माथ
खुशी है घर घर मे भारी, जयन्ती आई..........
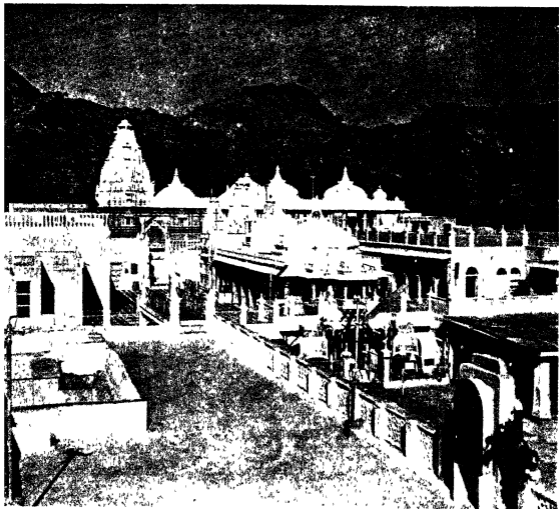
राजस्थान का प्रमुख जैन श्वेताम्बर तीर्थ-नाकोडा

जैनदर्शन का उदार स्वरूप

—श्री इंद्रमल जैन
एम ए , टोंक

"यदि हम 'ही' के स्थान में 'भी' का प्रयोग करके कहे कि हमारा कथन भी सत्य है तो हम मिथ्या विवाद और दुराग्रह से बच जावेंगे।

भगवान् महावीर समेत सभी तीर्थंकर केवली कहे जाते है। अर्थात् उन्हे ससार की समस्त वस्तुओं का पूर्ण ज्ञान था। किन्तु उन्होने किसी भी अन्य दार्शनिक के विचार को मिथ्या नही माना। 'षड् दर्शन समुच्चय' मे कहा गया है, 'अनेक धर्मात्मक वस्तु' अर्थात् वस्तु के अनेक धर्म होते है। हमारे वैचारिक सघर्ष का कारण यह है कि हम वस्तु के सभी धर्मों को नही देखते। हम उसके किसी एक धर्म को या उसके कुछ धर्मों को अर्थात् उसके आंशिक स्वरूप को देखकर उसी को सर्वांश सत्य कह देते है। इस प्रकार हम हठोचित करते है। दूसरे विचारक ने वस्तु का जो अन्य आंशिक स्वरूप देखा है, वह अपने उस दृष्ट स्वरूप को ही सर्वांश सत्य मानता है। इस प्रकार हम परस्पर एक-दूसरे के कथन को झुठला कर सघर्षरत हो जाते है। हम हठ करते है कि हमारा कथन 'ही' सत्य है। यदि हम 'ही' के स्थान मे 'भी' का प्रयोग करके

कहें कि हमारा कथन 'भी' सत्य है तो हम मिथ्या विवाद और दुराग्रह मे बच जावेंगे।

जैन दार्शनिक स्पष्ट रूप से कहते हैं कि अन्यान्य सभी दर्शन अपनी-अपनी दृष्टि से सत्य है। यही नही, वे तो यह भी परामर्श देते है कि हमे अपने कथन के साथ 'स्यात्' (शायद या सभावना) शब्द जोड देना चाहिए। ऐसा करने से हमारा कथन अत्यन्त उपयोगी, दोष-मुक्त तथा निर्विवाद (सघर्ष-रहित या अविरोधी) हो जावेगा। हम जानते है कि हमारे कथन प्रसग या दृष्टि की अपेक्षा से ही सत्य होते है। उदाहरणार्थ हमारी निम्नाकित उक्तिया लीजिए—

'इस चैत्र मास मे गर्मी अधिक पड गई है।'

'श्रीमती इन्दिरा गाधी प्रधानमन्त्री है।'

'छ फुट की लाठी तो बडी होती है।'

उपर्यकित उदाहरणों मे गत वर्षों के चैत्र मासो या फाल्गुन मास की अपेक्षा से ही पहली उक्ति सत्य है। दूसरी उक्ति भारत के प्रसग से सत्य है और तीसरी उक्ति ५ फुट आदि की लाठियो की अपेक्षा से सत्य है। अन्यथा चैत्र मास मे वैसाख से अधिक गर्मी नही पडी है, श्रीमती इन्दिरा गाधी सभी देशो की प्रधानमन्त्री नही है तथा छ फुट का लाठी ७ फुट की लाठी से बडी नही है। अत यदि हम उक्त तीनो वाक्यो के साथ 'स्यात्' शब्द जोड देते है या उसकी भावना कर लेते है तो हम अपने सत्य कथन को कह भी देंगे तथा अन्य जनो के सत्य कथन से टकरा भी नही जावेंगे। यही बात आत्मा ईश्वर, ससार आदि उच्च दार्शनिक विषयो के सम्बन्ध मे भी कहा जा सकती है। इसी को स्यात् + वाद = 'स्याद्वाद' कहा जाता है। पाश्चात्य दार्शनिक भी कथन के सत्य मे प्रसग की अपेक्षा को महत्वपूर्ण मानते है।

तार्किक लोग किसी वस्तु को स्वीकार या अस्वीकार ही प्राय कर सकते है किन्तु जैन दार्शनिको ने परामर्श के सात भेद निकाले है। उदाहरणार्थ कोई ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध मे परामर्श चाहता है, तो इस पर सात प्रकार का परामर्श निम्नाकित रूप मे दिया जा सकता है। प्रत्येक परामर्श के साथ 'स्यात्' शब्द भी जोडना चाहिए ताकि यह भी प्रकट हो जावे कि प्रत्येक परामर्श सापेक्ष रूप से ही सत्य है। वे ये है-(१) स्यात् ईश्वर है। (२) स्यात् ईश्वर नही है। (३) स्यात् ईश्वर है भी और नही भी है। (४) स्यात् ईश्वर अवक्तव्य है (या उसके सम्बन्ध मे कुछ नही कहा जा सकता)। (५) स्यात् ईश्वर है भी और यह विषय अवक्तव्य भी है। (६) स्यात् ईश्वर नही भी है और यह विषय अवक्तव्य भी है। (७) स्यात् ईश्वर है भी, नही भी है और यह विषय अवक्तव्य भी है। अस्ति, नास्ति, अस्ति च नास्ति च, अवक्तव्यम्, अस्ति च अवक्तव्य च, नास्ति च अवक्तव्य च, अस्ति च नास्ति च अवक्तव्य च।) इसे जैन दार्शनिक 'सप्त भगी-नय' (सात प्रकार का परामर्श) कहते है।

इसमे जैन दार्शनिकों का बडा उदार चिन्तन प्रकट होता है। वे दुराग्रह कदापि नही करते। वे जानते है कि कोई वस्तु किसी दृष्टि से 'है', किसी से 'नही' किसी से 'है भी और नही भी है' और 'किसी से अकथनीय है' आदि-आदि। इसका अर्थ यह नही समझा जावे कि जैन दार्शनिको को किसी विषय के ज्ञान मे सशय है। यह स्याद्वाद तो वस्तु की परिस्थिति और प्रसग की सापेक्षता का द्योतक है। आज ससार मे यदि इस दार्शनिक स्याद्वाद को समझ लिया जावे, एकान्तिक विधि वाक्यो के मोह मे न पडकर अनेकान्तता का अनुभव किया जावे, सापेक्षता के व्यावहारिक पहलू को ग्रहण किया जावे तो अनेक विवाद और सघर्ष स्वत शान्त हो सकते है।

क्रांति और भ्रांति के दो-राहे पर

—श्री चंदनमल जी चांद
व्यवस्थापक, भारत जैन महामण्डल, बम्बई

> "अन्धानुकरण ही यदि क्रांति कहलाती है तो फिर एक के पीछे दूसरी भेड के कुए में गिरने को क्या कहा जायगा। अतीत का ज्ञान वर्तमान की पहचान और भविष्य का आभास जिसकी आंखों में नही झलकता वह क्रांति की अपेक्षा भ्रांति की ओर बढ़ जाता है।"

विश्व भर मे विज्ञान की उन्नति और बौद्धिक विकास के कारण क्राति की एक तीव्र आधी चल रही है जिसमे युवा-वर्ग सबके आगे है। समाज से लेकर साहित्य और धर्म से राजनीति तक सभी क्षेत्रो मे क्राति का स्वर बुलन्दी पर है। सनातन से विरोध, परम्पराओ से बगावत, भूत के प्रति अनास्था, भविष्य के प्रति अविश्वास और वतमान से असन्तोष इस पीढी का घोषणा-पत्र है।

भारत मे लगभग पिछले सौ वर्षो से नकल और अन्धानुकरण की प्रवृति का बहुत विकास हुआ है। विशेषत.पश्चिमी जगत से आने वाली किसी भी नई वस्तु का अनुकरण यहा होने लगता है चाहे वह हिप्पी समाज की कल्पना हो या साहित्य का कोई वाद। मानसिक दासता की जडे इतनी गहरी बैठ चुकी हैं कि हम कठ फाड फाड कर स्वदेशाभिमान के गीत गाते है लेकिन उसकी भाषा अक्सर अग्रेजी होती है। पश्चिमी खान-पान, रहन-सहन, पहनावा, भाषा और साहित्य की भोडी नकल कर बड़े गर्व

से भारतीय समाज का बौद्धिक कहलाने वाला वर्ग स्वय को माडर्न, अप-टु-डेट एव प्रगतिशील समझने का दावा करता है। बडे-बडे बेतरतीब बाल, लम्बी-लम्बी जुल्फें, रग-बिरगी छापेवाली कमीजें और तग पेंटवाली वेशभूषा मे पतली टागो वाले नाजुक युवक एव मिनी-स्कर्ट मे सास लेने की कठिनाई अनुभव करते हुए भी बाब-कट युवतियो की टोलिया प्राय हर शहर मे देखने को मिल जाती है। इनका ज्ञान केवल अखबार तक ही सीमित है अथवा फिल्मी सितारो की जीवनचर्या, कुछ अधिक आगे बढे तो मार्क्स-और माम्रो के विचारो की पुस्तिकाए।

भारतीय समाज मे जैन समाज की वर्तमान स्थिति का अवलोकन करे तो इस हवा का प्रभाव बडी तेजी से उसके युवा-वर्ग पर भी पडता दिखाई दे रहा है। खान-पान, आचार-विचार और वेश-भूषा की जो सात्विकता जैन समाज के गौरव का विषय थी वह युवा वर्ग मे "आउट आफ डेट" घोषित हो चली है। धर्म की बात बुजुर्गो मानी जाने लगी है, मद्य-मास का सेवन, होटलो और क्लबो मे चल रहा है। घर मे माता-पिता रात्रि-भोजन तक नही करते किन्तु उनके ही जवान बेटे-बेटिया रात के १२ बजे तक क्लबो और होटलो मे बाल-डास करते या केबरे नृत्य देखते हुए शराब की चुस्कियो के बीच अण्डे और मास का सेवन करते देखे जा रहे है। धोती-कुर्ते का पहनावा गवारपन का सूचक बन चुका है, अब तो तग-मोहरी से भी आगे बेल-बोटम पेण्टो मे भी आज के युवक दिखाई दे रहे है। धर्म-स्थान और धर्मगुरुओ को वन्दन नमस्कार करना पोगापन माना जाने लगा है।

यह स्थिति क्राति के नाम पर चल रही है। सक्रामक रोग की तरह बढने वाली इस प्रवृत्ति का मूल कारण कालेजो की अधकचरी शिक्षा, श्रमरहित आय, स्वाधीनता के नाम पर प्राप्त उच्छृखलता और सिनेमा का प्रभाव आदि है। बडे घरो के लडको का प्रारम्भ मे ही अपनी सस्कृति से अपरिचित रह कर कान्वेन्ट स्कूलो मे पश्चिमी सस्कारो मे पलना भी इसका एक महत्वपूर्ण कारण है। बुजुर्ग बेवकूफ है, नये जमाने के अनुसार रहन-सहन एव तौर तरीके उन्हे पसन्द नही इसलिए वे रूढिवादी है, ऐसा आधुनिक जैन समाज का युवा-वर्ग सोच रहा है, और अपने अभिभावको को कोस रहा है। कुछ माता-पिता जो थोडे माडर्न होने का दम्भ भरते है, वे अपने बच्चो को इन नई हरकतो को प्रोत्साहन भी देते है और तथाकथित उच्च कहलाने वाले वर्ग की सोसायटियो मे उनको प्रवेश करने की दिशा भी बताते है।

पतन की राह बडी चिकनी होती है। उस पर यदि प्रलोभन के दो-चार धक्के और लग जाये तो फिर सम्भलना कठिन होता है। युवा-वर्ग क्राति की अन्धी-दिशा मे यह भूल जाता है कि बहुरगी कपडे पहनने, बाल बढाने, बन्दरो की तरह उछलकूद या हा-हा, हू-हू करने का नाम ही क्राति नही है, सुरा और सुन्दरी का सेवन कर भक्ष्य-अभक्ष्य का भान भूलना भी क्राति नही है और न क्राति अखबार की सुर्खियो अथवा माओवादी प्रचार साहित्य पढने मात्र से ही आती है। क्राति के नाम पर बसे जलाना, तोड फोड करना या अशिष्टता दिखाना भले ही सरल हो किन्तु क्राति की तेजस्विता स्वय के त्याग और बलिदान मे ही आती है।

परम्पराओ से विद्रोह करने के पहले परम्पराओ को समझना भी पडता है। अन्धानुकरण ही यदि क्राति कहलाती है तो फिर एक के पीछे दूसरी भेड के कुए मे गिरने को क्या कहा जायगा? अतीत का ज्ञान, वर्तमान की पहचान और भविष्य का आभास जिसकी आखो मे नही झलकता वह क्राति की अपेक्षा भ्राति की ओर बढ जाता है। गौरवपूर्ण अतीत, पुरखो के ज्ञान पूर्व अनुभव की विरासत का

आधार लेकर वर्तमान को सफल बनाने मे प्रयत्नशील युवक ही भविष्य मे क्राति के द्वार खोल पाता है।

जैन युवक वैज्ञानिक एव बौद्धिक धरातल पर पुरखो से प्राप्त जैन तत्व का अध्ययन कर यदि पश्चिमी साहित्य को देखे तो उसे पता लगेगा कि वह कहा भटक रहा है ? अहिसा और करुणा के सन्देश को हृदयगम कर सात्विक एव सयमी जीवन का कुछ दिन भी आस्वाद ले तो उसे लगेगा कि शराब, मास और विलास के कृत्रिम आवरण मे वह किस प्रकार अपनी शारीरिक, मानसिक एव बौद्धिक क्षमता नष्ट करता जा रहा है। पोशाक का अधनगापन या बहुरूपियापन छोडकर वह सादगी मे रहकर देखे तो फिजूलखर्ची और हास्यास्पद रूप से वह कितना दूर होता है।

जो कुछ पुराना है वह सब निकम्मा ही नही होता। सदियो के अनुभव से प्राप्त ज्ञान की तुलना अग्रेजी के चार अक्षरो मे नही की जा सकती। कितना दुख होता है यह देखकर कि पाश्चात्य विद्वान् भारतीय सस्कृति, सभ्यता और धर्म के प्रति श्रद्धाभाव स आकृष्ट हो रहे है किन्तु हमारे समाज का युवावर्ग उल्टी दिशा मे पाश्चात्य जीवन की कृत्रिमता मे जीने के नाम पर मृत्यु की ओर बढ रहा है।

जैन समाज का युवा वर्ग बुद्धिमान, हृदयशील, परिश्रमी एव निपुण होते हुए भी क्राति, प्रगति या एडवास बनने की धुन मे आखे बन्द कर जिस प्रकार पतन की चिकनी राह पर फिसल रहा है उसमे यदि उन्होने स्वय की विवेक बुद्धि से अकुश नही लगाया तो निश्चित ही उन्हे पश्चाताप करना होगा। दूसरो के अनुकरण की अपेक्षा स्वय अनुकरणीय बनने की क्षमता का विकास हम क्यो न करें ?

युवा-वर्ग के दोनो पक्षो युवक और युवतियो से अत्यन्त नम्र निवेदन करना चाहता हू कि वे अपनी इस अन्धी दौड मे एक क्षण के लिए विराम लेकर सिंहावलोकन करें कि वे कहा थे, कहा है और कहा जा रहे है। गति का कोई महत्व नही, महत्व तो प्रगति का है। कोल्हू का बैल दिनभर गतिशील रहता है फिर भी एक ही खू टे के चारो ओर चक्कर लगाता रह जाता है। वही गति एक निश्चित लक्ष्य से नियत मजिल की ओर हो तो प्रगति कहलाती है।

इसलिए युवा-वर्ग को आत्मचिन्तन करना चाहिए। जैन समाज के मध्यमवर्ग की टूटती हुई आर्थिक स्थिति, जन्म, मरण, विवाह पर होने वाले आडम्बरो की फिजूलखर्ची, श्रम और सस्कार-हीन शिक्षा, बढती फैशन-परस्ती, धर्म के प्रति अज्ञानभरी अनास्था, आचार-विचार का शैथिल्य, सस्कृति के ज्ञान का अभाव, आदि ऐसी अनेक व्याधिया जिस समाज मे आज तीव्रगति से बढ रही है उस समाज का युवावर्ग यदि झूठी क्राति के नारे लगाता है तो क्या वह सचमुच क्राति मे नही है ? **याद रहे क्राति बहुत महगी होती है। क्राति का बीज तभी फलता है जब उसमें श्रम की जुताई, शोणित का सिंचन, त्याग की बाढ़ और बलिदान को खाद दी जाती है।** जैन समाज मे क्राति की आवश्यकता है। सदियो से पड़े अन्धकार के आवरण को चीर कर जैनत्व की वह प्रकाश किरण जगत के सन्मुख लानी है जिसमे त्याग की निर्मलता, चरित्र की पवित्रता, हृदय की करुणा, ज्ञान की दीप्ति, श्रम का ओज, व्यवहार की सरलता, जीवन की सादगी और समाज की समता का आलोक भरता है।

जीवन पट

(श्रद्धेय स्व० पं० चैनसुखदास जी न्यायतीर्थ)

जीवन पट यह बिखर रहा है,
तन्तु जाल सब क्षीण हो गया,
सारा स्तभक तत्त्व खो गया
पल भर भी अब रहना इसमे,
भगवन् ! मुझको अखर रहा है। जीवन पट · ....

समोहन की मधुमय हाला,
पी-पीकर मैं था मतवाला,
नशा आज उतरा है अब तो,
जीवन मेरा निखर रहा है। जीवन-पट ....

मृत्यु लहर पर खेल रहा मै,
सब विपदाए झेल रहा मैं,
अन्तर्द्वन्द्व मचा प्राणो मे—
यह समीर मन मथित रहा है। जीवन-पट · ....

क्रोध

—श्रीमती शांता भानावत
एम ए, जयपुर

"क्रोधी व्यक्ति न केवल प्रीति का नाश करता है वरन स्वय के शरीर को भी जला डालता है। अग्नि तो मुर्दे को ही जलाती है पर क्रोध तो जीवित प्राणों को जला देता है। क्रोधी व्यक्ति सर्वैव अस्वस्थ और रुग्ण रहता है।"

क्रोध भी करुणा, लज्जा, लोभ, प्रीति, घृणा की ही भाति एक मनोविकार है जिसकी व्याप्ति मानव मे ही नही पशुओ तक मे देखने को मिलती है। सोते हुए कुत्ते पर पैर रख कर देख लीजिये वह भी आपकी पिंडी पकडे बिना नही रहेगा। क्रोध भाव की उत्पत्ति तब होती है जब व्यक्ति का स्वार्थ टकराता हो या उसे किसी प्रकार का कष्ट पहुँचता हो। तब कष्ट पहुँचाने वाले व्यक्ति पर क्रोध आता है। मन मे बदले की भावना घर कर जाती है। क्रोधाग्नि के शरीर मे प्रविष्ट होते ही क्रोधी व्यक्ति के ज्ञान चक्षु बन्द हो जाते है। उसके शुभ परिणाम नष्ट हो जाते है। उसका विवेक लुप्त हो जाता है। उसे कर्त्तव्याकर्त्तव्य का भान नही रहता। उसे स्वय का दोप दृष्टिगोचर नही होता। वह सामने वाले व्यक्ति को अपना शत्रु समझ बैठता है जिसे वह जीवित फूटी आखो नही देख सकता। क्रोधाभिभूत मानव चाकू मार कर या छुरा चला

कर, वह उसके लहू से अपने हाथ रग कर ही चैन लेता है।

क्रोध व्यक्ति के सदाचार को दूर कर उसे दुराचार की ओर प्रवृत्त करता है। छोटे मोटे स्वार्थों की पूर्ति नही होने देख व्यक्ति क्रोधित हो उठता है। उसकी हिसात्मक क्रूर प्रवृत्ति खडी बसो मे आग लगा देने तथा लूटपाट कर राष्ट्र की करोडो की सपत्ति मिनटो मे नष्ट करने को बाध्य कर देती है।

क्रोध व्यक्ति के पारिवारिक जीवन मे भी कभी कभी बडा अनर्थ कर डालता है। पति पत्नी मे जरा सी कहासुनी हो जाने पर पत्नी अपना विवेक खो बैठती है। कुए म गिर कर या आग की शरण लेकर अपनी जीवन लीला समाप्त कर देने मे ही अपने जीवन की सार्थकता समझती है। उसे न पीछे छोडे मासूम बच्चो के जीवन की चिन्ता रहती है न पति की परेशानियो की ओर उसका ध्यान जाता है।

एक ही परिवार मे रहने वाली सास, बहू, ननद भाभी के झगडे और उनसे उत्पन्न क्रोध भावना, क्रोधावेश मे उफनती हुई नारी का वह रौद्र रूप-लाल लाल आखे, चढी हुई भौंहे, फडकती हुई भुजाऐ गरजती हुई वाणी और विकृत मुख मुद्रा। किसी राक्षसनी से कम डरावनी नही होती है वह आकृति।

अवधि की दृष्टि से क्रोध के कई प्रकार हो सकते है। कुछ व्यक्तियो मे क्रोध भाव जीवन पर्यन्त बना रहता है तो कुछ मे थोडे समय तक रह कर समाप्त हो जाता है। इस आधार पर आचार्यो ने क्रोध को चार प्रकार का बताया है—

१. अनन्तानुबन्धी क्रोध :

यह क्रोध जीवन पर्यन्त बना रहता है और किसी भी उपाय मे शात नही होता। जैसे पर्वत के फटने पर पडी दरार कभी मिट नही सकती वैसे ही ऐसा क्रोध भी कभी नही मिटता तथा वैर भाव मे परिणत हो जाता है।

२. अप्रत्याख्यानावरण क्रोध :

यह क्रोध विशेष परिश्रम से शात हो जाता है। जैसे सूखे तालाब मे मिट्टी के फट जाने पर, पडी दरार वर्षा होने पर पुन मिल जाती है उसी प्रकार प्रयत्न करने पर यह क्रोध शात हो जाता है।

३ प्रत्याख्यानावरण क्रोध :

यह क्रोध थोडे प्रयत्न मे ही शात हो जाता है। जैसे बालू मे लकीर खीचने पर कुछ समय बाद हवा से लकीर वापिस भर जाती है। उसी प्रकार यह क्रोध कुछ समय स्थिर रहकर शात हो जाता है।

४ सज्वलन क्रोध

यह क्रोध शीघ्र ही शात हो जाता है। जैसे पानी मे खीची लकीर खीचने के साथ ही मिट जाती है वैसे ही यह क्रोध आते ही शात हो जाता है।

क्रोध कैसा ही हो जीवन के लिये घातक ही होता है। वह शुद्ध स्वरूपी आत्मा को कलुषित करता है। वह व्यक्ति के इहलोक और परलोक दोनो को बिगाडने वाला महान् शत्रु है। इसी क्रोध के वशीभूत होकर द्वीपायन ऋषि ने स्वर्गतुल्य सुन्दर द्वारिका नगरी को जला कर भस्म कर दिया था। और फिर स्वय भी भस्म हो गए थे। क्रोधित चण्ड कौशिक नाग की विष दृष्टि ने कितने ही हरित कानन उजाड दिये थे। यह क्रोधी नाग अपने पूर्व भव मे मुनि था पर शिष्य पर अत्यधिक क्रोध करने के कारण उसे सर्प योनि मिली।

क्रोधी व्यक्ति क्षण भर भी सुखी नही रह सकता। उसका कोई मित्र नही होता। दशवैकालिक सूत्र के आठवे अध्याय मे कहा है—

कोहो पीइ पणासेइ, माणो विणय णासई।

माया मित्ताणि रणासइ, लोभो सव्वविणासणो।

अर्थात् क्रोध प्रीति को नष्ट करता है, मान विनय को नष्ट करता है, माया मित्रता का नाश करती है और लोभ प्रीति, विनय, मित्रता आदि सभी का नाश करता है।

क्रोधी व्यक्ति न केवल प्रीति का नाश करता है वरन स्वय के शरीर को भी जला डालता है। अग्नि तो मुर्दे को ही जलाती है पर क्रोध तो जीवित प्राणी को ही जला देता है। क्रोधी व्यक्ति सदैव अस्वस्थ और रुग्ण रहता है। उसके ओठो पर अस्वाभाविक फडकन और आखो मे लाली सदैव छाई रहती है। इसीलिये कहा गया है कि शरीर को स्वस्थ तथा मन को स्वच्छ बनाये रखने के लिये क्रोध को जीतना आवश्यक है।

क्रोध को जीतने का एकमात्र साधन क्षमा है। क्षमा भावना से क्रोध शात होता है। क्षमा धारण से सहनशीलता गुण की वृद्धि होती है। सहनशीलता धारण करने पर क्रोध पास ही नही फटकता। क्षमाशील बनना कायरता नही, वीरता है। कहा भी है—

'क्षमा वीरस्य भूषणम्'

अर्थात् क्षमा वीरो का आभूषण है।

क्रोध जयी क्षमावीर का उत्कृष्ट उदाहरण भगवान महावीर है जिनके पैर के अगूठे को क्रोधित नाग चण्ड कौशिक काट खाता है पर उनके मुख मण्डल पर क्रोध की रेखा नही, न बेचैनी, न घबराहट, कितनी स्थिरता शान्ति और निर्भीकता ? क्रोधी ग्वाले के द्वारा कानो मे कीले ठोकने पर भी उनके मन मे न क्रोध की भावना थी और न पीडा की अनुभूति।

श्मशान भूमि मे ध्यानस्थ बैठे मुनि गजसुकमाल के सिर पर सोमिल द्वारा मिट्टी की पाल बांधकर दहकते अगारे डालने पर भी उन्हे किंचित क्रोध नही उन्हे तो था मोक्ष रूपी पगडी का आनन्द।

मूला सेठानी द्वारा दिये गये कष्टो से चन्दना को क्रोध नही आया। मु डित सिर, पैरो मे बेडियां, खाने को उडद के बाकले दिये जाने पर भी राजकुमारी को क्रोध नही, पश्चाताप नही। ये है हमारे क्रोध जयी वीर वीरागनाओ के आदर्श उदाहरण जिन्होने राजकुल मे जन्म लेकर भी दुनिया के महान् कष्टो को हसते-हसते सहा है, पर किसी पर क्रोध करके मन को मलिन नही बनाया।

पर आज की पीढी मे कहा है यह सहनशीलता ? आज घरो मे माताओ ने भी अपना विवेक खो दिया है। बच्चो को छोटी छोटी भूलो को वे प्यार से नही समझाती वरन् गालिया देकर मारपीट कर ही भूल-सुधार का उपदेश देती है। यही स्थिति पाठशाला की है। बच्चो की छोटी-छोटी गलतियो पर गुरुजी की छडी का शिकार बनना पडता है।

इस प्रकार बिना बात बच्चे पर क्रोध निकालने मे बालक भी क्रूर और हठी बन जाता है। छोटी छोटी बातो पर वह मा बाप पर क्रोध करने लगता है। उसका स्वभाव चिडचिडा बन जाता है। कई कई दिन घर से गायब रहने लगता है तथा कई बार घर पर खाना पीना भी बन्द कर देता है। बालक की यह क्रोधी प्रवृत्ति दिन प्रति दिन बढने लगती है। पडौसी साथी मित्रो से छोटी-छोटी बातो पर झगडा हो जाने पर वह कई बार हिंसक करतूते कर बैठता है। क्रोधाग्नि मे जलता बालक ही जब कल का नागरिक बनता है तब उससे स्व-पर हित की क्या आशा की जा सकती है। अतः हमे चाहिये कि क्रोधजयी आदर्श चरित्रो से प्रेरणा लेकर हम क्रोध को जीतें और सहनशील बनें। अपने बच्चो को भी सहनशीलता का गुण विरासत मे दें। ताकि व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन मे सुख शाति मैत्री सहयोग जैसी भावनाओ का प्रसार हो सके।

अन्तर्वेदना

(श्रद्धेय स्व० पं० चैनसुखदास जी न्यायतीर्थ)

(१)

सच कहता हू मैं न कभी, अभिमानी नाथ बनू गा।
मद विह्वल हो मेरे जैसे, दीनो को न हनू गा।

(२)

किन्तु किरण फैला दे अपनी, मेरे मानस तल पर।
विकल पडा हू शून्य बना मैं, चैन न पडती पल भर।

(३)

सारा क्षोभ इसी दुखिया पर, क्यो उतरा है स्वामिन् ?
मन न दिया शुभ तन न दिया, है क्या अन्तर्यामिन् ।।

(४)

उठने की सारी सुविधाएँ, नाथ छीन कर मुझको।
क्यो भेजा इस कर्मक्षेत्र मे, दया न आई तुझको ।।

(५)

कार्यभार है अन्तहीन, पर शक्तिहीन मै तो हू।
क्या न मुझे बल पौरुष दोगे, व्यथित क्लात मै तो हूँ।

(६)

बाहर औ भीतर लडने को, कुछ सुविधाएं तो दे।
या लिपटा ले सारा मुझको, अपने सुन्दर तन से ।।

(७)

कुछ मन औ तन मे क्षमता दे, जिससे अवनी तल पर।
धीरे २ चल कर आऊँ, तेरे पावन थल पर।।

(८)

'अह' जहां है रहूँ वहा मै, बस, अन्तिम अभिलाषा।
कर दे भगवन् पूरी मेरी, इस जीवन की आशा ।।

पुरुषार्थ—उसकी पृष्ठभूमि तथा जैन दृष्टि के अनुसार उसके स्वरूप की एक झलक

—श्री प्रवीणचंद्र शास्त्री
अध्यक्ष संस्कृत विभाग,
ज्ञान-विज्ञान महाविद्यालय, वनस्थली

जीव का ही दूसरा नाम आत्मा है। उसकी गतिशीलता को जीवन कहते है। जीवन का रहस्य ही अध्यात्म कहलाता है। यह रहस्य मानव को अन्तर्मुख होने पर अनुभूति के रूप मे प्रकट होता है। इस अनुभूति से हीन जीवन निरुद्दिष्ट रूप से भटकता रहता है। मानव भौतिकता से आबद्ध आत्मा है। उसे यह आबद्धता सदा ही असह्य रही है। इससे छूटने का प्रयत्न वह अनेक प्रकार से करता रहता है। इस प्रयत्न मे जहा उसे स्व-रूप का ज्ञान आवश्यक है वहा भौतिकता जो पर है, जिससे वह आबद्ध है, उसका रूप भी जानना आवश्यक है। भौतिकता के रूप का, पर-रूप का, ज्ञान भी आत्म-हित होने के कारण अध्यात्म बन जाता है। आत्मा की ओर उन्मुखता जिस प्रकार की चेतना को प्रकट करती है वह चेतना आध्यात्मिक चेतना कहलाती है।

'ऐसा व्यक्ति (सम्यक् दृष्टि) निश्चय ही संशयग्रस्त नहीं होता। प्रलोभनों या दबाव में नहीं आता। किसी प्राणी के प्रति तुच्छता या घृणा का भाव उसके मन में नहीं होता। वह सन्तुलित दृष्टिवाला या विवेकी होता है। सत्य के जिज्ञासुओं को वह अपना साधर्मी मानता है। उनके प्रति सहज स्नेह रखता है।"

आत्मा या जीव है या नहीं? अनात्मा या अजीव है या नही? जीव का विवर्त ही अजीव है या अजीव का द्वन्द्वात्मक परिणाम ही जीव है?

आत्मा यदि है तो वह एक है या अनेक ? वह सादि और सान्त है या अनादि और अनन्त ? वह कर्ता है या अकर्ता ? वह भोक्ता है या दर्शक मात्र ? ऐसे अनेक प्रश्न है जो विश्वभर के मानवो के सामने सदा आते रहे है । विचारको को ये प्रश्न उलझाते रहे है, उनको लेकर एक प्रकार का सघर्ष या मन्थन उनके अन्तर्जगत् मे होता रहा है । साथ ही यह भी एक तथ्य है कि इस मन्थन से उन्हे सजीवनी शक्ति मिली है, उन्हे परितोप और सुख मिला है और आगे बढे तो निर्वाण भी मिला है, जिसे परम पद, कैवल्य, ब्राह्मी स्थिति, स्थित प्रज्ञता आदि अनेक नामो से व्यक्त किया गया है । इन नामो की परिभाषाए अनेक दृष्टियो से अनेक रूपो मे सामने आयी है । इनका वर्गीकरण भी हुआ है । इन सब की प्रसूति मानव की आध्यात्मिक चेतना से हुई है । चाहे फिर उससे भौतिकता का पोषण हुआ है, चाहे आध्यात्मिकता का और चाहे दोनो का । इस चेतना मे ही एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठा, जिज्ञासा हुई--पुरुषार्थ क्या है ? दूसरे शब्दो मे, मानव जीवन का उद्देश्य क्या है ? यह बडा महत्त्वपूर्ण प्रश्न है । एक विचारक का उत्तर जब एक वर्ग या समष्टि का उत्तर बन गया तो वह धर्म या दर्शन का रूप पा गया । इस प्रकार से विश्व मे अनेक धर्म बने, बन रहे है और बनते रहेगे । आत्मा को न मानकर भौतिकतानिष्ठ अध्यात्म का विकास एक रूप मे और उसे मानकर आत्मनिष्ठ अध्यात्म का विकास दूसरे रूप मे हुआ । जो धर्म आत्मनिष्ठा से विकसित हुए है उनमे जैन धर्म का महत्त्वपूर्ण स्थान है । पुरुषार्थ क्या है ? इस प्रश्न का जो उत्तर इस धर्म ने दिया है उसी की एक झलक अपनी भाषा मे प्रस्तुत करने का प्रयत्न यहा किया जायगा ।

पुरुष शब्द से यहा अभिप्राय उस मानव आत्मा से है जो तात्त्विक दृष्टि को प्रमुखता देकर उसे अपने आचरण मे व्यवहृत करना चाहता है, करता रहता है । पुरुष का पौरुष यह है कि वह उसे इस सकल्पमयी स्थिति मे रखे । इस सकल्प से वह जीवन के प्रयोजन को जानकर, समझकर, आगे बढता है । यह प्रयोजन क्या है ? ज्ञान, केवल ज्ञान ही प्रयोजन है । ज्ञान किसका ? उसका जो इन्द्रिय गोचर है और उसका भी जो इन्द्रियातीत है । इन्द्रिय गोचर तो अजीव है और इन्द्रियातीत है जीव । उन दोनो के स्वरूप को यथावत् जानने से ही उसका अर्थ या प्रयोजन सिद्ध होता है । जब दोनो के स्वरूप का ज्ञान हो जाता है तो जीव अजीव से आबद्ध क्यो रहता है इस पर विचार चलता है । कर्म क्या है वह कैसे प्रभावी होता है इन प्रश्नो की मीमासा होती है । यही आस्रव और बन्ध की मीमासा है । यह आबद्धता, जैसा ऊपर कहा गया है, मानव को प्रिय नही है, इससे उसे जो अनुभूति होती है वह दु खात्मक है । इस अनुभूति के विश्लेषण मे उन सारे दु खो का जिन्हे आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक अथवा एक शब्द मे प्रतिकूल वेदनीय कहा गया है विवेचन आरम्भ होता है । इस विवेचना का रचनात्मक पक्ष है दु खो से छूटने के उपायो या मार्गो पर विचार । यह विचार या मीमासा है सवर और निर्जरा की मीमासा । जब मानव दु ख का रहस्य या अध्यात्म जान लेता है और उसके प्रतीकार के उपाय से अभिज्ञ हो जाता है तब स्वभावत उसका चरित्र विकार हीन होता जाता है । लौकिक दृष्टि से इस प्रकार के चरित्र को पुरुषार्थ भी कहा गया है । पर यह आरोपित अर्थ है । पुरुषार्थ तो ज्ञान की प्राप्ति ही है । ज्ञान का चरम उत्कर्ष आत्मा को अनात्म के, अजीव के, बन्धनो से मुक्त कर देता है । शरीर की स्थिति रहते हुए भी वह उससे उन्मुक्त हो जाता है । इस विषय की मीमासा मोक्ष की मीमासा है ।

पुरुषार्थ के प्रसग मे जैनधर्म ने मध्यममार्गी दृष्टि को आवश्यक माना है । इस दृष्टि को आज की भाषा मे सापेक्षिकता की या समन्वय की दृष्टि

कहा जा सकता है । जैनदर्शन मे इसे स्याद्वाद या अनेकान्त नाम दिया है । इसमे न तो भौतिकता को लेकर अतिवाद है और न आध्यात्मिकता को लेकर भौतिकता का नास्तिवाद । इसके अनुसार आत्माए अनादि और अनन्त है । अजीव भी अनादि और अनन्त हैं । जीव और अजीव दोनो ही सत् हैं । उनके सहायक द्रव्य हैं धर्म, अधर्म, आकाश और काल । इस प्रसग मे धर्म और अधर्म से पुण्य और पाप का साक्षात् अभिप्राय नही है । ये ऐसे द्रव्य है जो जीव और अजीव दोनो की गति और स्थिति मे सहायक है । आकाश इन्हे अपनी स्थिति के लिए, परिणमनो या परिवर्तनो के लिए अवकाश देता है तो काल उन परिणमनो मे सहायक होता है । सत् की परिभाषा बौद्धो ने क्षणिकता से और वेदान्तियो ने शाश्वतिकता से की है । जैन दृष्टि मे ये दोनो अतिवाद है । उसके अनुसार सत् वह है जो शाश्वत होते हुए भी रूप परिवर्तन करता रहता है । एक दृष्टि से वह शाश्वत है तो दूसरी दृष्टि से वह उत्पन्न और नष्ट भी होता रहता है । सत् की इस परिभाषा के औचित्य को सिद्ध करने के लिए सकलादेशी (वस्तु के सम्पूर्ण स्वरूप को बताने वाले) प्रमाणों (प्रत्यक्ष और परोक्ष) तथा विकला देशी (अपेक्षा विशेष से वस्तु के सम्पूर्ण स्वरूप के अविरोधी अपेक्षित अश को बताने वाले) नयो की चर्चा हुई । अनेकान्त का समन्वयात्मक विचार सामने आया । दृष्टि भेद और वैचारिक भेद को रचनात्मक दृष्टि से मान्यता दी गयी । एकाग्रह को मिथ्यात्व और एकानाग्रह को सम्यक्त्व कहा गया । यह बताया गया कि सम्यक्-मिथ्यात्व सम्यक्त्व का ही अश है । सत्य की शोध के लिए निष्ठा के साथ किये गये रागद्वेषविहीन किसी भी प्रयत्न से उद्भूत कोई भी विचार सम्यक्त्व मे समाविष्ट हो सकता है । सम्यक् मिथ्यात्व मे मानव की शारीरिक और मानसिक सीमाओ का स्वीकार है । ये सीमाए पदार्थों के पूर्ण स्वरूप की एक साथ अभिव्यक्ति में बाधक होती हैं । दूसरे शब्दो मे, भाषा की अशक्तता को स्वीकार करके वस्तु को अनिर्वचनीय या अनन्तरूपात्मक मानना तथा अनिर्वचनीय होते हुए भी उसे कथचित्वचनीय मानना सम्यक्त्व कहलाया । वस्तु की शाश्वतिकता तथा उसकी उत्पत्ति एव विनाश को परस्पर विरोधी न मानकर उसके स्वरूप की व्याख्या बताया । इस प्रकार जैन दृष्टि मे उन सारी विविधताओ को स्थान मिल गया है जो ज्ञेय होते हुए भी अनिर्वचनीय हैं ।

दु ख-निरोध के उपायो मे जैन दर्शन ने सम्यक् दृष्टि को आधारभूत उपाय बताया है । सम्यक् दृष्टि से ही सम्यक् ज्ञान हो सकता है और इस ज्ञान के पथिक का आचरण सम्यक् चारित्र्य कहलाता है । विचार के क्षेत्र मे ज्ञान का और भावना के क्षेत्र मे चारित्र्य का सही दिशा मे विकास सम्यक् दृष्टि से ही सम्भव है । सम्यक् दृष्टि वाला मानव, स्पष्ट है, सत्य मे आस्थावान् होता है (तत्वार्थ या सत्य मे आस्था को सम्यक् दर्शन कहा गया है ।) ऐसा व्यक्ति निश्चय ही सशयग्रस्त नही होता । प्रलोभनो या दबाव मे नही आता । किसी प्राणी के प्रति तुच्छता या घृणा का भाव उसके मन मे नही होता । वह सन्तुलित दृष्टि वाला या विवेकी होता है । सत्य के जिज्ञासुओ को वह अपना साधर्मी मानता है । उनके प्रति सहज स्नेह रखता है । किसी भी कमजोरी से कोई सन्मार्ग से विचलित होता दीखे तो वह उसे कारुण्य भाव से पुन सत्पथ पर लाने का यत्न करता है, तथा सत्य की प्रभावना या प्रसार करता है । सम्यक् दृष्टि के इन गुणो को अथवा चारित्रिक विशेषताओ को जो शब्द दिये है वे ये है--

निःशकित, नि.काक्षित, निर्विचिकित्सता, अमूढ़ दृष्टि, उपवृ हण वात्सल्य, स्थिरीकरण और प्रभावना ।

सम्यक् दृष्टिवाला मानव अपने ज्ञानमय स्वरूप की अनुभूति प्राप्त करना चाहता है। प्राप्ति के प्रयत्न मे वह अपने आचरण मे तप और त्याग दोनो का समावेश करता है। तप मानव के काय-दोषो को जलाता है तो त्याग उसे अपने मार्ग से विचलित होने से रोकता है। तप और त्याग के प्रसग मे ही कायक्लेश, परिषहजय तथा व्रतो की चर्चा आती है। कायक्लेश इन्द्रियो को जीतने के लिए, जितेन्द्रिय बनने के लिए किया जाता है। जो भी बाधाए या कष्ट आए उनको सहन करने को परीषहजय कहा जाता है। अहिसा, सत्य अचौर्य, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य इन पाँच व्रतो की साधना त्याग कहलाती है। यह त्याग थोडे से आरभ होकर क्रमश बढता जाता है।

इस विवेचना का प्राप्तव्य है जैन दृष्टि मे पुरुषार्थ का स्वरूप। मानवो मे पुरुषत्व है उनकी आस्था (तत्वार्थश्रद्धान)। आस्थावान् मानवो का, पुरुषो का लक्ष्य है अपने स्वरूप का ज्ञान जिसके लिए आवश्यक है तदनुकूल आचरण जो निश्चय ही त्यागमय और तपोमय होगा। पुरुषार्थ के रूप मे ज्ञान के विषय मे आचार्यो ने कहा है--

ज्ञानमात्मा (ज्ञान आत्मा है।)

आत्मा ज्ञानम् (आत्मा ज्ञान है।)

न हि ज्ञानेन सदृश पवित्रमिह विद्यते।

(मानव भव मे ज्ञान से अधिक पवित्र और कोई लक्ष्य नही है।)

जीवन के किसी भी क्षेत्र का ले उसमे सफलता के लिए मानव मे आस्था, ज्ञान और तदनुकूल त्याग एव तपोमय आचरण आवश्यक होता है। सफलता का रहस्य इन तीनो के अध्यात्म मे निहित है। यह रहस्य शाश्वत है इसलिए इसकी उपयोगिता भी शाश्वत है। युग युग मे इनके रूप बदलते है, पर इनकी शाश्वतिकता, ध्रुवता नष्ट नही होती। किसी भी सफल पुरुष या महापुरुष की जीवनी मे इस अध्यात्म का दर्शन किया जा सकता है।

भगवान् महावीर की जयन्ती के अवसर पर मिली प्रेरणा से ये पक्तिया लिखी जा सकी है। उनकी देशना मे पुरुषार्थ का जो स्वरूप प्रकट हुआ, परम्परा से जैसा वह मिला और फिर जैसे मेरे ज्ञान का अश बना उसकी एक झलक यहा प्रस्तुत हो सकी है। मेरी समझ मे पुरुषार्थ का यह स्वरूप सार्वभौम और सार्वकालिक है। मानव इतिहास मे जो परिवर्तन या जीवन घटनाए मिलती है वे परस्पर विरोधी नही है किन्तु उसके अनिर्वचनीय स्वरूप की ही विविध व्याख्याए है। उन सबसे तथा फिर भी जो बचता है उसके मिलने से ही पुरुषार्थ का स्वरूप बनता है। उसके रहस्य को जानना और अपने अपने कार्य क्षेत्र के अनुसार उस ज्ञान को आचरण मे लाना प्रत्येक पुरुषार्थी के लिए आवश्यक है, उसकी मानसिक या आर्थिक स्थिति कैसी भी हो इस ज्ञान से जीवन मे आशा का सचार होता है जो उसे गतिशील बनाये रखती है। निराशा से कुठाए बढती है, म्लानता आती है, व्यक्ति की म्लानता समाज मे गदगी फैलाती है, सारा वातावरण विषाक्त और दूषित हो जाता है। इसके विपरीत आशावादी व्यक्ति सजीवता और स्वस्थता का विकास करता है जो परिणामत सामाजिक सजीवता और स्वस्थता के विकास का घटक हो जाता है। जैन दृष्टि मे ज्ञान का जो ऊचा स्थान है उसे सही ढग से समझना चाहिए, हमे विशेष रूप से जो उसके समर्थक है। यह स्पष्ट है कि ज्ञान और माया दो विभिन्न आधारो की अपेक्षा रखते है। ज्ञान मार्गी मायावी या कपटाचारी नही हो सकता इसलिए वह मिथ्यात्वी भी नही हो सकता। मेरी प्रार्थना और भावना है कि महावीर जयन्ती के इस पुनीत अवसर पर हम ज्ञान साधना की बात सोचे और उसके लिए जितना तथा जो भी प्रयत्न हो सके करते जाय।

जब जब होता नाश धर्म का

—सुशीला कुमारी बैद
एम ए, (उत्तरार्द्ध), धर्मालङ्कार
जयपुर

"उनके (महावीर के) उपदेश न केवल उस समय के लिये ही उपयुक्त थे वरन वे आज के समाज के लिये भी उतने ही महत्व-पूर्ण हैं। यदि इन सिद्धान्तों को आज भी जीवन में अपनाया जावे तो वे प्रकाश स्तम्भ बन हमें दिशा बोध करा सकते हैं।"

जब-जब इस वसुन्धरा पर आसुरी प्रवृत्तियाँ बढ जाती हैं, सत् पर असत् की विजय होने लगती है, समाज मे घोर अन्याय होने लगते है जनता मे त्राहि-त्राहि मच जाती है, धर्म सकट मे पड जाता है, शासक वर्ग अपनी ही स्वार्थ लोलुपता मे लिप्त रहता है, मानव मानव का दुश्मन बन जाता है, हिंसा व पाप की वृत्तिया अपनी चरम सीमा पर पहुँच कर अपने घने अ धकारसे समस्त दिशाओ को आच्छा-दित कर लेती है, तब-तब ही इस पृथ्वी पर किसी ऐसे महापुरुष का जन्म होता है जो अपनी जन्म जात प्रतिभा से व अपनी पीयूषवर्षिणी वाणी से व्याकुल व पीडित जनता को शीतल शान्ति प्रदान करता है और उस अज्ञान रूपी छाया के दलन के लिए ज्योतिर्मय पुञ्ज सूर्य का कार्य करता है।

ईसा से लगभग ६०० वर्ष पूर्व भारत वर्ष की भूमि मे इसी प्रकार की प्रवृत्तिया फैली हुई थी। ऐसे ही वातावरण मे भगवान महावीर ने चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र मे

प्रातः माता त्रिशला के गर्भ से कुण्डलपुर नामक ग्राम मे जन्म लिया । जन्म से ही भगवान वीर का हृदय दयार्द्र था, अपनी दयार्द्रता के कारण ही वे उन परिस्थितियो को देख तिल-मिला उठे और उन्हे नष्ट करने के लिए सलग्न हो गये। आपके सार्वजनिक प्रवचन अपने समय मे फैली हिंसा, साम्प्रदायिकता, जाति, कुल अभिमान, पारस्परिक सघर्ष और कलह आदि को नष्ट करने मे सर्वरोगहर औषधि का कार्य कर रहे थे।

भगवान महावीर ने धर्म के क्षेत्र मे मानव मात्र को समान अधिकार प्रदान किये । जीयो और जीने दो का नारा बुलन्द किया । हिंसा मे प्रवृत्त जनता को अहिंसा का उपदेश दिया और उन्हे बताया कि यदि जीवन मे सुख और शान्ति चाहते हो तो अहिंसा का सिद्धान्त अपने जीवन मे उतारो । अपने समान दूसरो को समझो। मन, वचन, काम से किसी को पीडा मत पहुँचाओ। स्वय सुख मे रहो और दूसरो को सुख से रहने दो। किसी भी प्राणी को कष्ट पहुँचाने का प्रयत्न मत करो।

अहिंसा के उपदेश के साथ ही वस्तु के ठीक-ठीक परिज्ञान के लिए विचारो मे अनेकान्त का उपदेश भी दिया। भगवान महावीर ने कहा कि यदि विचारो मे अनेकान्त नही तो समझिये कि हर क्षेत्र में झगडे की जड उपस्थित है । अनेक धर्म वाली वस्तु को सकुचित दृष्टि से देख ऐसा मत कहो कि वस्तु नित्य ही है या अनित्य ही है। प्रत्येक वस्तु को अनेकान्त की दृष्टि से देखो और समझो स्वत. सब समस्याओ का समाधान हो जायेगा। अपने वचनो मे 'ही' का प्रयोग कर ऐसा मत कहो कि वस्तु नित्य ही है वरन् उसके स्थान पर 'भी' का प्रयोग करो अर्थात् ऐसा कहो कि वस्तु नित्य भी है और अनित्य भी । इस प्रकार अनेकान्त की दृष्टि से भारत की तो क्या विश्व की समस्या हल हो सकती है।

इसी प्रकार वाणी मे स्याद्वाद जैसे अनुपम सिद्धान्त को ग्रहण करने का उपदेश दिया । स्याद्वाद का स्पष्ट अर्थ होता है किसी अपेक्षा से कहना। मै कहता हूँ वही सत्य है ऐसा कभी मत कहो वरन् अपना मत प्रस्तुत करते हुए दूसरा किस दृष्टिकोण से बात कहता है उसको भी समझो।

इनके अतिरिक्त भगवान महावीर ने अपनी आवश्यकता से अधिक वस्तुओ का सग्रह न करने का भी उपदेश दिया । इस प्रकार आज जिस समाजवाद का नारा उठाया जा रहा है, वही नारा ईसा से ६०० वर्ष पूर्व भगवान महावीर ने लगाया। यदि इस अपरिग्रह रूपी समाजवाद को जीवन मे अपनाये तो पू जीपति वर्ग व मजदूर वर्ग का तथा अमीर तथा निर्धन के बीच आज जो चौडी खाई है, वह स्वत ही समाप्त हो जाय। अन्यथा तो यह खाई दिन दूनी रात चौगुनी बढती ही जायेगी जिसके कारण गरीब और अधिक गरीब व अमीर और अधिक अमीर होता चला जायेगा। जिससे समाजवाद का नारा साकार न होकर कल्पना मात्र रह जायेगा।

अपने इन अनुपम उपदेशो से भगवान महावीर ने अज्ञानी व भ्रमित प्राणियो का दिशा बोध किया। उनके उपदेश न केवल उस समय के लिए ही उपयुक्त थे वरन् आज के समाज के लिए भी उतने ही महत्वपूर्ण है। अगर इन सिद्धान्तो को आज भी जीवन मे अपनाया जावे तो वे प्रकाश स्तम्भ बन हमे दिशा बोध करा सकते है।

महावीर की जीवन झांकी

—वि० उदयचंद्र जैन
प्रभाकर, शास्त्री, वाराणसी

"घृणा पाप से करो, पापी से कभी घृणा मत करो क्योंकि उसकी आत्मा पवित्र है, वह कभी भी पाप से दूर हो सकता है, पावन सरस हो सकता है अत: दूसरे के प्रति श्रद्धा के सुमन बरसाओ, हनन की भावना मत रखो।"

अभी हो एक आहट मिलती, एक योगी, महान् तपस्वी साधक के आने की प्रतीक्षा मे अन्धकार मे भटकती जनता करुणा मे उछल पडती, हृदय उत्तेजित हो उठता :—

अन्धकारे तमे घोरे, चिट्ठन्ति पाणिणो बहू।
को करिस्सइ उज्जोय, सव्वं लोयम्मि पाणिणं॥

"आज चारो ओर अन्धकार ही अन्धकार छा रहा है, भोली-भाली जनता अन्धकार मे भटक रही है। इस काल रात्रि का अन्त कब होगा और कौन सूर्य इस क्षितिज पर रश्मिया बिखेरता हुआ ससार को आलोकित करेगा।"

जन्म उत्सव की एक झाकी:—प्रकाश की किरण धनपति राजा सिद्धार्थ को प्राप्त होगी इन्द्र ने अवधिज्ञान से यह जानकर तत्काल बारह योजन की विशाल नगरी की रचना की। उसमे बहुत से सुन्दर-सुन्दर रत्न जडित मदिरो का निर्माण किया। नरनारियो के मन को मोहने वाले उपवन-सुवन, परिखायें आदि चारो ओर

बनाई । छह मास के प्रथम पक्ष से अधिपति सिद्धार्थ के राज भवन मे रत्नो की वृष्टि होने लगी, दासियां भी माता त्रिशला की सेवा मे सलग्न होकर अति ही आनद को प्राप्त होती और अपने को सौभाग्य शाली समझती। रात्रि के पिछले पहर माता त्रिशला को सोलह स्वप्न दिखाई देते हैं—सफेद हाथी, सफेद बैल, सिह, लक्ष्मी, दो सुन्दर पुष्पो की मालाएँ, चन्द्रमा, सूर्य, सुन्दर दो मीन, जल मे भरा स्वर्ण कलश, तालाव, समुद्र, सिहासन, देवो का विमान, धरणेन्द्र का भवन, रत्नो का ढेर और निर्धूम अग्नि । यह रात्रि आषाढ ६ की थी।

स्वप्नो को देखने के बाद त्रिशला रानी की नीद खुल जाती है' "इन देखे हुए स्वप्नो का फल क्या होगा।" इस बात की उत्कठा को लिए हुए रानी, राजा सिद्धार्थ के पास पहुँचती है और स्वप्नो का कारण पूँछने लगती हे। राजा सिद्धार्थ शास्त्र वेत्ता तो थे ही, अत उन्होने रानी के स्वप्न का सही फल बताया और कहा तुम एक महान् सौभाग्यशाली, बलवान, तेजस्वी, महान-गुणी, यशस्वी जगत् उद्धारक पुत्र की माता बनोगी, यही स्वप्नो का फल है।

घर मे नये प्रकाश के आने पर किसको खुशी नही होती है। राजा ही तो ठहरे, वे उन दिनो की प्रतीक्षा करने लगे।

समय आया । महावीर ने जिन्हे देखने को जनता की प्यासी आखे व्याकुल हो रही थी, राजप्रासाद मे चैत्र शुक्ल की त्रयोदशी के दिन जन्म लिया।

राजकुमार का विकास

इस महान् विभूति को स्कन्ध, शाखा, पत्र-पुष्पो की तरह बढ़ता हुआ देखकर माता-पिता ने 'वर्द्धमान' नाम से विभूषित किया। वर्द्धमान की महानता से माता-पिता के हृदय मे भविष्य की असीम कल्पनाये उत्पन्न होने लगती है। वर्द्धमान का विकासोन्मुख होना आदर्शता का सूचक, श्रेष्ठ जीवन का परिवेश याने गृहस्थ से भिन्न (मुनि अवस्था)। वर्द्धमान विचारो तथा भौतिक दुनियां की ओर बढने, फिर भी "स्वर्ण प्रभा के सौन्दर्य" पर, उच्च तथा पवित्र सस्कारो के भडार मे भौतिक युग की आंच कहा? सहज शौर्य और पराक्रम के आगे जडता, रुढिवादिता तथा अन्ध-विश्वास नही टिक पाते है। पराक्रम सफल होता है, परीक्षा का विचारक देव किशोर के रूप मे क्रीडादल मे सम्मिलित हो जाता हे। वह विकराल रूप बनाकर बालको को डराना चाहता है, कुछ तो डर कर भाग भी जाते है, पर वर्द्धमान कहा विच-लित होते है? वे अपने साहस का परिचय देते हैं। इसी क्षत्रियोचित महान् धैर्य-दृढता शौर्य और पराक्रम के कारण वे 'ससार' प्रसिद्ध 'महावीर' कहलाये।

वर्द्धमान के असाधारण ज्ञान की महिमा सुनकर सजय और विजय नामक दो ऋद्धिधारी मुनि कुछ शकाओ के समाधान के लिए उनके पास आए, किन्तु उनकी शकाओ का समाधान वर्द्धमान के दर्शनमात्र से ही हो गया। इसी चमत्कार के कारण वे 'सन्मति' कहलाये।

एक दिन वर्द्धमान जब साथियो के साथ क्रीडास्थल मे क्रीडा कर रहे थे, तभी गजशाला से एक मदोन्मत हाथी उसी ओर बढता चला आ रहा था। भय से स्त्री-पुरुष और बच्चे चिल्ला रहे थे। उनके सभी साथी उसे देखकर इधर-उधर भाग गये, पर निर्भीक बालक वर्द्धमान जरा भी विचलित नही हुए । उन्होने निर्भीकता से कठोर कर्कश शब्दो मे हाथी को ललकारा। हाथी कर्कश एवं प्रभावशाली सिह की गर्जना से उसी स्थान पर सहमकर खड़ा हो गया। वीर बालक मुट्ठी से प्रहार करते हुए उस पर चढ़ गए और उसे मद रहित

करके यथास्थान पहुँचा दिया। तब से ही कुण्डलपुर ग्राम की जनता राजकुमार वर्द्धमान को 'वीर' नाम से पुकारने लगी। इस तरह वर्द्धमान 'वीर' प्रसिद्ध हुए।

बचपन यौवन की ओर पहुँचा, पर लिप्सा और विह्वलता जरा सी भी न छू पाई। गृह-लक्ष्मी मे रस न लेकर रहे, डूबे नही। वैराग्य और विश्व-कल्याण की भावना जागी, शाति और करुणा का स्रोत बह निकला, वे उसी ओर प्रकाश पुञ्ज (ज्ञान समूह, ज्ञान-रश्मिया) लेकर चल पड़े।

उन्हे समस्त भौतिक विभूति; ऐश्वर्य आनन्द, सुख-सामग्री, अनन्त पराक्रम सम्राट जैसा सुख (छहो खण्ड की सभी सम्पदा, सुख-साधन) प्राप्त थे पर वे समस्त ससार के प्राणियो को सत्पथ अर्थात् जीवन का सच्चा और सुगम पथ बताना चाहते थे। उनका सभी से यही कथन था "आध्यात्मिक वैभव ही इच्छित वस्तु को प्राप्त कराने वाली है।" ऐसा उद्घोष तथा कर्तव्य का पालन करते हुए, भातृत्व की भावना लगाते हुए अट्ठाईस वर्ष की अवस्था में पहुँचे। दो साल के अन्तराल तक जगत के सही रहस्य का अनुभव किया, फिर चल पडे स्व-पर कल्याण एव विश्वहित के साधना पथ पर। आयु यौवन के सुखो के लिये थी, पर विरागी को राग की सुरीली-मधुर आवाज किञ्चित् मात्र भी नही अवलोकती। सर्व सम्पत्ति, राज ऐश्वर्य एवं वैभव-का परित्याग कर उन्होने कहा—"सव्व मे अकरणिज्ज पाव कम्म" अर्थात् आज से सब पाप कर्म मेरे लिए अकरणीय है। उन्होने "सर्वजनहिताय, सर्वजनसुखाय" का मन्त्र लेकर कटकाकीर्ण पथ पर बढ़ते हुए, साधना की सिद्धि के लिये अपने-आपको धधकती हुई ज्वालाओ मे ड़ाल दिया। मूक प्राणियो के प्रहरी, चिन्तक, और गभीर अन्वेषक बनते हुए उत्कृष्ट सत्य-अहिंसा की मजिल पर पहुँचे जहाँ खाइयो के अलावा, मन को कुठाराघात करने वालो का समूह था, पर उनकी असीम शक्ति पर कोई प्रभाव डालने वाला नही था। उन्होने अन्तरतम की गहराईयो मे प्रवेश करते हुए सूक्ष्म से सूक्ष्म प्राणियो को एक समझते हुए साधारण-असाधारण मानव को अमृतमय वाणी के द्वारा नये मार्ग का दर्शन कराया, जनता को स्वय सिद्ध करके बतलाया! सत्य की प्रक्रिया का अवलोकन कराया, स्वय आत्मसाधक बनकर ही उन्होने दूसरो को बनने के लिए प्रेरित किया और स्वस्वरूप (अन्तरात्मा) अनुभूतियो को जताया।

ध्यान की अवस्था शुरू हो जाती, निर्जन वन मे साधना के लिए अचल एकाग्र एव चिन्तन मे सलग्न हो जाते। श्रद्धा के कुसुमो की जन-समुदाय तो क्या, विहंगम जगम भी वृष्टि करते सयम के प्रहरी साधक की साधना की उग्रता से देवी-देवता भी भयभीत एव आतकित हो जाते!

यहा भगवान महावीर की वही प्रक्रिया चलती रहती है, अहिंसा, सयम व परिग्रह की सम्पत्ति का खजाना जन-जन तक पहुँचाने के लिए चल पडते। जहा एक ओर हिंसा का ताडव नृत्य हो रहा था, असत्य की कालिमा छा रही थी, मनुष्य स्वय घातक बनते जा रहे थे, तभी अहिंसा के पुजारी ने प्रकाशपुञ्ज फेंका और बताया—इस लोक मे जितने त्रस और स्थावर जीव है उनको मन, वचन और काय से किसी को भी किसी प्रकार का कष्ट मत दो अपना जीवन सभी प्राणियों को प्रिय है। सुख सबको अनुकूल है और दु:ख प्रतिकूल कहा है कि.—

"सव्वे पाण पियाउया मुहसाया दुक्खपडिकूला।" यह नित्य अनुभव की बात है, जो शाश्वत सत्य है।

यदि हम जीवन मे इस सत्य का प्रयोग करके आगे बढते तो न शोषण की भावना पनपती,

न ही उत्पीडन होता न तोड-फोड मूलक प्रवृत्तिया रहती और न आज छात्र, शिक्षक, व्यवस्थापक, मालिक तथा मजदूरो मे कलह, वैमनस्य एव सघष के उग्ररूप देखने को मिलने न व्यक्ति की इच्छाओ का दमन होता और सयम का प्रवाह बह निकलता ।

"सयमः खलु जीवनम्" सयम ही जीवन है। यह हमारी दिनचर्या का विषय है । हम जैसे सयमित नियमो का पालन करेगे, वैसे ही सयमित होगे। सयम कोई बाह्य वस्तु नही है, वह हमारे ही अग का प्रधान गुण है। इच्छाये बढती है, इन्द्रियो की क्रियायें अत्यधिक विकसित होती है, उन्ही को दबाना अर्थात् उन को नियन्त्रित करना सयम है। परिस्थिति का सापेक्ष न्यूनतम सीमा तक प्रयास करना हमारा लक्ष्य है। यही लक्ष्य चरमोत्कर्ष तक पहुँचाने मे साधक सिद्ध होता है। सयम से हीन जीवन 'पलाश' के पुष्प की तरह है। जब जीवन का प्रधान तत्व ही समाप्त हो जायगा, तब उसका जीवन भी अस्त-व्यस्त हो जायगा, इच्छाये केन्द्रित नही रहेगी, मन इधर-उधर भटकता रहेगा और असन्तोष की भावना पल्लवित होती चली जायगी ? अत. जीवन मे सयम की अत्यन्त आवश्यकता है ।

"आत्मन. प्रति कूलानि परेषा न समाचरेत् ।" जो व्यवहार खुद को प्रिय नही वैसा व्यवहार दूसरो के प्रति मत करो ।"

"घृणा पाप स करो, पापी से कभी घृणा मत करो।" क्योकि उसकी आत्मा का गुण पवित्र है, वह कभी भी पाप से दूर हो सकता है, पावन-मरस हो सकता है, उसमे सभी शक्ति मौजूद है। अत. दूसरे के प्रति श्रद्धा के सुमन वर्षाओ, हनन की भावना मत रखो ।

'खुद जियो और सबको जीने दो' क्योकि सबको अपना जीवन प्रिय है, सभी सुख की इच्छा रखते है ।

"अहिसा परमो धर्म " की भावना अपनाओ। मानव का गुण किसी जीव की हिसा करने का नही है, न ही उसे सताने का है, पर विकारी आत्मा अर्थात् विकारयुक्त आत्मा व्यक्ति मे क्रोध की भावना, वैमनस्य जागृत करती है जब वह "अह" अर्थात् 'मै' की बात को छोडकर 'तू' इस ओर बढ जाता है। यही तू कार भरी आवाज उसे स्वार्थ की क्रीडा मे फसा देती है।

भगवद्गीता मे भी कहा है —

अह सर्वेु भूतेषु भूतात्माऽवस्थित सदा।"
मै सभी प्राणियो मे जीवात्मा रूप से हूँ। श्री कृष्ण ने भी कहा.—

"समोऽह सर्व भूतेषु मे द्वेषोऽस्ति न प्रिय. ।"
मै सभी प्राणियो मे समान रूप से हूँ, न मेरा किसी से राग है व द्वेष है।

"तमसो मा ज्योतिर्गमय" मुझे अन्धकार से प्रकाश की ओर ले चलो । मतलब यह है कि ईश्वर प्रकाश है, अन्धकार नही, ईश्वर सत्य है असत्य नही। एक ईश्वर ही महान् है तब हम क्यो नही, उसकी शरण मे जाते है। जहा जीव को नई दिशा, नया प्रकाश तथा नई रश्मियो का समूह झलकता है।

जीवन का आधार क्या है, क्या नही ! इसे समझना है। यदि सच्चा-सुगम पथ चाहिये तो 'वीर' पुरुष की वाणी को जीवन मे उतारना जरूरी है ।

अहिंसा के प्रवर्तक भगवान महावीर

—श्री गजानंद डेरोलिया
पत्रकार, श्री महावीरजी

"खेद है आज बुद्ध, महावीर और गाधी के देश में नैतिकता, न्याय और सच्चरित्रता की सारी सीमाए समाप्त हो गई हैं । हिंसा प्रतिहिंसा आज के समय का प्रतिबिम्ब बनती जा रही है ।"

आज सारा ससार अशान्ति और असन्तोष के ज्वालामुखी के कगार पर खडा है, भौतिक सुखो की प्राप्ति सत्ता के लिए सघर्ष और पारस्परिक ईर्षा के कारण मानव ही मानव के खून का प्यासा हो रहा है। युगपुरुष तीर्थंकर भगवान महावीर की जन्म-भूमि बिहार तथा निकटवर्ती राज्य बगाल मे वीभत्स हत्याकाण्डो का जोर है और पूर्वी बगाल मे खून का नरमेघ मचा हुआ है । यद्यपि भगवान महावीर के जन्म के पूर्व २३ अन्य जैन तीर्थंकर पृथ्वी पर जन्म ले चुके थे और सभी ने क्रातिकारी विचारो का प्रचार कर मानव को सन्मार्ग बताने का प्रयास किया था। तथापि भगवान महावीर के जन्म से पूर्व भारत देश मे धार्मिक पाखण्डवाद के नाम पर यज्ञो के द्वारा असख्य निरीह प्राणियो के बलिदान, जातिगत भेदभाव, गरीब-अमीर के भेद के कटु वातावरण तथा आपाधापी के कारण सारा भारत देश कठिन दौर में से गुजर रहा था। इससे पूर्व भी देश मे मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान राम

तथा योगिराज भगवान कृष्ण ने जन्म लेकर भूली मानवता को सही रास्ता बताया था। गीता के उद्घोषक योगिराज श्रीकृष्ण ने "कर्मण्येवाधिकारस्ते" का महामन्त्र देकर मानव मात्र को कर्तव्य मार्ग दिखाया था और अन्याय के विरुद्ध लडने की अर्जुन को प्रेरणा दी थी।

जब मानवता अन्याय और हिंसा के नीचे घुट घुट कर दम तोड रही थी, बिहार प्रान्त के एक छोटे राज्य कुण्डपुर के ज्ञातृक वशीय राजा सिद्धार्थ के घर उनकी पत्नी एव वैशाली के अधिपति चेटक की भगिनी त्रिशलादेवी की कोख से एक सुन्दर, सुकुमार, तेजस्वी तथा लोकोत्तर गुणो से परिपूर्ण शिशु ने जन्म लिया। जैन ग्रन्थो के अनुसार बालक के गर्भ में आने से पूर्व माता को सोलह स्वप्न दिखाई दिए जिनका तत्कालीन शास्त्रो मे लिखा फल आज सत्य प्रमाणित हो रहा है। बालक के गर्भ प्रवेश के बाद ही कुण्डलपुर राज्य से महामारी, अकाल आदि प्राकृतिक प्रकोप दूर हो गए। बालक के जन्म लेने के पूर्व से ही माता पिता असीम आनन्द का अनुभव कर रहे थे। बालक के जन्म पर उसका नाम वर्द्धमान रखा गया।

कुण्डलपुर छोटा राज्य होने के उपरान्त भी सुशासन व्यवस्था के कारण शान्त था। गणतत्र पद्धति से प्रजा द्वारा मनोनीत प्रतिनिधियो के परामर्श से शासन का सचालन होता था, जिससे प्रजा पूर्ण सन्तुष्ट थी और अपने शासक राजा सिद्धार्थ मे असीम निष्ठा रखती थी। अपने राज्य के उत्तराधिकारी के रूप में बालक वर्द्धमान के जन्म के समाचारो से प्रसन्नता के मारे प्रजा झूम उठी और लम्बे समय तक समारोहो का आयोजन कर प्रजा ने अपनी प्रसन्नता व्यक्त की।

ईसा से ५६६ वर्ष पूर्व चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को वर्द्धमान का जन्म हुआ था। आज सम्पूर्ण भारत मे यह दिन स्मरणीय बन चुका है जबकि हर अहिंसा प्रेमी भगवान महावीर के जीवन को स्मरण कर उनको अपनी श्रद्धाजलि अर्पित करता है, उनसे प्रेरणा पाने का प्रयास करता है।

बचपन मे ही वर्द्धमान के मुखमण्डल पर अद्भुत तेज का प्रभाव था जिनसे दर्शन कर हर व्यक्ति अपने आपको कृतकृत्य अनुभव करता था। बालकपन मे ही उनके दर्शनमात्र से ही सजय विजय नामक मुनियो की तत्व व्यवस्था विषयक शकाओ का निवारण हो जाने से उन्हे सन्मति नाम से पुकारा जाने लगा।

लोकोत्तर मानव महाश्रमण महावीर का बाल व्यक्तित्व आत्मविश्वास और सयम से परिपूर्ण बुद्धिशाली था। वे निडर और बलवान थे। एक बार वे राजकुल के अन्य बालको के साथ उद्यान मे क्रीडारत थे, खेलकूद की व्यस्तता मे सभी बालक इधर उधर हो गए और वर्द्धमान अकेले रह गये थे। तभी वर्द्धमान के धैर्य और साहस की परीक्षा लेने के लिए एक देव भयकर विषधर का रूप धारण कर वहा प्रगट हुआ, किन्तु वर्द्धमान उससे तनिक भी नही घबराए और उसे हाथ मे उठाकर उससे क्रीडा करने लगे। इसी प्रकार से एक देव ने वर्द्धमान को डराने के लिए विशालकाय दैत्य का रूप धारण कर लिया, जिसे देखत ही भयभीत हो उनके सभी साथी भाग गये किन्तु वर्द्धमान ने एक मुष्टिका के प्रहार से ही दैत्य को धराशायी कर दिया और लगे उसकी पीठ पर सवारी गाठने! इसी प्रकार की अन्य अनेक घटनाओ के कारण लोग उन्हे वीर और और महावीर कहने लगे।

वे यद्यपि राजकुमारो के साथ खेलते, उठते, बैठते किन्तु गरीबो, असहायो और पीड़ित लोगो की दशा देख उनका हृदय पिघल जाता। उनका उद्धार करने के लिए वे तडफडा उठते। राज्य के एकमात्र उत्तराधिकारी युवराज के इस प्रकार के चिन्तन से माता पिता परेशान हो उठते और उन्हे

व्यस्त रखने के लिए नाना प्रकार के राजसी सुख, साधन उनके आसपास एकत्रित किए जाते। किन्तु विधना के मन कुछ और ही था, वर्द्धमान तो राज करने और हिंसा तथा शक्ति के बल पर राज का विस्तार करने नही, अपितु कोटि कोटि मानवों का दुख दूर करने अवतरित हुए थे। माता पिताओं की प्रेरणा, मित्रो का आग्रह तथा अन्य प्रलोभन भी उन्हे विचलित नही कर सके और उन्होने विवाह के बन्धन मे बध कर ससार मे लिप्त होने से मना कर दिया। (श्वेताम्बर मान्यता के अनुसार वर्द्धमान का विवाह हुआ था और एक पुत्र के पिता बनने के बाद उन्होने वैराग्य लिया था)। यौवन के पूर्ण निखरने पर युवराज वर्द्धमान ने अपने माता पिता को गृह त्याग करने की सूचना दे दी। अन्तत. माता पिता को एकमात्र पुत्र का यह निर्णय कोमल हृदय पर पाषाण रखकर स्वीकारना पड़ा। और वर्द्धमान के ससार छोड़ने से पूर्व अन्तिम बार दरबार का आयोजन किया गया जिसमे वर्द्धमान राजकुमार की वेशभूषा मे बहुमूल्य आभूषण धारण किए आए। लाखो प्रजाजनो को नेत्रो से नीर बहाता छोड उन्ही की उपस्थिति मे वर्द्धमान ने वस्त्राभूषण आदि का परित्याग कर दिगम्बर दीक्षा ली और देशलु चन कर निर्ग्रन्थ मुनि का वेश स्वीकार किया।

अब राजकुमार वर्द्धमान दिगम्बर मुनि महावीर बन चुके थे। घोर अन्धकार, कंटकाकीर्ण मार्ग और असख्य लोगो के दुख दूर करने का विशाल कार्य उनके समक्ष था, पीडित मानव की आशाए उन पर केन्द्रित थी, भयातुर बेजुबान पशु उन्हे अपने जीवन का रक्षक मानने लगे थे। काया को जो फूलो की भांति सहेजी गई थी, धूप, सर्दी, गर्मी के कष्ट का अभ्यस्त बनाते हुए महावीर पहाड़ो, कन्दराओ, गुफाओ मे ध्यान लगाते, खुले आकाश तथा वृक्ष के नीचे आसन लगाते। कैवल्य प्राप्ति के पूर्व ही वह तपस्वी जीवन के १२ चातुर्मास बिता चुके थे। लगातार १२ वर्षों तक इसी प्रकार से वे घोर तप करते रहे। ४२ वर्ष की आयु मे उन्हें केवल ज्ञान की प्राप्ति हुई। भूत, भविष्य एव वर्तमान उनके ज्ञान मे एकसाथ झलकने लगे, सहस्रो लोग उनके व्याख्यानो के लिए आने लगे।

महावीर ने सर्वप्रथम अहिंसा की पुनः स्थापना करके सर्वोदय मार्ग को प्रशस्त किया और जीओ और जीने दो का सन्देश घर घर पहु चाया। महावीर ने अपरिग्रहवाद और अनेकान्तवाद का उपदेश दिया जिससे असन्तोष और ईर्षा का अन्त हो सके। अधिक सग्रह ही वर्गभेद के सघर्ष का मूलकारण है तथा आग्रहरहित सभी धर्म अच्छे हैं, इन मान्यताओ का महावीर ने जोरदार प्रसार किया। सापेक्षदृष्टि, समता के पोषक एव प्राणीमात्र को बन्धुत्व की भावना में समाविष्ट करने वाले भगवान महावीर ने समाजवाद और विश्वबन्धुत्व का प्रभावशाली कार्यक्रम रखा। मानव मानव मे भेद की समाप्ति के उनके प्रयास स्वतः हरिजनोद्धार के मूलप्रेरक थे। अन्ततः तपश्चर्या की अनेक सीढ़ियो को पार करते हुए भगवान महावीर मोक्षगामी हो तीर्थंकर बने। कार्त्तिक अमावस्या को ईसवी सन् से ५२८ वर्ष पूर्व पावापुरी मे शरीर त्याग कर वे निर्वाण को प्राप्त हो गए।

महावीर के निर्वाण के लगभग २५०० वर्ष बाद भारत मे एक और युगपुरुष महात्मा गाधी का अवतरण हुआ जिन्होंने महावीर के मार्ग का अनुसरण कर देश को स्वतन्त्रता दिलायी। खेद है कि आज बुद्ध, महावीर तथा गांधी के देश मे नैतिकता, न्याय और सच्चरित्रता की सारी सीमाए समाप्त हो गई हैं। हिंसा, प्रतिहिंसा आज के समय का प्रतिबिम्ब बनती जा रही है।

उपालम्भ

(श्रद्धेय स्व० पं० चैनसुखदास जी न्यायतीर्थ)

(१)

सारे वैभव को लेकर तुम क्यो अदृश्य बन गये अहो,
उसका कौर जरासा भी क्या मुझे न दोगे नाथ कहो।

(२)

मेरे ही आसू से भगवन् धो देने में मेरा पाप।
क्यो इतने सकुचाते हो, क्यो हृदयहीन यो बनते आप ॥

(३)

दीर्घ काल से बना हुआ है, तेरा सुन्दर धाम जहा।
विस्मय है फिर दिखलाता दैन्य दुःख आताप वहा।

(४)

यह कुटीर टूटी फूटी दी तुमने, मैने कुछ न कहा।
मेरा वैभव मुझ मे भर दे यह मेरा अनुरोध महा ॥

(५)

मेरे चारों ओर अनत वेदना का होता नर्तन।
मुझे खेंच ले शीघ्र यहा से सफल बना भगवन् यह मन ॥

(६)

क्यो होते हैं विघ्न नाथ मेरे वरदानो मे अब तक।
मुझे बता दे यह असह्य होगा विलब भगवन् कब तक ॥

विश्वशांति का अमोघ उपाय अहिंसा और अपरिग्रह

—सिद्धांताचार्य श्री अगरचंद जी नाहटा
बीकानेर

"अगर हम शांति चाहते हैं तो इच्छा, तृष्णा और आवश्यकताओं पर अंकुश लगाना होगा। संग्रह की प्रवृति बन्द करनी होगी। ऊंच नीच के भेदभाव को मिटाना होगा। अहं और ममत्व को घटाना होगा, समस्त प्राणियों को अपने ही समान मानना होगा।"

विश्व मे जो चारो ओर अशान्ति के बादल छा रहे है और मनुष्य मनुष्य मे जो बैर-विरोध बढ रहा है उसके कारणो पर गम्भीरता से विचार करने पर मूर्छा, आसक्ति या ममत्व ही उसका मूल कारण प्रतीत होता है। मनुष्यो मे संग्रह की प्रवृत्ति बढती जा रही है। उनकी आवश्यकताएं दिन प्रति दिन बढ रही हैं और उन आवश्यकताओ से भी अधिक उनकी संग्रह प्रवृत्ति नजर आ रही है। संग्रह ही संघर्ष का कारण है। एक ओर धनादि वस्तुओ का ढेर लगता है और दूसरी ओर उनका अभाव हो जाता है एक ओर गड्ढा खोदते हैं तो दूसरी ओर मिट्टी का ढेर ऊंचा पहाड सा लग जाता है। इसी प्रकार जिन लोगो द्वारा जिन २ वस्तुओ का संग्रह किया जायगा दूसरो को उनकी कमी पडेगी ही। और जब एक के पास आवश्यकता से अधिक दिखाई देगा तो जिनके पास उन वस्तुओ की कमी है, उसके हृदय मे एक आन्दोलन व संघर्ष उत्पन्न होगा ही

और उसका परिणाम आगे चलकर चोरी, लूटमार, युद्ध, हिंसा व द्वेष आदि विविध रूपो मे प्रगट होगा।

मनुष्य की तृष्णा का अन्त कहा ? चाहे उसे विश्व के सारे पदार्थ मिल जाय पर उसकी इच्छाए और अधिक पाने को ही लालायित रहेगी। जिसके पास कुछ नही है वह चाहता है कि किसी प्रकार जीवन-यापन योग्य सामग्री मिल जाय तो बस। जब इतना मिल जायेगा फिर सोचेगा, अरे ! इतने से क्या होगा ? मेरा शरीर बीमार पड गया या अन्य किसी कारण से मैं उत्पादन मे असमर्थ रहा तो इस थोडी सी सामग्री से कैसे काम चलेगा, घर वाले भी तो हैं ? बाल बच्चो के लिए भी तो और चाहिए ? इस प्रकार वर्तमान से भविष्य की ओर बढ़ता २ वह सात और सौ पीढी तक का सामान सग्रह करना आवश्यक समझ बैठता है। पूर्व इच्छाओ की पूर्ति होते ही नई २ इच्छाए जाग उठती हैं। खाने, पहिनने, रहने आदि के साधारण साधन अब उचित नही लगकर, साधारण से बढने हुए ऊचे से ऊचे स्तर की चीजो की चाह लगेगी। इस प्रकार सग्रह की प्रवृत्ति का और छोर नही। जो चीजें पास होगी, उन पर मेरापन, ममत्व एव आसक्ति होती जायगी और जब किसी पर ममत्व हो जाता है तो उसको किसी प्रकार की आच नही आय, कोई ले नही ले, इस चिन्ता से सरक्षण और सवर्धन की भावना बढेगी। अन्य व्यक्ति उन वस्तुओ को लेना चाहेगा तो उससे सघर्ष हो जायगा। तृष्णावश दूसरे की चीजो को लेने की प्रवृत्ति भी होगी। अत सारी अशान्ति का मूल मूर्च्छा है, ममत्व है और भगवान महावीर स्वामी ने इस ममत्व को ही परिग्रह बतलाया है। ससार मे जितने भी पाप होते है वे सारे परिग्रह के कारण ही। इसी प्रकार मनुष्य दूसरे की हिंसा करता है तो अपने स्वार्थ के लिये। बचाव के लिये या परिग्रह को बढाने के लिये। जिन व्यक्तियो या वस्तुओ पर मेरापन छा गया तो उनके सगठन एव सवर्धन के लिये दूसरे का कितना ही नुकसान हो, ध्यान नही दिया जाता। इसी प्रकार झूठ बोलना, चोरी करना, कपट करना, लोभी होना, दूसरो से द्वेष, ईर्ष्या करना, इन सारी प्रवृत्तियो के मूल मे परिग्रह ही है, धनादिक उत्पन्न करने मे इसलिये अठारह पाप लगने का बताया गया है। उसके उत्पादन, भोग, सरक्षण व सवर्धन मे अठारह पाप लग जाते है।

तीर्थंकर सभी क्षत्रिय व राजवश के थे। उनके घर मे किसी प्रकार की कमी नही थी। धन, धान्य, कुटुम्ब, परिवार सभी प्रकार से वे पूर्ण थे। फिर भी उन्होने त्याग को स्वीकारा। इसका एक मात्र कारण यही था कि उन्हे समत्व की ओर बढना था सीमित ममत्व से ऊचे उठे बिना समभाव हो नही सकता। राग और द्वेष, मोह और अज्ञान-जनित है। कर्मों के मूल बीज राग और द्वेष है। इसलिये उन्होने सोचा कि द्वेष भी राग के कारण होता है। और वह राग भाव ममत्व है, शरीर को अपना मान लेना, धन, घर, कुटुम्ब आदि मे अपनापन आरोपित करना ही ममत्व है, राग है, परिग्रह है। समत्व की प्राप्ति के लिये परिग्रह का त्याग अत्यन्त आवश्यक है। अभ्यन्तर परिग्रह के १४ प्रकार बतलाये गये है। हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया, लोभ, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपु सक वेद, और मिथ्यात्व। बाह्य परिग्रह धन-धान्य, क्षेत्र, वस्तु, द्विपद चतुष्पद, सोना-चादी आदि धातु व ऊन पदार्थ। इनका सग्रह करना व इन पर ममत्व करना ही परिग्रह है। साधु के लिये परिग्रह सर्वथा त्याज्य है। गृहस्थ के लिये भी अनावश्यक वस्तुओ का त्याग और आवश्यक का परिणाम करना, सीमा निर्धारण करना आवश्यक होता है। आवश्यकताओ को कम करते जाना सुख शांति के लिए आवश्यक बताया गया है। इससे इच्छाओ पर अकुश रहता है।

कोई भी प्राणी न कुछ साथ लेकर जाता है न

कुछ साथ ले जा सकता है। फिर ममता क्यो ? सग्रह वृत्ति क्यो ? तृष्णा व हाय २ क्यो ? सघर्ष द्वेष व हिंसा क्यो ? वस्तुए सभी के उपभोग व उपयोग के लिये है। व्यक्ति विशेष का ममत्व या अधिकार ही सघर्ष का कारण है। वस्तुए सभी यहाँ पडी रहेगी, हमे छोड कर जाना होगा, जीवन क्षण भगुर है। न मालूम कब मृत्यु आ जाय, अत अनीति के प्रधान कारण ममत्व को छोड़ समभाव को अपनावे, यही कल्याण का पथ है।

विषमताओ का मूल परिग्रह मे है। मनुष्य की अहबुद्धि ने ही भेद बुद्धि सिखाई है। वह अपने को बहुत बडा विशेष बुद्धिमान, धनवान आदि मान बैठता है तो दूसरो के प्रति तुच्छ भावनाए पैदा हो जाती है। जातीय अहकार व अपने विचारो का एकान्त आग्रह भी परिग्रह है। धन आदि वस्तुओ की कमी बेशी से उच्च तथा नीच की भेद रेखा आज सर्वत्र दिखाई देती है। जिसके पास धन सत्ता अधिकार आदि का परिग्रह अधिक है, वह अपने को बडा समझ कर दूसरो के प्रति घृणा की भावना रखता है और जो नीची श्रेणी के है वे अपने से अधिक समृद्धि देख कर ईर्ष्या वश उससे जलने लगते हैं। इसी से प्रेम, मैत्री और अहिंसा, करुणा, सहानुभूति व सहयोग और शान्ति के बदले द्वेष,घृणा कलह मे विरोध,सघर्ष भेदबुद्धि ईर्ष्या व अशाति की होलिया सुलग रही है। अपने परिग्रह को बढाने के लिये और दूसरो के अधिकार छीनने के लिये ही युद्ध आदि अशान्ति जनक कार्य होते है। यदि हम अपनी आवश्यकताओ को कम और सीमित करलें, इच्छाओ पर अकुश लगाले या दमन करले तो अशान्ति का कारण ही नही रहेगा। सन्तोष से प्राप्त वस्तुओ मे शान्ति और सुख का अनुभव करने लगेगे। आवश्यकता से अधिक वस्तुए एक स्थान पर सग्रहीत न रहने पर वे सबके लिए सुलभ हो जावेगी। फिर समाजवाद व साम्यवाद के नाम से जो विरोध व संघर्ष चल रहे है वे स्वय समाप्त हो जावेगे। वास्तव मे विश्व मे वस्तुओ की कमी नही है परन्तु जो अभाव दिखाई देता है उसका प्रधान कारण है किसी का आवश्यकता से अधिक सगृहीत कर रखना और पुरुषार्थहीन जीवन।

जैनग्रन्थानुसार भगवान ऋषभदेव के समय तक मनुष्यो की बहुत सीमित आवश्यकता ही न थी, तो वैर विरोध का कारण ही नही था। पर एक ओर आवश्यकताए बढी तो दूसरी ओर उत्पादन कम हुआ तो सघर्ष पैदा हुआ। फिर पुरुषार्थ से उत्पादन बढा तो सग्रह वृत्ति ने घर दबाया। परिस्थिति, अशान्ति बढती रहने की ही बनी रही और आज भी उसीका बोलबाला है।

यदि हम शाति चाहते हैं तो इच्छा, तृष्णा और आवश्यकताओ पर अकुश लगाना होगा। सग्रह की प्रवृत्ति बन्द करनी होगी। ऊच नीच के भेदभाव को मिठाना होगा। अह और ममत्व को घटाना होगा, समस्त प्राणियों को अपने ही समान मानना होगा। सबको प्रेम, मैत्री, सहानुभूति और सहयोग से जीतना होगा। जीवन मे सयम और त्याग को प्रधानता देकर निवृत्ति व अनासक्ति की ओर बढते रहना होगा।

परिग्रह के कारण ही आज अनीति का साम्राज्य है। मनुष्य मे सन्तोष नही रहा। दिनोदिन आवश्यकताए और सग्रहवृत्ति बढ रही है। अपने स्वार्थ के पीछे मनुष्य इतना अन्धा है कि दूसरे का चाहे दम भी निकल जाय उसकी उसे तनिक भी परवाह नही। भेदबुद्धि इतनी बढ गई है कि देशभेद, प्रान्तभेद, धर्मभेद, सम्प्रदायभेद, काले और गोरे का भेद, धनी निर्धन का भेद, शिक्षित और अशिक्षित का भेद, स्त्री और पुरुष का भेद, खान पान और रीति रिवाज का भेद यावत् हर बात मे भेद ही भेद नजर आते हैं, तो प्रेम और मैत्री का विस्तार ही कैसे हो ? हमारे बीच रगबिरगी अनेको मजबूत दीवारे खडी करदी गई है तो फिर एक दूसरे

से आपस मे टकरावेगे ही और ये सारे भेद ग्रह या ममत्व पर आश्रित हैं। यही परिग्रह है, हिंसा है, द्वेष है। परिग्रह ही बन्धन है, पाप का प्रधान कारण है। अपरिग्रही ही परम सुखी है। उसे चिन्ता किस की ? चाह नही तो आह भी नही।

चाह गई चिन्ता गई मनुआ बेपरवाह।

भारतीय मनीषियो ने इन भेदो के भीतर रहे हुए अभेद तक अपनी दृष्टि बढाई। आत्मा सबकी समान है। स्वरूपत शुद्ध-बुद्ध सत् चित् आनन्द रूप है। देहादि के बाहरी भेद कल्पित है अभेद बुद्धि ही अहिंसा है अपरिग्रह है और वही विश्व शान्ति का अमोघ उपाय है।

हिंसा से वैर परम्परा बढ़ती है। आज वह कमजोर है अत बलवान उसे दबाते है वह प्रतीकार कर नही पाता, पर जब भी वह सशक्त होगा बदला लेगा ही। बस जीवो को जीवन एव सुख प्रिय है तो हम दूसरो को सुख दुख क्यो दे ? आज हम जीवन धन हरण करते है तो हमे उसका परिणाम भुगतना ही पडेगा। 'कर भला होगा भला, कर बुरा होगा बुरा' देर हो सकती है अन्धेर नही। याद रखिये जैन महर्षियो के वचनो को याद रखिये।

अष्टादश पुराणेषु व्यासस्य वचन द्वय।

परोपकार पुण्याय, पापाय पर पीडनम्॥

दूसरो के साथ वही व्यवहार करिये जो आप उनसे अपने प्रति अपेक्षा रखते है। वैसा व्यवहार न करे जो स्वय नही चाहते—

आत्मन प्रतिकूलानि परेषा न समाचरेत्।

सब जीवो को अपने समान समझ उनसे प्रेम और मैत्रीभाव बनाए रखो सब जीवो को सुख शाति दो तो आपको भी सुख शाति मिलेगी।

अनेकान्त सिद्धान्त भी वैचारिक अहिंसा का ही स्वरूप है। विचार भेद तो रहेगा ही पर अपने विचारो का इतना आग्रह न हो कि दूसरे को झूठा कह कर उनसे लडाई मोल ले ले। उनके दृष्टिकोण को भी समझिये। वस्तु अनेक धर्मात्मिक है अत प्रतिपादन किसी दृष्टिकोण विशेष से ही किया जाता है वह सापेक्ष सत्य होती है। अनेकान्त वैचारिक सघर्ष को मिटाने की महौषधि है। इन तीनो सिद्धान्तो से विश्वशाति सुनिश्चित है। इनका अधिकाधिक प्रचार एव जीवन मे उपयोग होना चाहिये।

महान् क्रांतिकारी भगवान् महावीर

—श्री सत्यंधर कुमार सेठी
उज्जैन

विश्ववंद्य भगवान महावीर का जयंती दिवस प्रतिवर्ष समस्त भारत मे विविध कार्यक्रमो के साथ मनाया जाता है और इस बार भी मनाया जायगा। भगवान् महावीर ऐतिहासिक महापुरुष तो है ही लेकिन वे अपने युग के क्रांतिकारी महामानव भी थे। अपने समय मे भगवान् महावीर ने धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक समस्याओ को हल करने के लिए असाधारण कदम उठाया और उसमे वे पूर्ण रूप से सफल हुए।

"भगवान महावीर ने धार्मिक रूढियों को खत्म किया। विश्व के प्राणी स्वयं जीवे और दूसरों को जीने दें यही धर्म का स्वरूप बताया। महावीर करुणावान् थे उन्होंने सबको गले लगाकर मैत्री और प्रेम का पाठ पढ़ाया। सामाजिक विषमता दूर करने हेतु उन्होंने जातिवाद को धर्म में कोई स्थान नहीं दिया।"

भगवान् महावीर ने वैशाली के पास क्षत्रिय कुण्ड ग्राम मे राजा सिद्धार्थ और रानी त्रिशला के घर पर जन्म लिया था। उनके जन्म समय कितने ही आश्चर्यकारी चमत्कार हुए जिनसे महावीर का जन्म असाधारण पुरुष जैसा माना गया था। सब जगह उनके जन्म की खुशिया मनाई गई। कुछ बाहर के लोग भी आये और उन्होने भी भगवान् महावीर को अपने हाथो मे उठाकर अपूर्व नृत्य के साथ खुशियां मनाई।

भगवान् महावीर के बाल्यकाल मे कई असाधारण घटनायें हुईं जिनसे वे सन्मति-वीर अतिवीर और वर्धमान के नाम से पुकारे जाने लगे। इन घटनाओ के कारण वे काफी लोकप्रिय हो गये और सर्वत्र उनकी ख्याति फैल गई। उनके साथ उनके ज्ञान का विकास भी अपने आप होता गया जिससे वे स्वयभू कहलाये। बाल्यकाल से ही उनमे करुणा थी और लोकहित के कार्यों मे उनकी अभिरुचि थी। वे हमेशा चाहते थे कि विश्व के समस्त प्राणी सुखी और समृद्धिशाली हो। लेकिन वह समय भी बडा विकट था। धर्म के नाम पर बड़े बडे अत्याचार किये जाते थे। अबलायें सताई जाती थी। मन्दिर और मठो के, अन्दर धर्म के नाम पर खून की होलिया खेली जाती थी। चारो तरफ त्राहि-त्राहि की आवाज थी। लोग बडे दु:खी और त्रस्त थे। इन सब अत्याचारो ने महावीर का हृदय हिला डाला था। और थे वे बडे बेचैन। इन समस्याओ को हल करने के लिए कभी २ वे एकात चिंतन करते थे और वे सोचते थे कि इन सबके लिए क्या कदम उठाया जाय।

भगवान् महावीर एक सम्पन्न एव वैभवशाली घराने में पैदा हुए थे किन्तु वह वैभव उनको खीच नही सका। उनका एक ही सकल्प था कि मैं इन समस्याओ से विश्व के प्राणियो को मुक्त करू। एक दिन भगवान् महावीर चिंतन मे बैठे थे। माता त्रिशला उनके पास आई और बोली बेटा मै एक निवेदन करना चाहती हूँ। भगवान् महावीर बोले 'मा' क्या कहना चाहती हो। माता ने कहा बेटा अब तू युवा हो गया है मैंने एक योग्य राजकुमारी की खोज की है, मेरी इच्छा है कि तू विवाह बधन को स्वीकार कर। इन शब्दो को सुनते ही महावीर का माथा ठनक उठा। उन्होंने कभी सोचा ही नही था कि मुझे किसी बधन मे बधना है। वे माता से बोले, मां न अब मैं किसी बधन मे नही बधना चाहता। मेरा मार्ग दूसरा है मुझे लोकहित के लिए आगे बढना है। विश्व के समस्त प्राणी यह देखना चाहते है कि मेरा कदम किस ओर उठता है। अत. यह प्रस्ताव मैं स्वीकार करने के लिए तय्यार नही। माता त्रिशला बडी उदास हुई। भगवान् महावीर खडे हो गये। इतने मे कुछ समझदार लोग आये। महावीर ने अपने विचारो को रखा। सबने उनके विचारो की एक स्वर से सराहना की। और महावीर बढ गये एकात स्थल की तरफ जहा बैठकर उनको इन समस्याओ के सबध मे विचार करना था। उस युग के सामने धार्मिक सामाजिक और आर्थिक समस्याये बडा विकट रूप लेकर खडी थी।

भगवान् पार्श्वनाथ के बाद धर्म का रूप विकृत हो गया था और क्रियाकाण्डी लोगो के हाथ मे धर्म की बागडोर चली गई थी। धर्म ने रूढी का रूप ले लिया था। मन्दिर और मठो मे धर्म के नाम पर खून की नदिया बहती थी अबलाओ पर अत्याचार होता था। चारो तरफ त्राहि त्राहि मची हुई थी। भगवान् महावीर इन सबके खिलाफ एक सुदृढ कदम उठाकर धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक क्राति करना चाहते थे। वे चाहते थे सर्व प्राणी समभाव।

इसके लिए भगवान् महावीर ने ऋजुकूला नदी के तट पर एकात साधना की और वह वर्षों तक की। तब उन्होने विश्व शाति के लिए हल निकाला अहिसा और अपरिग्रहवाद। उन्होने अहिसा का शस्त्र हाथ मे उठाकर विपुलाचल पर्वत की विशाल सभा मे घोषित किया कि ससार मे व्याप्त विषमतायें यदि दूर हो सकती है तो अहिंसा और अपरिग्रह के बल पर ही। अहिंसा मैत्री का प्रचार करती है और अपरिग्रह मानव मे व्याप्त असमानता को दूर कर सकती है। इसके बिना विश्व मे शाति सभव नही। महावीर की इस

घोषणा ने बडी भारी हलचल मचाई। मठाधीशो के आसन डोल उठे। वे सब मिलकर महावीर के खिलाफ विद्रोह के लिए खड़े हो गये। उन्होने महावीर के खिलाफ हर उपाय किया लेकिन वे सफल न हो सके।

महावीर ने धार्मिक रूढियो को खत्म किया और विश्व के प्राणी स्वय जीवें और दूसरो को जीने दें यही धर्म का रूप बतलाया। इस सदेश को सुनकर समस्त प्राणी दौड पड़े महावीर की तरफ। महावीर करुणावान् थे उन्होंने सबको गले लगाकर मैत्री और प्रेम का पाठ पढाया, सामाजिक विषमता दूर करने हेतु उन्होंने जातिवाद को धर्म मे कोई स्थान नही दिया। वे कहते थे धर्म वस्तु स्वरूप है प्राणी मात्र मे वह व्याप्त है। इसमे वर्ण भेद और जाति भेद का प्रश्न नही आता। इस परिवर्तन के लिए उन्होने जबर्दस्त क्रान्ति की। सबसे पहले उन्होने चडाल को अपने गले लगाया और कहा कि धर्म मानवता का पाठ पढाता है वह उठाता है लेकिन गिराता नही। वह विवश करता है लेकिन सकीर्ण नही। इस सबध मे जैन साहित्य में काफी उल्लेख है।

इसी तरह आर्थिक क्रान्ति भी उस महामानव ने की। इसके लिए वे स्वय अपरिग्रही बने। और उन्होने कहा कि सग्रह उतना ही करो जितने की तुम्हे आवश्यकता है। अधिक सग्रह पाप है। इसके लिए उन्होने करुणादान समदत्ति दान बोलकर अनेक मार्ग प्रशस्त किये।

इन विचारो के प्रचार के लिए महावीर स्वामी ने भारतवर्ष के कोने-कोने मे बिहार किया और उन्होने इन विषमताओं को दूर किया। जिससे इस युग मे विश्व शाति हुई। महावीर स्वामी के इन विचारो से लाखो प्राणी प्रभावित हुए और वे इनके शिष्य बन गये।

इन सिद्धातो को जीवन देने के लिए भगवान् महावीर स्वामी ने यह भी बतलाया कि हम अनेकान्त और स्याद्वाद का सहारा लें जिससे विचार भेद पैदा न हो। महावीर स्वामी चाहते थे कि आदमी हठाग्रही न बने। वे स्वय कहते थे कि मैं कहता हूँ यही ठीक है यह मुझे कदाग्रह नही। मैं तो चाहता हूँ कि मानव स्वय ही बुद्धि से कसौटी पर हर बात को कसे। लेकिन वह एकांती नहीं बने। इसी के लिये उन्होने स्याद्वाद का सहारा बताया।

भगवान् महावीर के उक्त अहिंसा अपरिग्रह अनेकांत और स्याद्वाद के सिद्धात सार्वभौमिक और सार्वकालिक हैं। आज भी विश्व को इनकी आवश्यकता है। संसार आज इन सिद्धातो को भूल चुका। इसीका यह परिणाम है कि आज का ससार, विश्व दुःखित और त्रस्त है। आज का ज्ञान अज्ञान मे परिणत है। उसमे आत्म निरीक्षण नहीं। इसी से हम सब दुःखी हे।

जैनो का कर्त्तव्य है कि वे भगवान् महावीर के मार्ग पर स्वय चले और विश्व को इसके लिये प्रेरित करे। यही सच्ची श्रद्धाजलि उन महामानव के चरणो मे हो सकती है।

आत्म कामना

(श्रद्धेय स्व० पं० चैनसुखदास जी न्यायतीर्थ)

विश्व-पते ! हे विघ्न-विजेता ! नाम तुम्हारा लेता जो !
क्षण भगुर फूलो को तेरी पूजा मैं दे देता जो।

तेरा दिव्यालोक जहा पर रहता प्रतिपल हे जगदीश !
अविनश्वर वैभव का होता वहा नित्य नर्तन योगीश !

बाधामय है सब विभूतिया, जीवन यह विपदामय है !
तेरी पद सेवा पर प्रभुवर ! सचमुच नित्य निरामय है।

सब बाधाएँ, आकुलताएँ औ विपदाएँ हे स्वामिन् !
हर कर यह वर दे मुझको तू हे मेरे अन्तर्यामिन् !

घटमय मेरा जीवन झटपट हो विनष्ट मिल जावे नाथ !
व्यापक शुद्ध अनन्त व्योग मे, बनकर ब्रह्म तुम्हारे साथ।

अणुव्रत : एक अनुचिन्तन

श्री लक्ष्मीचंद्र 'सरोज'
एम ए, सम्पादक 'जैन संस्कृति'

"अणुव्रत जैन आचार शास्त्र का एक पारिभाषिक शब्द है। यह वह व्रत है जिसकी पृष्ठभूमि में आत्मशुद्धि की भावना अन्तर्निहित है। इसका उद्देश्य इहलौकिक या पारलौकिक लाभ नहीं प्रत्युत जीवन के वातावरण को उदात्त और उज्ज्वल बनाना है।"

जैनधर्मविद मनीषियो ने व्यक्तिगत सबलताओ और दुर्बलताओ पर दृष्टि रखते हुये दो प्रकार के धर्म का प्रतिपादन किया है:—

(१) मुनि या साधु धर्म ।

(२) श्रावक या गृहस्थ धर्म ।

मुनिधर्म का सम्बन्ध महाव्रतो से है और श्रावक धर्म का सम्बन्ध अणुव्रतो से है। श्रावक धर्म अणुव्रतो की परिधि मे ही समाप्त हो गया है, ऐसी बात नही है; श्रावक धर्म तो पाच अणुव्रतो सग तीन गुणव्रतो और चार शिक्षाव्रतो का भी अपने मे समावेश किए है।

अणुव्रत का अर्थ

अधिकाश लोग अणुव्रत का अर्थ अणु यानी छोटा व्रत अर्थात् त्याग विषयक नियम समझते हैं, परन्तु वास्तव मे अणुव्रत का यह अर्थ अपने आप मे अतीव अपूर्ण है। कारण, व्रत तो छोटा या बडा होता ही नही है पर पालन करने वाले की क्षमता के अनुसार ही वह पूर्ण या अपूर्ण बन जाता

है। इसलिए जब तक व्रत का पूर्ण अखण्ड ग्रहण सम्भव न हो तब तक उसे अपूर्ण या अणुव्रत कहा जाता है। यह अणुव्रत ही महाव्रत की नीव बना है।

अणुव्रत जैन आचार शास्त्र का एक पारिभाषिक शब्द है। यह वह व्रत है, जिसकी पृष्ठभूमि मे आत्मशुद्धि की भावना अन्तर्निहित है। इसका उद्देश्य इहलौकिक या पारलौकिक लाभ नही प्रत्युत् जीवन के वातावरण को उदात्त और उज्ज्वल बनाना है। लौकिक-पारलौकिक लाभ तो व्रत ग्रहण करने से होना ही है * पर व्रत का मूल उद्देश्य तो आत्मशुद्धि ही है। सामाजिक व्यवस्था का साध्य तो राजकीय सत्ता द्वारा प्राप्त किया जा सकता है पर व्रत की मूलभूत भावना स्वार्थ से परमार्थ की ओर चलने की है। व्रतो की रचना का मुख्य ध्येय चिरकालीन बुराइयो से मनुष्य को बचाना है। व्रतो की शाब्दिक वाचिक रचना इतनी विस्तृत और व्यापक है कि वह पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय विविध विकारो का प्रतिरोध करने मे सक्षम है। एक वाक्य मे व्रत-परम्परा भारतीय मानस की वह प्राचीनतम परम्परा है जो 'सयम खलु जीवन' का मगल मन्त्र दुहराती रही है।

अणुव्रत की आवश्यकता

जो अणुव्रती भी नही अर्थात् अविरती या अव्रती है, वह दूसरे शब्दो मे अमर्यादित और असन्तोषी है। वह अमर्यादित,असन्तोषी व्यक्ति चाहे चक्रवर्ती सम्राट भी क्यो न हो ? परन्तु वह सुखी नही हो सकता है। आचार्य हेमचन्द्र का यह कथन आज भी सत्यता की घोषणा कर रहा है। मानवीय जीवन सुखी स्वस्थ सन्तुष्ट हो, इसके लिये स्व-पर उपकार आवश्यक है। दान देने के व्रत के लिये त्याग धर्म को स्वीकार करना होगा और स्वनियन्त्रण की क्षमता बढानी होगी। आचार्य तुलसी के शब्दो मे ग्रहण की मर्यादा बाधे बिना काम नही चलेगा। अणुव्रतधारी समाज मे न तो शोषण होगा और न विलास, वह श्रम और स्वावलम्बन से सम्पन्न होगा।

साम्यवाद जहा वैयक्तिक प्रभुत्व समाप्त कर राष्ट्रीय स्वामित्व बढाता है, वहा अणुव्रत-अभियान व्यक्ति को असग्रह और अपरिग्रह की ओर उन्मुख करता है चूकि अणुव्रत सन्तुलित भोग-व्यवस्था करता है और भोग से त्याग की ओर चलने के लिये प्रेरित करता है, अतएव अणुव्रत भारतीय सस्कृति का मूलत सन्देशवाहक है। अणुव्रत द्वारा आध्यात्मिक शुष्कता आत्म जडता सुदूर की जा सकती है और आध्यात्मिक भाव-वृद्धि भी। विचार के इस बिन्दु से अणुव्रत आज की पुकार है।

आज के समाज के समक्ष दो मार्ग है — (१) अणुबम का (२) अणुव्रत का। अणुबम का मार्ग विनाश का है। नागाशाकी-हिरोशिमा जैसा ससार को बनाने का है। यह किसी भी शान्ति प्रिय विचारक व्यक्ति के काम का नही है। अणुव्रत का मार्ग विकास का है, मनुष्य को देवता बनाने का है, स्वय सुखी होने और ससार को सुखी रहने देने का है। यह मार्ग कष्टसाध्य होने पर भी काम्य होना ही चाहिये। कारण, इसकी जडधर्म मे है।†

अणुव्रत का स्वरूप

अच्छे कामो के करने का नियम करना अथवा बुरे कामो का छोडना व्रत है। किसी मरते हुए को बचाना अथवा मारते हुए को दूर भगाना या स्वय मारना छोडना व्रत है। व्रत बारह होते है—अणुव्रत पाच, गुणव्रत तीन, शिक्षाव्रत चार। चूकि पूर्वोल्लिखित व्रतो का श्रावक या गृहस्थ स्थूलरीति से पालन करते है, अतएव उनके व्रतो को अणुव्रत कहा जाता है पर मुनिजन इन्ही व्रतो का पूर्णतया पालन करते है, अतएव उनके व्रत महाव्रत कहे जाते है। दूसरे शब्दो मे स्थूलरीति से हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह पाच पापो का त्याग करने

वाले गृहस्थो के अणुव्रत होना है पर पूर्णतया पूर्वोक्त पाचो पापों का त्याग करने वाले मुनियो के महाव्रत होता है।

हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह-ये पाच पाप है। इन्हे छोडना व्रत है। और इनसे उल्टे अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह-ये पाच व्रत है, इन्हे ग्रहण करना ही श्रेयस्कर है। अपूर्णता लिये व्रत अणुव्रत है। पूर्णता लिए व्रत महाव्रत है। अपूर्णता और पूर्णता को धर्माचार्यों की भाषा—शैली मे एक देश, सकल देश भी कहा जा सकेगा। हा तो हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह -इन पाचो पापो का स्थूलरीति से त्याग करना अणुव्रत है। दूसरे शब्दो मे अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह व्रतो का आंशिक रूप से पालन करना अणुव्रत है।

(१) अहिंसाणुव्रती सकल्प पूर्वक जानबूझकर किसी को मारता नही है। वह आरम्भी, उद्योगी और विरोधी हिसा से भी बचने का यथासभव प्रयत्न करता है पर गृहस्थ होने से उसका सर्वथा त्यागी हो सकना उसके हाथ मे नही है।

(२) सत्याणुव्रती हित मित प्रिय भाषी होता है। वह झूठ बोलने वाले का न तो प्रस्तावक है और न समर्थक तथा अनुमोदक भी पर वह ऐसा सत्य भी नही बोलता कि जिससे दूसरे के प्राण सकट मे पड़ें, वह तो अप्रिय और असत्य से दूर ही रहता है।

(३) अचौर्याणुव्रती रखी या भूली वस्तु को न तो स्वय लेता है और न दूसरे को देता है। बोलचाल, व्यापार और व्यवहार मे भी धर्म-दृष्टि रखता है। वह अपना आगा-पीछा विचार कर नैतिकता लिये रहता है। अपनी निर्लोभवृति मे ही वह अचौर्यव्रत की सार्थकता समझता है।

(४) ब्रह्मचर्याणुव्रती स्वदार सन्तोषव्रती होता है। एक नारी सदा ब्रह्मचारी का वह आदर्श होता है। अपनी धर्म-पत्नी के सिवाय संसार की शेष स्त्रिया उसे मा, बहन, बहू-बेटी सदृश होती है।

(५) परिग्रह परिमाणुव्रती धन और धान्य का, मकान और दुकान का, चल और अचल सम्पत्ति का, आने-जाने के क्षेत्र का, दैनिक जीवन मे यथा-वश्यक विविध व्रतो का, भोजन-पान वस्त्र-आभूषण जैसी भोग-उपभोग की सामग्री का निर्धारण करता है। शेष छोड़ देता है।

अणुव्रतो का सम्यक्रीत्या पालन करने के लिए गृहस्थ या अणुव्रती गुणव्रतो और शिक्षाव्रतो का भी पालन करता है। अणुव्रतो का समर्थन अन्य धर्मों के आचार्यों ने भी किया है। महर्षि पतजलि ने इन्हे यम कहा और गौतमबुद्ध ने पचशील सज्ञा दी, इस्लाम और ईसाई धर्म ने इनकी महत्ता स्वीकी। सूर्य सत्य तो यह कि अहिसा, सत्य, अस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह मे सभी धर्मों का समन्वित रूप समाया है। ये व्रतधर्म-दुग्ध के नवनीत हे और मानवीय जीवन के स्तर को उन्नत करने मे सहायक हैं।

ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की दिशा मे विशेषतया उदार हृदय विचारक अनुभव करेगे कि किस प्रकार इन व्रतो का जैन, बौद्ध और वैदिक धर्मों मे उल्लेख है। मूलभूत गूढार्थ तीनो धर्मों की भावनाओ का लगभग समकक्ष ही है।

(१) ब्रह्मचर्याणुव्रत—

अ तवेपु वा उत्तम बचचेर (जैन)
ब माते कामगुणे रमस्सु चित्त (बौद्ध)
स ब्रह्मचर्येण तपसा देवामृत्युमुपाध्नत् (वैदिक)

(२) अपरिग्रह अणुव्रत—

अ इच्छा हुआ आगास या अनन्तया (जैन)
ब तण्हक्खयो सव्व दुक्ख जिनाति (बौद्ध)
स मा गृधः कस्यस्विद धनम् (वैदिक)

अणुव्रती का चिन्तन

अणुव्रती श्रावक भली भांति जानता है कि उसे आठ मूल गुणो का धारण करना अनिवार्य है। इसके बिना वह श्रावक ही नही कहला सकता है। जैसे जड के बिना पेड नही ठहर सकता है वैसे ही आठ मूल गुणो को धारण किये बिना कोई भी गृहस्थ अपने लिए श्रावक नही कहला सकता सकता है। वह आठ मूलगुणो को धारण करके, सात व्यसनो का त्याग करके, बारह व्रतो का यथा-वश्यक पालन करके ही अपना अहोभाग्य समझता है। वह गृहस्थ के छह आवश्यक कार्यो को भी नही भूलता है। सक्षेप मे एक अणुव्रती अपने आचार-विचार मे उतनी समीपता लाता है, जितनी भी उससे शक्य और सम्भव होती है।

सामाजिक नियमो की दृष्टि से अणुव्रती विचारता है—

(१) मैं निरपराध प्राणी की सकल्प पूर्वक हत्या नही करूगा।

(२) धरोहर या न्यास स्वरूप रखी हुई वस्तु को नहीं लूगा, लौटा दूगा।

(३) दूसरो की वस्तु को चौर्य वृत्ति से नहीं लूगा बल्कि लौटा ही दूगा।

(४) मै नाप-तौल मे भूले भटके भी न्यूनाधि-कता नही करूगा।

(५) मैं अपने जीवन मे वेश्यागमन और पर-स्त्री सेवन का पाप नही करूगा।

(६) मतदान के सन्दर्भ मे मै वोट के लिए नोट कदापि नहीं लूगा, न दूगा।

(७) अपने बालक बालिका परिणय के प्रसग मे दहेज का लेन-देन नही करूगा।

राष्ट्रीय नियमो की दृष्टि से एक सुयोग्य अणुव्रती चिन्तन करता है।

(१) मै जाति, प्रान्त, भाषा और धर्म को लेकर सघर्ष को प्रोत्साहन नही दूगा।

(२) मै राष्ट्रद्रोहमूलक हिसात्मक प्रवृतियो मे कदापि भाग नही लूगा।

(३) मै भ्रष्टाचारिता व भाई भतीजावादी वृतियो को कदापि प्रश्रय नही दूगा।

(४) मै वस्तुओ मे मिलावट नही करूगा। मोल और तोल दोनो मे न्याय-दृष्टि रखूगा।

(५) मै फैशनपरस्ती से दूर रहूगा। सादा जीवन विताते हुये उन्नत विचार रखूगा।

(६) मैं धमनिष्ट, सत्साहसी, अध्यवसायी और सच्चरित्र व्यक्ति बनूगा।

(७) मैं बुरा न देखूगा, न कहूगा, न सुनूगा, सत्य शिव सुन्दरम् की ओर अग्रसर रहूगा।

अणुव्रत की विशेषतायें

क अणुव्रत धम की प्रथम सीढी है।

ख अणुव्रत दृष्टि का परिवर्तन है।

ग अणुव्रत व्यावहारिक बनने की प्रेरणा है।

घ अणुव्रत स्थूल रूप मे समभाव की साधना है।

ङ अणुव्रत, अतिभोग और अतित्याग दोनो के बीच का मध्यममार्ग है।

च अणुव्रत, दिव्य दृष्टि लिये सग्रह, हिंसा और उत्पीडन की भावना से परे है।

छ अणुव्रत, जैन (जितेन्द्रिय) का है, जन जन के मन मन का है।

ज अणुव्रत, एक धार्मिक व्रत है, जो वर्ग विषमता का विनाशक है।

झ अरगुव्रत, वर्ग, जाति, प्रान्त, देश, काल की सीमाओ से ऊपर है ।

ञ अरगुव्रत, दैनिक जीवन और स्वीकृत व्यवसाय मे पर्याप्त सुधार का इच्छुक है ।

अतएव अरगुव्रत के महत्व को स्वीकार कर प्रत्येक व्यक्ति को अरगुव्रती बनना चाहिये और आदमी अरगुव्रती तब ही बन सकता है जब वह सच्चे देव, सच्चे गुरु और सच्चे शास्त्र पर सही दृष्टि, सही विश्वास, सही ज्ञान और सही प्रवृत्ति रखे ।

जैसे निशाकर से निशा की शोभा है, कमल से तालाब की शोभा है, परिमल से पुष्प की शोभा है, प्रगय से परिगय की शोभा है, वैसे ही विश्वास से व्यक्ति की शोभा है, क्रिया से ज्ञान की शोभा है, चरित्र से जीवन की शोभा है और अरगुव्रत से समग्र मानव-समाज की शोभा है ।

अरगुव्रत की वास्तविकता

(१) अरगुव्रत वह नन्हा दीप है, जिसके विमल प्रकाश मे सही मार्ग दिख सकता है ।

(२) अरगुव्रत वह प्रेरणा है, जो नैतिक अभ्युदय और चारित्रिक विकासमय है ।

(३) अरगुव्रत वह दर्पण है, जो मानव के मानस मे हुई प्रतिक्रिया-प्रत्यावर्तन दिखाता है ।

(४) अरगुव्रत अनासक्ति का वह अल्प प्रयास है जो पापो से मुक्ति का इच्छुक है ।

(५) अरगुव्रत वह सक्षिप्त सयमित मार्ग है जो निर्लोभता सहिष्णुता सरलता लिये है ।

(६) अरगुव्रत सिखलाता है कि अहिंसा एक सर्वव्यापक तत्व और सर्वमान्य सिद्धान्त है ।

(७) अरगुव्रत बतलाता है कि सत्य की आराधना असाम्प्रदायिक चिन्तन मे है ।

(८) अरगुव्रत सिखलाता है कि अस्तेय व्रत की साधना के लिए पर्याप्त भगीरथ जैसा प्रयास है ।

(९) अरगुव्रत सिखलाता है कि ब्रह्मचर्य परम चरमतत्व है उसकी अरगुभर भी उपेक्षा उचित नही ।

(१०) अरगुव्रत कहता है कि सीमित साधनो मे असीमित कार्य करना ही अध्यवसाय है ।

(११) अरगुव्रत स्वास्थ्य और सौन्दर्य, लोक-जीवन मे दीर्घायु का मगल मूलक मन्त्र है ।

(१२) अरगुव्रत सद्भावना और शुभकामना का उद्दीपक और रक्षक तन्त्र है ।

(१३) अरगुव्रत सिखाता है कि समय कृति को पूजा का नही प्रत्युत् आचरण का है ।

(१४) अरगुव्रत सिखाता है धर्म महज चर्चा का विषय नही प्रत्युत् प्रयोग का है ।

(१५) अरगुव्रत की आचार संहिता ही आज के युग मे मानवता की आधार-शिला है ।

(१६) अरगुव्रत का सक्षिप्त सस्वर सशक्त उद्-घोष है कि सयम ही जीवन है ।

(१७) अरगुव्रत ही इस सक्रमरग काल मे अरगुबम के मार्ग को अवरुद्ध कर सकता है ।

(१८) अरगुव्रत ही आत्मनिरीक्षरग का वह मार्ग है, जो पुनर्जागरण के लिये सहज साध्य है ।

(१९) अरगुव्रत ही वह नीव का प्रस्तर है, जिस पर मुनि-जीवन का महल निर्मित होता है ।

(२०) अरगुव्रत ही वह मानवीय स्वभाव है, जिसे सभी अपना समझ अगीकार करेंगे ।

अणुव्रत विषयक विधि—निषेध

१—मैं मनसा वाचा कर्मणा सकल्प करके हिसा न स्वय करूगा, न दूसरो से कराऊगा, और कोई हिसा करेगा तो मैं समर्थन भी नही करूगा। इस विधि का पूर्णतया पालन करने के लिए मैं न तो मनुष्यो और पशुओ के अग छेदूगा, न उन्हे बाधूगा, न पीडा दूगा, न अधिक काम लूगा।

२—मैं मन-वचन-काय से जानबूझकर झूठ न तो स्वय बोलूगा, न दूसरो से बुलवाऊगा, न कोई बोलेगा तो मै अनुमोदन करूगा। अपनी स्वीकृत विधि की सुरक्षा के लिये मैं न तो दूसरो की बुराई करूगा, न दूसरो की गुप्त बात ही प्रकट करूंगा, न झूठे दस्तावेज बनाऊगा, न किसी की झूठी गवाही दूगा, न किसी की धरोहर रख लूगा, न न्यूनाधिक कमी-वेशी भी जानबूझ कर करूगा।

३—मैं रखी-भूली, गिरी-मिली हुई वस्तु को न स्वय लूगा, न दूसरो को दूगा, न अन्य से उसके लेने-देने बाबत अनुमोदन भी करूंगा। अपने इस व्रत का पालन करने के लिये न तो चोर से चोरी का माल लूगा, न किसी को चोरी करने की प्रेरणा दूगा। न चोरी की दृष्टि से शासकीय अथवा जातीय नियमो का उल्लघन करूगा। न समान सम्भावित पदार्थों मे सम्मिश्रण करूगा और न माप तौल के मीटर-किलो ग्राम मे भी हर फेर कमी-वेशी ही करूगा।

४—मै धर्म और पाप-भीरू होकर स्वदार सन्तोष-वृत्ति रखूगा और यह दान प्रवृत्ति से स्वय भी बचूगा तथा दूसरो को भी बचने की सलाह दूगा व उन्हे बचाऊगा। इस विधि का विधिवत पालन करने के लिये मैं न तो दूसरो के विवाह कराने मे रस लूगा, न अनिश्चित अगो द्वारा काम वासना की पूर्ति ही करूगा, न हसी मजाक दिल्लगी द्वारा ही दुष्प्रवृत्ति करूगा। न अधिक भोगो की तृष्णा रखूगा और न व्यभिचारिणी अभिसारिकाओ-वारागनाओ से ही सम्पर्क रखूगा।

५—मैं आरम्भ जनित हिसा-लालसा कम करने के लिये परिग्रह का परिमाण लूगा और उससे अधिक स्वय मैं भी नही चाहूगा। अपने इस व्रत को अक्षुण्ण अबाधित बनाने के लिए मैं सवारियो का प्रमाण रखूगा, उन्हे भी अधिक काल तक न रखूगा, न अधिक पाने के लिये विवाद करूगा। न लोभ प्रवृति मूलक कृपणता को प्रश्रय दूगा और न व्यर्थ की विडम्बना का बोझ ही मन-मति, मस्तिष्क पर लादूगा।

अणुव्रत निधि सदृश है। इसे कल्पवृक्ष भी कह दे तो कोई अतिशयोक्ति नही होगी। अहिसाणुव्रत के पालन मे यमपाल का, सत्याणुव्रत के पालन मे धनदेव का, अचौर्याणुव्रत के पालन मे वारिषेण का, ब्रह्मचर्याणुव्रत के पालन मे नीली का और परिग्रह परिमाणव्रत के पालन मे जयकुमार का नाम उल्लेखनीय है। एक अणुव्रत के पालन से जब आदमी पुराण पुरुष बन सकता है तब फिर पाच अणुव्रतो का पालन करके वह क्या नही बन सकता ? सब कुछ बन सकता है।

सक्षेप म निष्कर्ष स्वरूप निवेदन है कि अणुव्रत का महत्व अणु सा नही समझे अपितु जैसे आज के युग मे भयकर सहार के लिये अणुबम प्रसिद्ध है वैसे ही पापो के पर्वतो को ढाने के लिये अणुव्रत को वज्र समझें। आप उन्हे अधिकाधिक समझें और अगीकार करें ताकि आपके जीवन का धरातल उदार उदात्त और उन्नत हो।

आज इतना ही मुझे अणुव्रतः एक अनुचिन्तन मे लिखना है।

*अनेक बार धर्म-संकट उपस्थित हो जाने पर भी आजतक मैंने कभी धूम्रपान नहीं किया, मादक पेय नही पिया, अभक्ष्य का भक्षण नही किया। मेरा अटल विश्वास है कि प्रतिज्ञा मे बहुत बडा बल है । प्रतिज्ञा गिरते हुए मानव को एकदम थाम लेती है। असिधारा व्रत पर चलते हुये सौ मे से पाच पिछड भी जाते है, तो चिन्ता की बात नही है। तपे हुये विचारको की दृष्टि मे प्रतिज्ञा का उच्च स्थान है।

—श्री प्रकाश

†अणुव्रत व्रत आन्दोलन मे सभी धर्मों का निचोड है। यह मनुष्य को तग साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से बचाकर मानवता की ओर बढाता है। व्यक्ति के नैतिक चरित्र को ऊचा उठाकर राष्ट्र की आन्तरिक शक्ति को बल देता है।

—अकबर अली

विद्यार्थियो के चरित्र-निर्माण के लिये, उनके व्यक्तित्व के बहुमुखी विकास के लिये, नागरिको मे अनुशासन और सयम, सत्यनिष्ठा और सहिष्णुता, त्याग और सेवा के गुणो का विकास करने के लिये अणुव्रत आन्दोलन वाछनीय ही नही बल्कि आवश्यक भी है।

—बी एन. लूणिया

‡ (१) आचार्य समन्तभद्र ने पाच अणुव्रत और तीन मकार ये आठ मूलगुण माने है।

(२) आचार्य सोमदेव ने पाच उदम्बरफल और तीनमकार-ये आठ मूलगुण कहे है।

(३) आचार्य जिनसेन ने पाच अणुव्रत व मद्य मास द्यूतत्याग-ये आठ मूलगुण माने है।

(४) आचार्य आशाधर ने पाच उदम्बरफल, मद्यमासमधु, पचपरमेष्ठी को नमस्कार, जीवदया और पानी छानकर पीना ये आठ मूलगुण माने है।

सप्तव्यसन— जुआ खेलन मास मद, वेश्या-व्यसन-शिकार।
चोरी पर रमणी रमण, सातो व्यसन निवार ।।

छह आवश्यक— देव पूजा गुरूपास्ति स्वाध्यायस्तप सयमः।
दानं चेति गृहस्थाणा षटकर्माणि दिने दिने ।।

अन्तिम वर

(श्रद्धेय स्व० पं० चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ)

बहता बहता अब आया हूं तेरे श्री चरणो में भगवन्
मैं अपने को लाया हूँ !

अहंकार के ग्रह मे अटका, पता न पाया तेरे तट का
भूला इस दिन तथ्य को—मैं तेरी छाया हूँ !

कभी न जाना क्या अपना है, क्या जीवन सचमुच सपना है,
क्या यह भी कहना, जगना है, तू है मेरा आत्म तत्त्व—
औ मैं तेरी काया हू !

केवल अब यह वर पाना है, इसीलिए मेरा आना है,
फिर न कहू तेरे समक्ष मैं—मैं तेरी माया हू !
तेरे श्री चरणो में भगवन् मैं अपने को लाया हूं।

निक्षेप का महत्व

—पं० वासुदेव शास्त्री
साहित्याचार्य (राजस्थान एव दरभगा)
साहित्यरत्न, अनुसधानकर्ता विद्यावारिधि वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय,
प्राध्यापक राजस्थान संस्कृत कालेज, महापुरा

"पदार्थों का शब्द में और शब्दों का पदार्थ में आरोप निक्षेप या न्यास कहलाता है, अथवा पदार्थों के भेद को या प्रमाण और नय के अनुसार प्रचलित लोक व्यवहार को न्यास या निक्षेप कहते हैं। निक्षेप शब्दों में होता है अत नाम, स्थापना आदि शब्दों के भेद समझना चाहिये।"

'जीव, अजीव, आस्रव, बध, संवर, निर्जरा और मोक्ष' जैन दर्शन इस प्रकार सात तत्वो का प्रतिपादन करते हुए कहता है कि नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव से इनका न्यास करना चाहिये। तत्त्वार्थ सूत्रकार श्रीमदुमास्वाति ने मोक्षमार्ग शास्त्र के चौथे और पाचवें सूत्र मे ऐसाही कहा है– "जीवाजीवास्रवबधसवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्व ॥४॥ नामस्थापनाद्रव्यभाव तस्तन्न्यासः ॥५॥ निक्षेप, न्यास, विन्यास, आरोप आदि शब्द पर्यायवाची है। शब्द भेद होते हुए भी इनमे अर्थ भेद नही है। पदार्थों का शब्द मे और शब्दो का पदार्थ मे आरोप निक्षेप या न्यास कहलाता है, अथवा पदार्थों के भेद को या प्रमाण और नय के अनुसार प्रचलित लोक व्यवहार को न्यास या निक्षेप कहते हैं। निक्षेप शब्दो मे होता है अतः नाम, स्थापना आदि शब्दो के भेद समझना चाहिये।

भारतीय आचार्यों ने नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात इस प्रकार मे सम्पूर्ण शब्दो के चार

भेद किये हैं। ससार के प्रचलित सारे शब्द इन भेदो मे ही अन्तर्गभित हो जाते हैं। जिस शब्द द्वारा पदार्थ को कहा जाय वह नाम कहलाता है। इसी को सज्ञा और अ ग्रेजी मे नाउन (Noun) कहते हैं। जाति वाचक, व्यक्तिवाचक, भाववाचक, समूहवाचक आदि भेद इस ही के होते है। जाता है, खाता है, पीता है, आदि क्रिया वाची शब्द आख्यात कहलाते हैं जिन्हें अ ग्रेजी मे वर्ब (Verb) कहते हैं। क्रिया से पहले लगकर जो शब्द उसके अर्थ मे परिवर्तन कर देते हैं वे उपसर्ग कहलाते हैं जैसे 'गम्' क्रिया का अर्थ जाना है इसमे पहले 'आ' उपसर्ग लगाने पर आना अर्थ हो जाता है और इससे पहले प्रति लगाने से 'प्रत्यागमन' अर्थात् लौटना अर्थ हो जाता है। गम् से पूर्व अनु लगाने पर अनुगमन अर्थात् पीछे पीछे चलना अर्थ हो जाता है।

कुछ शब्द ऐसे है जो व्याकरण के नियमो से नही बनते किन्तु लोक मे प्रचलित हो जाते है। 'अहो' शब्द आश्चर्य अर्थ मे व्याकरण के किसी नियम से नही बनता। 'एव' की भी यही स्थिति हैं। ऐसे शब्द निपात कहलाते हैं।

कुछ आचार्य जाति, क्रिया, गुण और शब्द इस प्रकार शब्दो के चार भेद करते हैं। गौ, घट, पशु आदि ऐसे शब्द जिससे समान धर्म वाले समस्त पदार्थों का बोध हो जाति वाचक शब्द कहलाते हैं। गो कहने पर गोत्व धर्मी सारे पशुओं का बोध होता है और घट कहने पर घटत्व धर्मी पदार्थ का। एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ की जो भिन्नता प्रदर्शित करता है वह गुण ही धर्म कहलाता है। यहा धर्म शब्द मे जैनधर्म बौद्धधर्म आदि शब्दों मे प्रचलित जो धर्म का अर्थ है वह नही लेना चाहिये। कुछ आचार्य इन भेदो मे द्रव्य और जोडकर शब्दो के पाच भेद करते है। इनमे मोटा, छोटा, पतला, ये शब्द गुणवाची कहलाते हैं। डित्थ कपित्थ आदि यदृच्छा शब्द हैं अर्थात् अपनी इच्छा से ही कोई शब्द प्रयोग करना। गायक, नायक आदि क्रिया शब्द है। द्रव्य शब्दो के दो भेद है सयोगी और समवायी। किसी पदार्थ से सयोग रखने के कारण उसे जो नाम दिया जाता है वह सयोगी कहलाता है जैसे दण्डा रखने वाले को दण्डी कहना। जो द्रव्य से भिन्न नहीं हो सकता वह समवाय सबध कहलाता है जैसे लगडा, बहरा आदि।

इस प्रकार विद्वानो ने शब्दो के और भी कई प्रकार से भेद किये है। जैनो के नाम आदि जो भेद है वे केवल सज्ञा शब्दो के है। अन्य प्रकार के शब्दो से इनका कोई सबध नही है। अन्य शब्दो मे जो निक्षेप या न्यास नही हो सकता उसका कारण यह है कि वे पदार्थ वाचक नही है। इसका अर्थ यह भी है कि प्रत्येक सज्ञा शब्द के कम से कम चार अर्थ तो अवश्य ही होगे। इससे अधिक होने मे कोई बाधा नही है। निक्षेप अथवा न्यास प्रक्रिया की सफलता अथवा उपयोगिता यह भी है कि वह प्रकरण सगत अर्थ का कथन करती है और अप्रस्तुत अथवा अप्रकृत अर्थ का निरसन करती है अर्थात् सज्ञा शब्द के जितने भी अर्थ होगे अथवा होते है उनमे से निक्षेप वक्ता के अभिप्राय को ही ग्रहण करती है अन्य अर्थों को नही।

एक शब्द लीजिये 'महावीर' बिना वीरत्व गुण की अपेक्षा लिये किसी का नाम महावीर है, इस प्रकार शब्द का व्यवहार नाम निक्षेप कहलायेगा। महावीर की मूर्ति अथवा चित्र बनाकर उसको महावीर जैसा ही मान लेना स्थापना निक्षेप का कार्य है। यह स्थापना दो प्रकार की १-तदाकार और २-अतदाकार होती है। हाथी के चित्र या मूर्ति को हाथी कहना तदाकार स्थापना है और शतरंज के मोहरे को हाथी कहना अतदाकार स्थापना है। आगामी परिणमन की अपेक्षा लेकर वर्तमान मे ही उसका आरोप द्रव्य निक्षेप है जैसे

महावीर के पूर्वभव मे ही आगामी पर्याय की अपेक्षा उसे महावीर कहना अथवा कोई भविष्य मे राजा होने वाला है उसे वर्तमान मे ही राजा कहना। भाव निक्षेप वर्तमान परिणमन को ही ग्रहण करता है। महावीर जब वीरता का ही कार्य करे तब ही वह महावीर अन्य समय नही।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शब्दो का अर्थ करने मे निक्षेप का कितना महत्व है ?

●

महावीर वाणी

अनेक प्रकार के बहुमूल्य पदार्थों से परिपूर्ण यह समग्र विश्व भी यदि किसी एक मनुष्य को दे दिया जाय तब भी वह सन्तुष्ट नही होगा। ओह ! मनुष्य की यह तृष्णा बड़ी दुष्पूर है।

—श्री सीबनकर

अभ्यर्थना

(श्रद्धेय स्व० पं० चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ)

(१)

जहा प्रलय की घोर काली, रात का आना न होता।
वेदना के कौशिको का, औ कभी गाना न होता।
वह अमरता का समुज्ज्वल, दिवस तू मुझको दिखादे ।।

(२)

विषमता का विष जहा पर लेश भी रहता नही है।
क्लेश विप्लव द्रोह चिन्ता, की जहा रेखा नही है।
उस चिरन्तन शान्ति के, साम्राज्य का राजा बनादे ।।

(३)

सत्य के आलोक से जहा, वासनाए भाग जाती।
औ निरापद चिन्तनाए, जहा सदा विश्राम पाती।
वह निरापद धाम भगवन् ! है कहा मुझको बतादे ।।

(४)

हेय औ आदेय उद्भव, मृत्यु की जहा कल्पनाये।
लुप्त हो जाती तुम्हारा मै, मेरा तू जल्पनाए ।
उस सनातन सत्य मे ह नाथ तू मुझको मिलादे ।।

मानव का प्राकृतिक भोजन : शाकाहार

डॉ० नरेंद्र भानावत
एम ए. पी-एच. डी.

"मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह समाज में शान्ति, प्रेम और सहयोग का वातावरण बना कर रहना चाहता है। यह भावना तभी साकार रूप ले सकती है जब मानव अपने खान, पान, रहन-सहन और आचार विचार में स्वस्थ और शुद्ध हो। · · "

सभी प्राणी जीना चाहते है, मरना कोई नही चाहता फिर किसी जीव को मारना ही नही, मार-कर उनसे अपना पेट भरना कितना जघन्य अपराध है ? युगो-युगो से भारतवासी शाकाहारी रहे है। शाकाहार की इस सनातन प्रवृत्ति के पीछे सामान्यत. धर्म-भावना ही प्रेरक कारण रही है। आज की तरुण पीढ़ी केवल धर्म की कसौटी पर किसी चीज को स्वीकार कर ले, इस की सभावना बहुत कम रह गई है। अत. यह अनिवार्य हो गया है कि शाकाहार की महत्ता और उपयोगिता का विवेचन सामाजिक, वैज्ञानिक, आर्थिक, नैतिक, शारीरिक, स्वास्थ्य आदि सभी दृष्टियो से किया जाय। आज पश्चिमी राष्ट्र भी मांसाहार को छोड़कर शाकाहार की ओर आकृष्ट हो रहे हैं। इसके मूल मे धार्मिक भावना उतनी नही जितनी तार्किक शक्ति और वैज्ञानिक बुद्धि है। ज्ञान-विज्ञान के विकास ने आज यह सिद्ध कर दिया है कि मानव का प्राकृतिक

भोजन-फल, शाक और अन्न है, मास, मद्य और अण्डे नहीं।

आदि मानव अहिंसक था :

"आदि मानव शिकारी था और पशु-पक्षियों का वध कर जीवन-निर्वाह करता था"—यह बात भ्रामक ही नही गलत भी है। जैनग्रन्थो मे इस काल को 'भोग-भूमि' कहा गया है और बताया गया है कि तब प्राणियो मे तामसी विषमता जगी ही नही थी। वे प्रकृति के होकर ही रहते थे। अर्थात् प्रेम से प्रेम मे उत्पन्न हुए वे प्रेम मे ही बढ़ते, पलते और जीते थे। कल्पवृक्षो के सहारे ही उनका जीवन चलता था। जैन ही नही वैदिक और बौद्ध मान्यताए भी आदि मानव को अहिसक और शाकाहारी सिद्ध करती है। यही नही भारतेतर धर्मग्रथो-कुरान, बाइबिल-आदि ने भी इसी बात की पुष्टि की है। पुरातत्व इस बात का साक्षी है कि हमारी सस्कृति वृक्षो की छाया मे ही पली और पनपी। विभिन्न खुदाइयो से पता चलता है कि आदि मानव और पशु मे प्रगाढ़ प्रेम था। मार-काट का दुर्भाव तो उसमे सभ्यता के साथ आया जब वह स्वार्थ मे अन्धा हो चला था। इलियट स्मिथ का यह कथन सही है कि कृषि युग पहिले मानव सुख-शाति से परिपूर्ण स्वर्ण-युग मे रहता था।

शाकाहार नैतिक कसौटी पर

ससार का प्रत्येक प्राणी आत्मत्व की दृष्टि से समान है। सभी प्राणियो मे मानव अधिक विवेकशील और सवेदनशील होता है फिर भला वह मासाहार का सेवन कर कैसे नैतिक बना रह सकेगा? जब मासाहार किया जाता है तब किसी न किसी पशु-पक्षी की हत्या अनिवार्य रूप से की जाती है। हो सकता है यह हत्या मासाहारी स्वय न करे और पेशेवर लोगो द्वारा हो। पर इससे हिंसा की नृशसता और पाशविकता मे कोई अतर नही पड़ता। अपना ही पेट भरने के लिए किसी जीव की हत्या करना प्रकारान्तर से स्वय मानवता की हत्या करना है। जब तक मनुष्य हृदय-हीन न हो जाय, अपने अतस्तल से करुणा और दया की भावना न हटा दे तब तक वह दूसरो की हत्या जैसा क्रूर कर्म कर ही नही सकता और यदि ऐसा जघन्य कार्य करता है तो समझ लो वह दया, पर दुख-कातरता, प्रेम, सहानुभूति आदि सभी दैविक गुणो पर कुठाराघात करता है। उनके मूल उत्स को रोककर समाज मे हिसा, क्रूरता, द्वेष आदि दुर्गुणो का प्रचार कर समस्त मानवता को अनैतिक, निर्मम और हिंसक बनाता है। शाकाहार मे मानव अपने हृदय की सात्विक वृत्तियो की ही रक्षा नही करता वरन् शाक, फल, वृक्ष, गिरि, लता आदि प्रकृति के विभिन्न अगो के साथ आत्मीय सबध स्थापित कर अपनी आत्मा का विस्तार भी करता है।

शाकाहार का सामाजिक पक्ष :

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह समाज मे शाति, प्रेम और सहयोग का वातावरण बनाकर रहना चाहता है। यह भावना तभी साकार रूप ले सकती है जब मानव स्वय अपने खान-पान, रहन-सहन और आचार-विचार मे स्वस्थ और शुद्ध हो। महावीर, बुद्ध, कन्फ्यूसियस, लाउत्से, जुरउस्त, ईसा, कबीर, नानक, गाधी आदि समाज-सुधारको ने सामाजिक हित और वैयक्तिक प्रसन्नता के लिए शाकाहार को रामबाण दवा बताया। यही भाव वह नीव का पत्थर है जिस पर "सादा जीवन और उच्च विचार" का प्रासाद खड़ा किया जा सकता है।

पर हैरानी तो तब होती है जब समाज-कल्याण के नाम पर मासादि सेवन का प्रचार किया जाता है। यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि मासादि-सेवन से स्नावियक उत्तेजना बढ़ती है। डा० ट्राल ने इस उत्तेजना को ऐसा रोग बतलाया है जो शारीरिक

व्यवस्था-क्रम के व्यतिक्रम से उत्पन्न होता है और समाज मे विषमता फैलाता है।

मासाहारी अपनी जिह्वा पर काबू नही रख सकता। वह भूख से अधिक खाता है। पाचन-शक्ति के मद पड जाने से वह उसे पचा नही सकता तब मद्य की ओर दौडता है और नशा करने की बुरी आदत सीख लेता है। इसका परिणाम यह होता है कि एक ओर तो वह अधिक खर्च करके कर्जदार बनता है, समाज का आर्थिक सतुलन बिगाडता है, पारिवारिक पवित्रता नष्ट करता है और दूसरी ओर समाज मे व्यभिचार फैलाता है, भयकर दुर्घटनाए उपस्थित कर हजारो निरपराध प्राणियो के जीवन से खेलता है। जार्ज वर्नाडशा ने एक जगह पशु-पालन की विडम्बना पर व्यग्य करते हुए लिखा है कि लाखो मानव, चाहे वे पशु पालक गडरिये हो अथवा कसाई, सभी उस समय तक पशु की सेवा-सुश्रूषा करते है जब तक वह जीवित है– उसे खिला-पिला कर खूब मोटा-ताजा बनाते है और अन्त मे उसी के घातक बन जाते है, इससे अधिक वचकता और क्रूरता क्या हो सकती है? सामाजिक स्वस्थता, पवित्रता और सहकारिता के लिए यह अनिवार्य शर्त है कि व्यक्ति निरामिष हो, स्नेहशील हो।

शाकाहार और शरीर विज्ञान :

आत्म-विकास का साधक होने के कारण वनस्पत्याहार ही निर्विवाद रूप से मानव का स्वाभाविक भोजन है। पाश्चात्य विज्ञानवेत्ता शरीर-रचना के तुलनात्मक अध्ययन से इस निष्कर्ष पर पहुँचे है कि मानव प्रकृति से फलाहारी जीव है। मानव की शरीर-रचना की भिन्नता यह सिद्ध करती है कि मानव का स्वाभाविक भोजन मास नही है। डा० बेमली ने भेड़, कुत्ता, बिल्ली, खरगोश, और बन्दर की खोपडियो का मनुष्य की खोपडी के साथ तुलनात्मक परीक्षण कर यह निष्कर्ष निकाला कि मनुष्य बदर की खोपडी के अति निकट है। मनुष्य और बन्दर के दाढ व दात भी एक समान है। इससे सिद्ध है कि मनुष्य शरीरत. बदर की तरह फलाहारी जीव है। मनुष्य की राल (थूक) भी कुत्ते, बिल्ली आदि माम भक्षी पशुओ से भिन्न प्रकार की होती है। कुत्ते, बिल्ली आदि मास-भक्षी पशुओ के पेट मे हाइड्रोक्लोरिक-एसिड (आम्ल) का अनुपात मानव के पेट से लगभग दस गुना अधिक होता है।

डा० राबर्ट एण्डरसन ने भी स्पष्ट किया है कि मानवीय पेट की आकृति मास-भक्षक पशुओ से भिन्न है क्योकि उनकी आत छोटी और जिगर बडे होते है जबकि मानव की आतें बडी और जिगर छोटे होते है। मासभक्षी पशुओ के बडे बडे जिगरो से जो रस झरता है वह भी इतना तीव्र होता है कि हड्डी को हज्म कर लेता है, जबकि मानव के जिगर से वैसा तीव्र रस नही झरता।

पाचन-क्रिया की दृष्टि से भी मासाहार शरीर के अवयवो को जड और कुठित बनाता है। मासाहारी अपने पेट मे ऐसी वस्तु डालता है, जिसमे शरीर के पाचन सबधी अवयवो का बहुत कुछ काम बाहर ही हो चुका होता है। दूसरे शब्दो मे जो काम मनुष्य की जठराग्नि को करना होता है यह काम पशु-पक्षी आदि की जठराग्नि पहले ही कर चुकी होती है। शरीर रचना और पाचन प्रक्रिया को देखते हुए हम सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुचते है कि शाकाहार ही मानव का स्वाभाविक भोजन है। ब्रिटेन के प्रसिद्ध साहित्यकार शा शाकाहार के बडे समर्थक थे। कहा जाता है कि एक बार उन्हे एक भोज मे सम्मिलित होने का निमन्त्रण मिला। उस भोज मे शाकाहारियो के लिए कोई चीज नही थी। एक सलाद ही ऐसा था, जिसे खाया जा सकता था। भोज शुरू हुआ। सब लोग भोजन करने लगे। शा बेचारे पहले तो चुप बैठे रहे। फिर सलाद ही खाने लगे। यह देखकर उनके पास बैठे हुए एक सज्जन बोले—मिस्टर शा! इतनी स्वादिष्ट चीजो के होते हुए भी आप यह क्या खा रहे हैं? इस पर

द्या ने बड़ी सादगी से उत्तर दिया—"मेरा पेट कब्रिस्तान नही है, महोदय ! इसमे केवल साग-सब्जियो के लिए जगह है, मुर्दों के लिए नही।"

शाकाहार और स्वास्थ्य :

कहने वाले कहते हैं कि मासाहार बलवर्द्धक होता है पर मास है क्या ? वह शाकाहार से बना हुआ एक शारीरिक तत्व ही तो है। सामान्यत मास उन्ही प्राणियो का ग्रहण किया जाता है जो शाक-पात से जीवनयापन करते है अत. यह मान लेना न्यायसगत है कि मास शाक-पात के भोजन से बना हुआ ही एक पदार्थ है । जब सच्चाई यह है तो फिर उन्ही वस्तुओ को क्यो न खाया जाय जिनसे मास बनता है। विभिन्न प्रकार की प्रवृत्ति वाले पशु-पक्षी जब विभिन्न प्रकार के खाद्य पचाकर मास तैयार करते है तब उस मास के साथ उस प्राणी विशेष के तत्व भी मिलते हैं। मनुष्य जब ऐसे मास का सेवन करता है तब वह प्रकारान्तर से उस प्राणी विशेष की प्रकृत्ति को भी अपनाता चलता है। यही कारण है कि मासाहारी मे सात्विक बल की अपेक्षा पाशविक शक्ति, करुणा की अपेक्षा क्रोधावेश और शाति की अपेक्षा उथल-पुथल की त्वरा अधिक पाई जाती है। इसे बल नही उद्वेग कहना ज्यादा ठीक होगा।

सच्चे सात्विक बल की प्राप्ति का सरल और समुचित साधन शाकाहार है। डा० टाल्वाट का कहना है कि जिन सोलह तत्वो की हमारे शरीर-निर्माण के लिए आवश्यकता होती है वे सब शाकाहार मे निहित है। प्रोटिन, कार्बोहाइडेट, चर्बी, खनिज, विटामिन आदि जो तत्व सतुलित आहार के लिए आवश्यक माने गये है वे सब शाकाहार मे यथेष्ट मात्रा मे पाये जाते है। डाक्टरो का तो यहा तक कथन है कि दूध, गिरी, मटर आदि पदार्थों से प्राप्त प्रोटीन अधिक शुद्ध और लाभप्रद होता है जबकि मासादि से प्राप्त प्रोटीन अशुद्ध और हानिकर, क्योकि मासजन्य प्रोटीन मे टोक्सिक, फजला, मूत, कीटाणु, भय आदि कारणो से उत्पन्न विष, केसर को पैदा करने वाला अ श आम्लिक तेजाब आदि मिला रहता है।

सच बात तो यह है कि दीर्घायु और सुखी जीवन के लिए शाकाहार ही सर्वोपरि दवा है। डा० एन्डरसन ने ठीक ही लिखा है कि नियत समय में मानव की आत मास-सेवन से उत्पन्न जो टोक्सिन है उसे नही रोक पाती और वह टोक्सिन रक्त मे मिलकर रक्त को विषाक्त बना देता है जिससे बड़े-बड़े राज रोग उत्पन्न हो जाते है।

शाकाहार का आर्थिक पहलू :

मास स्वत. एक महगा पदार्थ है और फिर वह बिना घी मसाले के नही खाया जा सकता। जिस देश मे जनसाधारण को भरपेट रोटी नही मिलती हो, उस देश के लिए मासाहार की व्यवस्था हास्यास्पद नही तो क्या है ?

उत्पादन की दृष्टि से देखने पर भी पता चलता है कि दो बीघा भूमि मे कम से कम बारह मन शाक व अन्न दोनो फसलो मे पैदा किया जा सकता है जबकि उसी भूमि पर दो बैलो तक का निर्वाह भी नही हो सकता। अर्थशास्त्रियो के अनुसार मासोत्पादन से अन्नादि का उत्पादन दस गुना और शाक-भाजी का उत्पादन सौ गुना अधिक होता है।

जीओ और जीने दो :

इन सभी दृष्टियों से विचार करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि मासाहार हमे विकृति की ओर ले जाता है जबकि शाकाहार प्रकृति की ओर। हमे यह स्मरण रखना चाहिए कि मानव खाने के लिये नही जन्मा है, वह जीवित रहने के लिये खाता है। उसके जीवन की सफलता और सार्थकता इसी मे है कि वह स्वय सुख से जीये और दूसरो को भी सुख से जीने दे। यह तभी सभव है जब वह अपने प्राकृतिक भोजन फल, शाक और अन्न पर ही निर्भर रहे।

मानवता के उपदेष्टा महाश्रमण महावीर

डॉ० कस्तूरचंद कासलीवाल
एम. ए., पी-एच. डी.

आज महावीर जयन्ती है। देश विदेश में महाश्रमण महावीर के उपदेशो के प्रचार का दिन है। साम्प्रदायिकता, वर्गभेद, ऊच नीच एवं शासन के अत्याचारो से पीडित मानवता के उद्धार का दिवस है। सर्वजीव समभाव, सर्व धर्म समभाव एव समाजवाद के पथ पर आगे बढने की प्रतिज्ञा लेने का अवसर है। लेकिन प्रतिज्ञा लेने मात्र से अथवा उनके उपदेशो के श्रवण मात्र से काम चलने वाला नही है। गत अढ़ाई हजार वर्षों से समस्त भारतीय समाज एव विशेषत. जैन समाज इन उपदेशो को हर वर्ष दुहराती है। जीवन मे उतारने की प्रतिज्ञा लेती है। इनकी महत्ता का गुणानुवाद करने मे भी नही थकती लेकिन फिर भी जो स्थिति कल थी वही आज भी है। यदि एक वर्ग भी भगवान महावीर के सिद्धान्तो को अपने जीवन मे उतार ले तो वह सचमुच आदर्श बन जावे। लेकिन ऐसा नही होता और यही मानव की सबसे बड़ी कमजोरी है।

"यह प्रथम अवसर था जब किसी धर्माचार्य ने जनभाषा में प्रवचन दिया हा इसलिये असख्य जन उनकी धर्म सभाओं में जाने लगे और अपने का धन्य समझने लगे। अब तक धर्म एक वर्ग की ही बपौती थी। पूजा स्तवन करना उसी के अधिकार में था। ग्रन्थों के पढने और पढ़ाने का कार्य भी उन्होंने ही ले रखा था। धर्म धर्म न रहकर पाखण्ड बन गया था इसलिये जनता उनसे ऊब चुकी थीं।"

फिर भी महापुरुषो का स्मरण गुणानुवाद करना अच्छा ही है।

भगवान महावीर पहिले मानव थे और बाद मे तीर्थंकर और भगवान। उन्होने मानव के रूप मे जन्म लेकर मानव जीवन की सार्थकता की उद्घोषणा की थी। साथ ही स्वर्ग के देवो मे भी मानव जीवन के प्रति ईर्ष्या पैदा करदी थी। जन्म लने के पश्चात् उनकी अलौकिकता, सूझ, बूझ, निर्भयता एव उदारता की सर्वत्र चर्चा होने लगी। तीर्थंकर को अपने बीच पा मानवता धन्य हो गई लेकिन देवत्व ईर्ष्या मे जल भुन गया। इसलिये महावीर के बाल्य जीवन मे ही उन्होने उनकी परीक्षा ले डाली। कहते है जब वे उद्यान मे अपने समवयस्क मित्रो के साथ खेल रहे थे तो एक देव भयकर सर्प के रूप मे उनके बीच मे चला गया। सर्प भी क्या था साक्षात महाकाल का ही दूसरा रूप था। उसे देखते ही सभी बालको के होश उड गये। वे अपने प्राण बचा कर भागने लगे। लेकिन महावीर घबराये नही। उन्होने उस सर्प को पकड कर एक ओर काफी दूर फेक दिया। इसके पश्चात् उनके जीवन मे और भी कितनी ही घटनाए घटी। सभी पर उन्होने सफलता पूर्वक विजय प्राप्त की।

महावीर क्षत्रिय राजकुमार थे। उनके पिता सिद्धार्थ वैशाली के समीप ही स्थित कुन्ड ग्राम के शासक थे। माता त्रिशला तत्कालीन सम्राट चेटक की बहिन थी इसलिये जन्म से ही उन्हे सभी सुख सुविधाएं उपलब्ध थी। अपार सम्पत्ति थी, पुलिस और फौज थी, शासन करने को प्रजा थी। लकिन महावीर इनसे महान नही कहलाये, यदि सम्पत्ति एव वैभव ही महानता का सूचक हो तो न जाने इस जगत मे कितने सम्राट राजा महाराजा एव सेठ हो गये। आज वे काल के गर्त मे इस तरह चले गये जस कभी हुए ही नही थे। बचपन मे ही महावीर चिन्तनशील रहने। वे कभी अपने महलो से कभी राज मार्ग से मानवता को कराहती हुई देखते। ऊच नीच का भेदभाव भूख प्यास एव भय से आतकित मानव के भावो को सहज ही वे पढ लेते और फिर घन्टो इन्ही प्रश्नो पर विचार किया करते। वे जब पूर्ण युवा हुए तो माता-पिता ने उनके विवाह की चर्चा की। राजा महाराजाओ ने अपनी अपनी राजकुमारियो का प्रस्ताव प्रस्तुत किया। प्रजा अपनी युवरानी के दर्शन के लिये अधीर हो उठी। उन्हे राज्य की दुहाई दी गई। वश परम्परा के समाप्त होने का भय दिखाया गया। माता पिता की वृद्धता का अनुभव प्रस्तुत किया गया लेकिन महावीर ने कहा कि वैवाहिक जीवन के सुखो को भोगते हुए उन्हे न जाने कितने ही जन्म व्यतीत हो गये लेकिन सुख का कभी आभास नही हुआ।

बत्तीस वर्ष की युवा अवस्था मे ही उन्होने घर छोड दिया और निग्रन्थ प्रव्रज्या धारण करली। दिशाऐं ही उनका परिधान बन गई। राज महलो का स्थान सुनसान जगलो गुफाओ एव पर्वत शिलाओ ने ले लिया। षट् व्यजन के स्थान पर दिन मे एक बार अहार ग्रहण और वह भी खडे खडे हाथो मे ही लेना प्रारम्भ कर दिया। कुछ गिनती के ग्रास लेना उनकी साधना का अग बन गया। फिर भी कभी कभी उन्हे निराहार रहना पडता। कितने ही दिन, सप्ताह पक्ष एव मास बीत जाते और वे अहार के लिये गमन भी नही करते। भाग्य के थपेडे खाती हुई राजकुमारी चन्दनबाला ने भगवान महावीर को उनके लम्बे उपवास के पश्चात् उबले हुए कोदो के बीज का जब अहार दिया तो देवताओ ने उस सती पर पुष्प वर्षा की थी। इस तरह १२ वर्ष के एक लम्बे समय तक वे घोर साधना मे लीन रहे। भयकर सर्दी, गर्मी एव वर्षा उन्हे जरा भी विचलित नही कर सका। सर्दी मे नदी के किनारे, गर्मी मे

शिलातल पर एवं वर्षा मे पेड के नीचे वे ग्रात्म चितन करते । उनकी तपस्या के सामने बड बडे ऋषि महर्षि लज्जित हो जाते ग्रौर मौन रूप से ही उन्हे ग्रपना गुरु मान लेते ।

४२ वर्ष की ग्रवस्था मे वैशाख शुक्ला १० के दिन उन्हे कैवल्य हो गया । वे सर्वज्ञ कहलाने लगे । तीन काल एवं तीन लोको का ज्ञान उन्हे स्पष्ट हो गया । उन्होने ग्रात्म तत्व को जान लिया । उनकी वर्षो की साधना सफल हो गई । मानवता को विनाश से बचाने एव सुख पथ मे लगाने का उनका स्वप्न साकार हो गया । श्रावण कृष्ण प्रतिपदा के दिन उनकी प्रथम देशना हुई । राजगृही मे विपुलाचल पर्वत पर स्वग के इन्द्रो ने एक भव्य सभा भवन का निर्माण किया जिसमे मानव को ही नही पशु पक्षी तक के लिये धर्म श्रवण करने की पूरी छूट दी गई । उनकी धर्म सभा मे ऊच नीच, गरीब ग्रमीर, छोटा बडा कुलीन ग्रकुलीन का कोई प्रश्न नही था । सभा भवन गोल ग्राकार मे था । जो १२ स्थानो मे विभक्त था । इनमे स्वर्ग के देवी देवता, मनुष्य एव तिर्यंच सभी ग्रपने ग्रपने नियत स्थान पर बैठकर धर्मश्रवण करके ग्रपने जीवन को सफल बनाते । भगवान महावीर मध्य म विराजते थे इसलिये सभी श्रोताग्रो के लिये वे समान दूरी पर थे । संस्कृत भाषा के स्थान पर उन्होन तत्कालीन जन भाषा ग्रर्ध मागधी प्राकृत को ग्रपनाया ग्रौर उसी मे उन्होने ग्रपना प्रवचन देना प्रारम्भ किया । यह प्रथम ग्रवसर था जब किसी धर्माचार्य ने जन भाषा मे प्रवचन दिया हो । इस लिये लोग उनकी धर्म सभाग्रो मे जाने लगे ग्रौर ग्रपने को धन्य समझने लगे । ग्रब तक धर्म एक वर्ग की ही बपौती थी । पूजा वदना स्तवन करना उसी के ग्रधिकार मे था । ग्रन्थो को पढना ग्रौर पढाने के कार्य भी उन्होने ले रखे था । धम धर्म न रहकर पाखन्ड बन गया था इसलिये जनता उनसे ऊब चुकी थी ।

भगवान महावीर ने धर्म के एक धिकार को समाप्त कर उसे प्राणी मात्र के लिये सुलभ बना दिया । स्वर्ग ग्रौर मोक्ष के द्वार जो एक वर्ग के लिये सदा के लिये बन्द कर दिये गये थे भगवान महावीर ने उन्हे बिना किसी जाति गत भदभाव के सभी के लिये खोल दिये । जन्म से ऊच नीच की भावना पर उन्होने बडा प्रहार किया । कर्म से ही मनुष्य ब्राह्मण कहलाता है ग्रौर कर्म से ही क्षत्रिय वैश्य एव शूद्र कहलाता है ।" इस सिद्धान्त को जन जन तक पहुँचा दिया । उन्होने प्राणी मात्र से प्रेम करने की उदघोषणा की तथा प्राणी हिंसा को जघन्यतम ग्रपराध घोषित किया । ३० वर्ष की ग्रवधि तक देश देश के कोने कोने मे बिहार करके उन्होने उस समय के वातावरण को ही बदल दिया ग्रौर उसे नया जीवन प्रदान किया । लोगो को दमघोटू जीवन से मुक्ति मिल गई ग्रौर जीवन का ग्रानन्द ग्राने लगा । देश के लाखो करोडो व्यक्ति उनके ग्रनुयायी हो गये । महावीर जहा भी विहार करते उनके लिये सभागृह बनाया जाता ग्रौर इसमे सभी वर्ग जाति एव व्यवसाय के लोग सम्मिलित होते । उन्होने थोडे समय मे ही धर्म के पोपडम को समाप्त कर दिया ग्रौर धर्म पर होने वाले ग्रत्याचारो को सदा के लिये समाप्त कर दिया । बडे बडे वेदपाठी विद्वान उनके शिष्य बन गये ग्रौर देश मे इस प्रकार नया ग्रध्याय ग्रारम्भ हुग्रा । भगवान महावीर के उपदेशो का सार निम्न प्रकार है —

१ जगत के सभी प्राणियो को ग्रपना जीवन प्रिय है कोई भी मरना नही चाहता इसलिये सभी जीवो की प्रतिपालना ही सबसे ग्रच्छा धर्म है । ग्रहिंसा ही सर्वोत्कृष्ट धर्म है । प्राणी वध महान पाप है इसलिये किसी के प्राणो का वध मत करो सब जीवो को सुखप्रिय है इसलिए किसी को कष्ट मत पहुँचाग्रो ।

२. वस्तु विभिन्न धर्म युक्त है। एक ही वस्तु का विभिन्न रूप से स्वरूप जाना जा सकता है। किन्तु वस्तु के अपने ही ज्ञान को समीचीन समझना और दूसरे के ज्ञान को मिथ्या यही विरोध का कारण है। आग्रहवाद से समस्याए सुलझने के स्थान पर उलझ जाती है इसलिये भगवान महावीर ने विचारो मे अनेकान्त दृष्टि अपनाने पर बल दिया। अनेकान्तवाद को उन्होने सर्व धर्म समन्वय का रूप दिया। उन्होने कहा कि सभी धर्म अच्छे हैं लेकिन उनमे व्याप्त आग्रहवाद बुरा है।

३ आवश्यकता से अधिक सचय करना पाप है। प्रत्येक मानव को अपने परिग्रह की सीमा निश्चित कर लेनी चाहिये। जगत मे वर्ग भेद, सघर्ष उसी परिग्रह अथवा सचय के ही कारण होते है। एक के पास इतना अधिक सग्रह हो कि वह उसका दुरूपयोग करता रहे तथा एक के पास दो जून खाने को भी न मिले यही विरोध एव लडाई का कारण है। जगत मे ऊच नीच, छोटा बडा, गरीब अमीर सभी सकुचित मनोवृत्ति के ही परिणाम है। इसलिये अपनी इच्छाओ पर विजय प्राप्त करो और उनके जीवन को सुखी बनाओ।

उनके इन तीन उपदेशो ने मानवता को नष्ट होने से बचा लिया और उसे एक प्रशस्त जीवन प्रदान किया। आज भी इन ही उपदेशो के प्रचार एव प्रसार की सबसे बडी आवश्यकता है।

महावीर वाणी

जीवन असस्कृत है अर्थात् एक बार टूट जाने के बाद फिर नही जुडता अतः एक क्षण भी बेकार न करो।

—श्री सीवनकर

धर्म और उसकी अनिवार्यता

श्री प्रेमचन्द रांवका
एम. ए., शिक्षा शास्त्री
महाराजाज संस्कृत कॉलेज, जयपुर

"सदाचार और धर्म में कोई भेद नहीं है। सदाचार से जीवन भौतिकता से हट कर आध्यात्मिकता की ओर अग्रसर होता है। सदाचार स्वयं ही आध्यात्मिकता है। इनसे जीवन में स्फूर्ति एवं चैतन्य आता है। कोई भी सम्प्रदाय तभी विजयी हो सकता है जब उसमें आचारवान् मनुष्यों का बाहुल्य हो। "

'धर्म' की परिभाषा, व्याख्या और उसकी जीवन मे अनिवार्यता पर विचार करने से पहले यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि धर्म की आवश्यकता कब और क्यो हुई ? प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् स्व० प० चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ ने इस विषय मे एक स्थान पर लिखा है कि एक समय था जब मनुष्य मे जिज्ञासा का उदय नही था ..... उसका जीवन सघर्ष विहीन था। उसकी इच्छाये अत्यन्त सीमित थी और प्रकृति ही उन्हे स्वत पूरी कर देती थी—(जैसा कि भारतीय प्राच्यग्रन्थो मे अभीप्सित वस्तुओ के पूरक कल्पवृक्षो का उल्लेख मिलता है।) लाखों वर्षों तक उसकी यही स्थिति रही। किन्तु प्रकृति की परिवर्तनशीलता के कारण युग का भी परिवर्तन हुआ और मनुष्य की इस स्थिति ने पलटा खाया। पहले वह वर्तमान मे ही तन्मय था। न उसे भविष्य की चिन्ता थी और न भूत का विचार। अब वह आगे आने वाले कल के विषय में भी सोचने लगा। उसकी जिज्ञासायें

बढ़ने लगी। प्रकृति भी पहले की तरह अनुकूल न रही। इसीलिए भविष्य की चिन्ता ने उसमे सग्रह की भावना उत्पन्न कर दी और इस भावना ने उसके जीवन मे सघर्ष को जन्म दिया। जीवन मे अनेक अभाव खटकने लगे। इन अभावो की पूर्ति को ही वह अपने जीवन का उद्देश्य मानने लगा। इस पूर्ति के लिए जो सघर्ष हुआ, उसके लिए हिसा, झूठ, चोरी आदि का आश्रय लेना पडा जो मानव-स्वभाव के लिए प्रतिकूल थी-इसलिए इनका निषेध करना अनिवार्य समझा गया और यह निषेध ही मनुष्य का 'धर्म' कहलाया।[१]

पाश्चात्य राजनीति-विचारक 'रूसो' भी अपने सामाजिक समझौता सिद्धान्त (Social Contiact Theory) मे यही लिखते हैं कि सभ्यता के प्रथम चरण प्राकृतिक अवस्था मे मनुष्य अधिक सुखी था। पर सभ्यता एव बुद्धि के विकास ने मनुष्य मे जिज्ञासा, इच्छाओ की पूर्ति और इनके लिए स्वार्थ व सघर्ष की भावना को जन्म दिया। इससे मनुष्य का प्राकृतिक जीवन दुखमय हो गया। इसके लिए मनुष्य को सामाजिक समझौता करना पडा और कालान्तर मे धर्म व राज्य की स्थापना हुई। रूसो मनुष्य को फिर से सुखी जीवन बिताने के लिए "प्रकृति की ओर लौट चलने के लिए" (Back to Noture) कहता है।[२] रूसो की यह विचारधारा हमारे प्राच्य भारतीय मनीषियो के विचारो से मेल खाती है, जो मानव-मात्र को प्राकृतिक रूप मे और कृत्रिमता से परे रहने के लिए कहते है। कृत्रिमता के आवरण मे मनुष्य अपना वास्तविक स्वरूप भूल जाता है और उसके जीवन मे विषमता आ जाती है।

धर्म की उत्पत्ति के पश्चाद् इसकी आवश्यकता का अनुभव करते हुए विभिन्न विद्वानो ने इसकी विभिन्न व्याख्याये की। भारतीय वाड्मय मे तो इस 'धर्म' शब्द ने पर्याप्त स्थान ले रखा है। आध्यात्मिक और दार्शनिक साहित्य मे तो वह ओत-प्रोत है ही परन्तु आश्चर्य है कि ज्योतिष एव आयुर्वेद आदि विज्ञान के विभागो मे भी किसी न किसी रूप मे वह उल पडा। यही नही, राज-नीति भी अनेक बार धर्म के आधार बिना नही चल पाती। इसमे कोई अत्युक्ति नही कि हमारे समूचे जीवन के प्रत्येक भाग मे, जन्म से मृत्यु पर्यन्त विविध सस्कारो मे 'धर्म' का बोल-बाला रहा है। वेद, उपनिषद्, ब्राह्मण, आरण्यक, स्मृतिया, रामायण, महाभारत, गीता, पुराण तथा जैन एव बौद्ध आदि समूचा भारतीय वाड्मय 'धर्मतत्व' के प्रतिपादन, इसकी विभिन्न परिभाषाओ एव व्याख्याओ से भरा पडा है। यहा कतिपय परिभाषाये प्रस्तुत की जाती हैं—

शब्द व्युत्पत्ति के अनुसार 'धारयतीति धर्मः', जो धारण करता है वही धर्म है। धर्म का दूसरा अर्थ कर्त्तव्य से भी होता है। मनुष्य का जो अपना कर्तव्य हे वही धर्म है। अमरकोषकार 'धर्म' शब्द के कई अर्थ करते है। उन्होने तो इसका लिङ्ग भेद भी स्वीकार किया है। पुण्य वाचक शब्द को वे पुल्लिग और नपुसक लिग मानते है। उन्होने 'धर्म' का अर्थ पुण्य, यमराज, न्याय, स्वभाव, आचार और सोमरस का पीने वाला माना है।

३ वेदो मे धर्म का अर्थ भिन्न रूप मे बतलाया गया है।

सत्य बृहद ऋतम् उग्र

दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञ पृथिवी धारयन्ति।

-अर्थात् सत्य, ऋत, दीक्षा, तप, ब्रह्म और यज्ञ इन्ही पर पृथिवी टिकी हुई है और यही धर्म है। 'मनुस्मृति' ने सब धर्मों का मूल वेदो को ही माना है। पर साथ ही वह स्मृति, शील और आचार को भी धर्म कहती है। मनु ने धृति-क्षमादि धर्म के दश लक्षण माने है।

"धृति क्षमा दमोऽस्तेय शौचमिन्द्रिय निग्रह ।
धीविद्या सत्यमक्रोधो दशक धर्म लक्षणम् ।।"

'मनु' महाराज ने चारो वर्णों के लिए जो धर्म बतलाया है उसमें पाच बातो पर जोर दिया गया है—

"अहिसा सत्यमस्तेय शौचमिन्द्रिय निग्रह ।
एत मामासिक धर्म चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनु . ।।"

वैशेषिक सूत्रकार महर्षि कणाद अपने वैशेषिक सूत्र ग्रन्थ मे धर्म का लक्षण और भी अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि "यतोम्युदय नि श्रेयस सिद्धि स धर्म" अर्थात् जिससे मनुष्य को इस लोक मे अम्युदय और पारलौकिक जीवन मे मुक्ति की प्राप्ति हो वही धर्म है। धर्म की यह व्याख्या अधिक व्यापक और मनोग्राह्य है । यह आत्मा चरमपुरुषार्थ मोक्ष की ओर लक्ष्य करती है ।

'महाभारत' मे "आचार प्रथमो धर्म"— सदाचरण को ही धर्म माना है । इसी तरह "सत्य-मस्ति परो धर्म" एव 'अहिसा परमो धर्म' कहकर हमारे आचार्यों मे सत्य और अहिसा की धर्म मे उत्कृष्टता स्वीकार की है ।

४ प्रख्यात तार्किक विद्वान् 'जैनाचार्य समन्त-भद्र' अपने 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' ग्रन्थ मे पहले धर्म शब्द की निरुक्ति करते हैं, "ससारदु खत सत्वान् यो धरत्युतमे सुखे"-अर्थात् जो जीवो को ससार के दु खो से हटाकर उत्तम सुख मे धारण करता है, वह धर्म है । इसके बाद वे कहते हैं "सद् दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्म धर्मेश्वरा विदु" अर्थात् तीर्थकरो ने सच्ची श्रद्धा, सच्चा ज्ञान और सच्चे चारित्र को ही धर्म कहा है । धर्म की ये दोनो व्याख्यायें उत्कृष्ट है ।

इनसे भी बहुत पहले जैन आ० कुन्दकुन्द "वत्थु सहावो धम्मो" वस्तु या आत्मा के क्षमादि रूप स्वभाव को धर्म कहते हैं । एक दूसरे स्थान पर "चारित्तं खलु धम्मो" कहकर हमारे महान् आचार्यों ने 'चारित्र्य' को धर्म का अपरिहार्य अग माना है । पाश्चात्य विद्वान भी "Character is god" कहकर उक्त उक्ति का समर्थन करते है ।

बौद्ध धर्म के 'धम्मपद' नामक ग्रन्थ मे धर्म के नाना रूपो का वर्णन करते हुए मनुष्य के आचरण पर विशेष जोर दिया गया है और 'अवेर' अर्थात् अक्रोध या 'क्षमा' को ही सनातन धर्म बताया है ।

'गोस्वामी तुलसीदास' ने 'राम चरित मानस' मे "परहित सरिस धर्म नही भाई । पर पीडा सम नहि अधमाई ।।" कहकर परोपकर, दया आदि को धर्म बताया है ।

जैनधर्म एव दर्शन के प्रकाण्ड विद्वान प. कैलाशचन्द्र शास्त्री ने 'जैनधर्म' पुस्तक मे "धर्म" के बारे मे निम्न विचार रखे है—

"धर्म शब्द के दो अर्थ पाये जाते हैं—एक, वस्तु के स्वभाव को धर्म कहते है जैसे अग्नि का जलना, पानी का शीतल रहना, वायु का बहना और आत्मा का चैतन्य रहना । दूसरा आचार या चारित्र्य को धर्म कहते है । इस दूसरे अर्थ को कोई इस प्रकार भी कहते है-जिससे अभ्युदय और नि श्रेयस-मुक्ति की प्राप्ति हो उसे धर्म कहते हैं चू कि आचार या चारित्र से इनकी प्राप्ति होती है, अत. चारित्र ही धर्म है ।"

'धर्म' शब्द बहुत व्यापक है । अग्रेजी मे उसे Religion कहते है । यह रिलीजन' लेटिन भाषा का शब्द है जिसका अर्थ होता है फिर से बाधना या सम्बन्ध जोडना । 'इसलाम' शब्द 'सलम' से बना है, उसका अर्थ 'शान्ति' से है । 'ईश्वर' की शान्तिपूर्ण स्वीकृति उसके लिए आत्मत्याग करना—अहकार को मिटाना । वेद मे धर्म शब्द का अर्थ है सबको धारण करने वाली वस्तु के लिए,

सबको एक सूत्र मे बाधने वाली वस्तु के लिए। रिलीजन का भी यही अर्थ है और 'इसलाम' भी उसी दिशा मे जाता है।

घट घट मे बसे हुए तत्त्व को जानना, आत्मा को जानना और परमात्मतत्व की प्राप्ति ही तो धर्म हैं। इस धर्म के भीतर वे सब गुण आ जाते है जो हर मनुष्य मे होने चाहिए। जैसे-सत्य, प्रेम करुणा, क्षमा, इन्द्रियो का सयम, स्वच्छता, पवित्रता और नम्रता आदि।

धर्मों की विभिन्नता.—विश्व मे इस समय लगभग ८०० धर्म है, जिनमे, हिन्दू जैन, ईसाई, इस्लाम, पारसी, सिक्ख, बौद्ध, यहूदी, कनफ्यूशस आदि ग्यारह धर्म ऐतिहासिकता, साहित्य और संख्या आदि अनेक दृष्टियो से उल्लेखनीय है। प्रत्येक धर्माचार्य ने अपनी विचारधारा एव मतानुसार धर्म की भिन्न-२ व्याख्याये की। यद्यपि धर्मों की इस विभिन्नता मे भी मनुष्य मे यदि विवेक और सहृदयता हो तो समन्वय एव एकता को हृदय गम कर सर्वधर्मसमभाव के तत्व को समझा जा सकता है। तथापि इसमे कोई सन्देह नही कि धर्मो की विभिन्नताओ ने धर्म के विषय मे मानव के मन मे व्यामोह पैदा कर दिया है और इस तरह 'धर्म तत्व' विवादो का कारण बन गया। किसी गवेषी विद्वान ने ठीक ही कहा है—

५ "श्रुतिर्विभिन्ना स्मृतिर्विभिन्ना
नैको मुनिर्यस्य वच. प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्व निहित गुहायाम्,
महाजनो येन गत स पन्थ।"

—अर्थात् धर्म तत्व के प्रतिपादन के विषय मे श्रुति अर्थात् वेद एक मत नही है। वह विभिन्नताओ से भरी पडी है और यही बात स्मृतियो के विषय मे भी है। कोई एक मुनि नही, जिसका वचन प्रमाण माना जाय। इसलिए यही कहना ठीक है कि 'धर्म तत्व' गुफा मे छिपा हुआ है। इस विषय मे वही रास्ता पकडना चाहिए जिससे महाजन (महापुरुष) गया हो।

उक्त पद्य मे ध्यान देने योग्य बात यह है कि यहां 'गुहा' का अर्थ गुफा से नही, हृदय से है। धर्म का सबध भी हृदय से है, इसलिए महापुरुषो ने धर्म को प्राप्त करने के लिए अपने हृदय को ही टटोला है तथा उसी के द्वारा उसे प्राप्त करने की चेष्टा करके वे सफल हुए है। दया, सहानुभूति, पर दुख कातरता आदि धर्म के लक्षण हृदय से सम्बन्ध रखते है। इससे हम कह सकते हैं कि श्रुति (वेद), स्मृति, औ विभिन्न मुनियो के वचनो मे कितना ही विरोध क्यो न हो, पर धर्म का पाना और समझना उतना कठिन नही, जितना माना गया है और माना जाता है।[६]

वस्तुत. 'धर्म' अन्तरग की वस्तु है। अन्दर की वस्तु बाहर नही, वह तो अन्तर मे ढूढने से मिलेगी लेकिन आज की दुनिया केवल आवरण की सुन्दरता मे ही विश्वास करती है। वह अन्दर की ओर नही ढूढती। जिस तरह "कस्तूरी मृग नाभि बसै, मृग ढूढै बन माहि" उसी तरह आज का मानव बाहर की ओर अधिक देखता है, बाह्य वस्तुओ मे वह सर्वस्व देखता है जो दुख का कारण है। 'निराकुलता प्राप्ति का उपाय' अपनी ओर देखने मे है। इसी लिए प्राच्य विद्वानो ने "आत्मान विद्धि"—"Know Thyself"—अर्थात् 'अपने आपको पहिचानो' पर विशेष बल दिया है। कविवर बनारसी दास जी को भी यह कहना पडा—

"बिराजै रामायण घट माहि।
मरमी होय मरम सो जानै मूरख जानै नाहि।।"

'धर्म' का मूलभूत सम्बन्ध 'आत्मा' से है। आत्म-स्वरूप मे रमण करना ही धर्म साधन है। 'क्षत्र चूडामणि' के रचयिता वादीभसिंह सूरि कहते हैं:—

"कोऽहं कीदृग्गुणः क्वत्यः
प्राप्तः किं निमित्तक. ।
इत्यूह प्रत्यह नोचेद-
ऽस्माने हि मतिर्भवेत् ।।"

—अर्थात् जो प्रतिदिन "मैं कौन हू, मेरा क्या स्वरूप है, मै कहा से आया हू, मुझे क्या करना है—ऐसा विचारता है, उसकी मति कभी अन्यथा नही होती ।"—अतः केवल बाह्याचार मे धर्म नही होता। धर्म आत्मा की वस्तु है। हमे स्वात्मीय भावो से अन्दर से सुन्दर बनना चाहिये।

प्रत्येक मनुष्य का धर्म है कि वह अपने कर्तव्य को पूर्ण करे। वेदो मे इस विषय में कथा है कि एक बार देवता, राक्षस और मनुष्य तीनो ब्रह्मा के पास गये। तीनो ने ब्रह्मा की स्तुति करके उनको प्रसन्न किया। ब्रह्मा जी ने तीनो को वरदान देते हुए एक ही शब्द 'द' कहा। तीनो के लिए इसका पृथक-पृथक अर्थ था। देवताओ के लिए इसका अर्थ था 'दमन करो'। राक्षसो के लिए 'दया करो' था और मनुष्यो के लिए इसका आशय था 'दान' करो। ब्रह्मा जी ने वैभव विलास के लोक मे विचरण करने वाले देवताओ के लिए इच्छाओ का दमन कर सयत जीवन बिताने का आदेश दिया, निर्ममता की मूर्ति राक्षसो को दया की प्रेरणा दी, किन्तु मनुष्य के लिए तो 'दान करो' से अच्छा उपदेश हो ही क्या सकता है। हम मनुष्यो के पास अपनी सामान्य आवश्यकताओ के अतिरिक्त जो कुछ है, उसे हम परार्थ-सेवन मे अर्पित कर दे—यही हमारा कर्तव्य है।

'सदाचार और धर्म' मे कोई भेद नही है। सदाचार से जीवन भौतिकता से हटकर आध्यात्मिकता की ओर अग्रसर होता है। सदाचार स्वय ही आध्यात्मिकता है। इनसे जीवन मे स्फूर्ति और चैतन्य आता है। कोई भी सम्प्रदाय तभी विजयी हो सकता है जब उसमे आचारवान् मनुष्यो का बाहुल्य हो। पर यह आचरण बाह्याचार मे न होकर जीवन मे होना आवश्यक है। जीवन मे उतारने मे वह तेजस्विता आती है, जिससे बडे-बडे सम्राट भी नतमस्तक हो जाते हैं। महावीर, बुद्ध और गाधी जैसे महापुरुष अपनी इस तेजस्विता के बल पर ही मानव को ठीक मार्ग पर लाने मे सफल हो सके। अपनी बात का प्रभाव दूसरो पर तभी पडता है, जब मनुष्य स्वय मे वैसा हो। आज हमारे देश की यही स्थिति है कि हमारी कथनी और करनी मे रात दिन का अन्तर है। कहते कुछ हैं और करते कुछ है। बाह्याचार ने सचमुच हमारे जीवन को कलाहीन बना दिया है।

जीवन, कला और धर्म : एक सन्त कवि कहता है-

कला बहत्तर पुरुष की ता मे दो सरदार।
एक जीव की जीविका, एक जीव उद्धार ।।

नृत्य, गायन, वादन आदि बहुत सी कलायें है लेकिन आत्मोद्धार के बिना सब कलायें व्यर्थ है। जीवन मे धर्म उतरे तभी जीवन कला है। कलाहीन जीवन भारस्वरूप है धर्म हमे जीने की कला सिखाता है। जीवन की विधि यही है कि हम परिस्थितियो के दास न हो जाय। दु.ख-सुख तो चक्र के समान चलते रहते है। धर्म कहता है सुख-दु.ख मे समान रहो और कलामय जीवन व्यतीत करो। कला अशिव को शिव, असुन्दर को सुन्दर और अव्यवस्थित को सुव्यवस्थित बनाती है। कला रस प्रवाहिनी होती है। कलामय जीवन के लिए बुराइया दूर करनी होगी। असयम के स्थान पर सयम लाना होगा। कही भी किसी भी परिस्थिति मे रहे, पर मूल-भूत सत्य को न भूलें। समाज व परिवार से पलायन न करें। कलामय जीवन के लिए कोई वेश या विशेष प्रकार की स्थिति अपेक्षित नही। वह तो जीवन शुद्धि है और उसे कोई भी पा सकता

है। इसके लिए अहिंसा, सत्य और समभाव को अपने जीवन मे उतारने की जरूरत है। राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध, गाधी, ईसा आदि महापुरुषो के उदाहरण हमे जीवन कला की शिक्षा देते है।

धर्म के दश भेद :

मनुस्मृति और जैन ग्रन्थो के अध्ययन स पता चलता है कि दोनो ने धर्म के अलग अलग दश भेद माने है, पर उनमे बहुत कुछ समानता है। दोनो ने ही इन्हे धर्म के दश लक्षण कहा है। मनुस्मृति के दश लक्षण पहले गिना दिये गये है। जैनो ने 'तत्वार्थ सूत्र' मे आ. उमा स्वामी ने उनका उल्लेख इस प्रकार किया है।

> ७ उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसयम
> तपत्यागाकिंचन्यब्रह्मचर्याणि धर्म ॥"

इसी तरह बौद्ध और ईसाई धर्मों मे भी पृथक् पृथक् धर्म के दश दश भेद माने गये है।

७ प. चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ ने धर्म का एक स्थूल भेद और भी किया है। उनके अनुसार जीवन मे धर्म भार-स्वरूप न मालूम हो इसलिए मोटे रूप से धर्म के तीन भेद है-१ नित्य धर्म २. युगानुसारी धर्म और ३. आपद्धर्म। [४]

नित्य धर्म-इसमे अहिंसा, सत्य अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आदि है। ये त्रिकालाबाधित है अतः अपरिवर्तनीय है।

युगानुसारी धर्म-मे उपासना की बाह्य विधिया, खान-पान के नियम, विवाहादि सारे सस्कार आदि है। ये स्वतः धर्म नही, अपितु धर्म के साधन है। प्रत्येक युग की अपनी आचार सहिताये भिन्न होती है। उनका परिवर्तन होना आवश्यक है। धर्म को युगानुसारी बनाने पर ही वह राष्ट्रीय और विश्व जनीन बन सकता है धर्म का सम्बन्ध यदि मानवता से जोडना है तो उसके साधनो पर आग्रह करना मूर्खता होगी।

आपद्धर्म-यह तात्कालिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए होना है। इसके बाद इसका परित्याग करना ही उचित है। सभी सम्प्रदायो के शास्त्रो मे आपद्धर्म के उदाहरण मिलते है पर मनुष्य को इसका निर्णय विवेक के द्वारा ही करना चाहिए।

धर्मों का यह स्थूल विभाग है मनुष्य इसको समझे तो धर्म को अपनाने मे उससे गलती न होगी और न यह उसे बोझा ही मालूम पडेगा जो धर्म व्यक्ति, समाज अथवा राष्ट्र का उत्थान नही कर सकता अथवा उसके उत्थान मे बाधा उपस्थित कर देता है वह किसी परिभाषा के अनुसार धर्म नही कहला सकता। धर्म का सर्वोत्तम एव अनन्य फल मानव की स्वतत्रता है। व्यक्ति, समाज अथवा राष्ट्र मे धर्म के अस्तित्व को परखने की कसौटी यही है।

जीवन मे धर्म की अनिवार्यता.

जीवन के लिए 'धर्म' अपरिहार्य है। धर्म के बिना मानव-जीवन की कोई कीमत नही। इसीलिए धर्माचार्यों ने "धर्मेण हीना. पशुभि समानः" कहा है। वस्तुत. मनुष्य और पशु मे यदि कोई अन्तर है तो वह केवल 'धर्म' का है। धर्म के कारण ही मानव मानवेतर प्राणियो से श्रेष्ठ होता है। उस धर्म का अर्थ है नैतिकता, सदाचार और विवेक। अगर जीवन में धर्म का प्रकाश न हो हो तो वह अंधा है। वह अपने लिए भी भार-स्वरूप है और दूसरो के लिए भो। मनुष्य मे से पशुता के निष्कासन का श्रेय धर्म को ही है। धर्म ही मनुष्य मे सामाजिकता लाता है। किन्तु थोथे क्रियाकाण्डो के नाम से जिस धर्म को बहुत से लोग लिये बैठे है, उसे धर्म मानना आत्मवचना है और वह मनुष्य को कभी वास्तविकता की ओर नही ले जा सकता।

मनुष्य की दैवी वृत्ति 'धर्म' ही है। यह वृत्ति ही उसमे दया, दान, सतोष, करुणा, अनुकम्पा, क्षमा, अहिंसा आदि अनेक गुणो को उत्पन्न करती

है। जितने अंशो मे जहा जहां धर्म है वहां वहा उतने ही अंशो मे शान्ति, सुख और वैभव का विलास देखने को मिलता है। धर्म की प्रशसा मे प्राचीन जैन महर्षि आ० गुणभद्र कहते है-—

धर्मोवसेन्मनसि यावदल स तावद् ।
हन्तानहन्तुरपि पश्य गतेऽथतस्मिन् ।।
दृश्य परस्पर इतिर्जनकात्मजानाम् ।
रक्षा ततोऽस्य जगतः खलुधर्म एव ।।

अर्थात् जब तक मनुष्य के मन मे धर्म रहता है वह मारने वाले को भी नही मारता। किन्तु देखो, जब धर्म मनुष्य के मन से निकल कर चला जाता है, तब औरो की कौन कहे, पिता पुत्र को मार डालता है और पुत्र पिता को। अत. यह निश्चित है कि इस जगत की रक्षा करने वाला केवल धर्म ही है। अत यह कहा जा सकता है कि सफल एव सुव्यवस्थित जीवन बिताने के लिए धर्म अनिवार्य है।

मनुष्य को मनुष्य से मिलाने वाला धर्म ही है। दिलो को दिलो से जोडने वाली बुनियाद भी धर्म ही है जो सत्य, प्रेम और करुणा मे निहित हैं। विश्व के सभी प्रसिद्ध धर्म इसी आधारशिला पर खड़े है। परन्तु कठिनाई यह है कि हमने मूल कोछोड दिया है और पत्तो को पकडकर बैठ गये है। बाहर की छोटी २ बातो को लेकर हम आपस मे आये दिन झगडते रहते हैं। सारे झगडे धर्म के बाहरी रूप को लेकर ही होते हैं। भीतरी रूप तो सब का एकही है। धर्म कभी झगडना नही सिखाता। बाहरी रूप तो साधन मात्र है। जिन्हे व्यक्ति अपनी परिस्थिति, देश, काल और पात्र के अनुसार अपनाता है। धर्म का सर्वस्व ही मानव धर्म हैं। महाभारतकार इसकी बडी ही हृदयग्राही व्याख्या करते हैः—

"श्रूयता धर्मसर्वस्व श्रुत्वा चाप्यवधार्यता ।
आत्मन· प्रतिकूलानि परेषा न समाचरेत् ।।"

अर्थात् धर्मका सर्वस्व सुनो और सुनकर उसे जीवन मे उतारो। अपने को प्रतिकूल लगने वाला आचरण दूसरो के लिए भी नही करना चाहिए! यही सब धर्मों का सार है– धर्म की यह व्याख्या निर्विवाद है और देश एव काल की सीमा से अतीत है। धर्म की इस व्याख्या मे ससार के सारे धर्मों की व्याख्या समाविष्ट है।

धर्म मे सर्व जीव समभाव, सर्व धर्म समभाव और सर्वजाति समभाव, करुणा, क्षमा, सहानुभूति आति सभी दैवी वृत्तियाँ आजाती हैं। धर्म का यह सर्वस्व अहिंसा का ही रूपान्तर है। हमारे आचार मे अहिंसा, विचारो मे अनेकान्त, वाणी मे स्याद्वाद और समाज मे अपरिग्रहवाद इन चारो के समन्वय पर ही धर्म की सत्ता निर्भर है। 'जैनधर्म' का सर्वोदयी प्रासाद इन्ही चार मणिस्तम्भो पर अवस्थित है। आज जब समूचा विश्व स्वार्थ, भौतिकता, सम्प्रदायगत विद्वेषो, भाषाई-झगडो तथा आपसी सीमा-विवादीय कलहो से त्रस्त है, ऐसी स्थिति मे धर्म के उक्त चारो स्तम्भ हमारा मार्गदर्शन करते हैं। इनके अपनाने से हो मानव मात्र 'जिओ और जीने दो' का पाठ पढ़ कर स्व-पर की शान्ति मे सहायक हो सकता है। यह धर्म न केवल मनुष्य की मानसिक व्यथाओ, अपितु शारीरिक व्याधियो की भी सफल चिकित्सा है पर उसे परखने के लिए विवेक की जरूरत है और उस विवेक का आधार है अनेकान्तवाद, अनेकान्तवाद के अपनाने से सारे झगड़ेटण्टे दूर भाग जाते है क्योकि यह आग्रहवाद को स्वीकार नही करता है। आग्रही व्यक्ति और समाज कभी पनप नही सकते।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि 'धर्म' किसी की बपौती नही है। यह तो मानव मात्र के हित के लिए है। जहां आग्रह, छूआछूत, असत्य, कर्मकाण्ड, पोपलीला और आडम्बर आदि को कोई स्थान नही। वह तो उत्कृष्ट मगल स्वरूप है, जो

मनुष्य को इस लोक के साथ-२ पारलौकिक जीवन मे भी अभ्युदय और मुक्ति का प्रदाता है प्राचीन जैन सूत्रों मे लिखा है—

धम्मो मगल मुक्किट्ठ अहिंसा सयमो तवो।
देवा वि त नमस्सन्ति जस्स धम्मे सयामणो।।८

"धर्म" ही उत्कृष्ट मगल है, जो अहिंसा, सयम एव तप मे है। जिसका मन उस धर्म मे लगता है, देवता भी उसे सदा प्रणाम करते हैं।

---

१. 'धर्म-दर्शन' के अध्यक्षीय भाषण मे

२. राजनीति : आशीर्वादम्

३. धर्मों की फुलवारी श्री कृष्णदत्त भट्ट

४. धर्मतत्त्व . प. चैनसुखदास न्यायतीर्थ

५. धर्मतत्व : प चैनसुखदास न्यायतीर्थ

६. 'धर्मतत्व' . प. चैनसुखदास न्यायतीर्थ

७. धर्मतत्व : प. चैनसुखदास न्यायतीर्थ

८. धर्मतत्व : प चैनसुखदास

साहित्य, इतिहास और पुरातत्त्व

१	प्रागऐतिहासिक भारतीय और वैदिक संस्कृति	रिषभदास रांका	१
	वीर महावीर (कविता)	वि० उदयचन्द जैन	१०
३	पद्मचरित पर ब्राह्मण धर्म का प्रभाव	प्रो रमेशचन्द्र जैन	११
४	उज्जयिनी का पुरातत्व	श्री कृष्णदत्त वाजपेयी	१५
५	भगवान महावीर जो भारत मे न आते (भजन)	संकलित	२०
६	श्रमणो की निग्रन्थ परम्परा	डा देवेन्द्र कुमार	२१
	जैन साहित्य का नैषध हीर सौभाग्य	प्रो सत्यव्रत	२५
	सिद्धार्थनन्द ‍ सनत प्रणाम (कविता)	श्री अनूपचन्द	३४
	अरहन्त या अरिहन्त	श्री हीरालाल	३५
१	श्रमण संस्कृति की वैदिक संस्कृति को देन	डा दरबारीलाल	४१
११	मार्ग स्वर्णिम अतीत	श्री प्रतापचन्द जैन	४५
१	रवि फिर से उगाओ (कविता)	श्री नमीचन्द जैन	५०
१	कविवर पार्श्वदास की दशधाभक्ति	डा गगाराम गर्ग	५१
१	महावीर संदेश (कविता)	स्व० प चनसुखदास	५६
१	अजैन साहित्य मे जैन उल्लेख और साम्प्रदायिक सकीर्णता से उनका लोप	प मिलापचन्द	५७
१	क्या मंत्र तंत्र स्तोत्र आदि का विधिविधान साधक है ?	ब्र प्रकाशचन्द्र	६७
१७	जीवो और जीने दो (कविता)	श्री विपिन जारोली	७०
१८	देवगढ की उपाध्याय मूर्ति	डा भागचन्द्र	७३
१	जयपुर के १२वीं शताब्दी के प्राचीनतम दिगम्बर जैन लेख	श्री रामवल्लभ सोमाणी	७७
०	वीर प्रभु की सेवा मे (कविता)	प नाथूराम डोगरीय	७६
२१	महावीर और दयानन्द	डा सुधीर कुमार गुप्त	८१
२	वीर वैराग्य	श्री घासीराम चन्द्र'	८७
	भगवान महावीर युगीन राजतत्र और शासन	डा पवन कुमार	८६
२४	महागति (कविता)	स्व प चैनसुखदास	९६
२५	जैन कलाकारो की भारतीय चित्रकला को अनुपम देन	डा सत्य प्रकाश	६७
२६	जीवन गीत (कविता)	स्व प चैनसुखदास	१००
२७	८०-८५ वर्ष प्राचीन जैन महोत्सव की मुद्रित पत्रिकाए	प रतनलाल कटारिया	१०१
२८	भुवलयान्तर्गत जैन भगवद्गीता	प वंशीधर	१०५
२९	शलाका पुरुष कृष्ण एक आलोचन	श्री श्रीरजनसूरि देव	१०६
३०	बुन्देलखण्ड का इतिहास एव जैन पुरातत्व	श्री दिगम्बरदास	११५
३१	राम और पाण्डवो के ब्रजभाषा प्रबंध काव्यो मे कथ्यानुसंधान	डा ज्ञानचन्द जैन	१२५

प्राग् ऐतिहासिक भारतीय और वैदिक संस्कृति का समन्वय :

—श्री रिषभदास जी रांका
सम्पादक 'जैन जगत' एव मानद मन्त्री—
भगवान महावीर २५सौवा निर्वाण महोत्सव समिति, बम्बई

आर्यों के भारत आगमन से पूर्व भी भारत में अपनी सस्कृति और सभ्यता थी जो निश्चित रूप से आर्यों की सस्कृति और सभ्यता से भिन्न थी। वह सस्कृति और सभ्यता कौन सी थी विद्वानों ने इस सम्बन्ध में शोध करना प्रारम्भ कर दिया है। अब तक जो परिणाम सामने आए है उनके अनुसार वह सस्कृति श्रमण सस्कृति ही हो सकती है। जैन और बौद्ध ही इतिहास में श्रमण के नाम से जाने जाते है किन्तु बौद्ध महावीर के समकालीन थे अत इससे पूर्व बौद्ध सस्कृति के होने का प्रश्न ही नहीं समुपस्थित होता। बुद्ध के पहले विद्यमान श्रमण सस्कृति जैन सस्कृति के अतिरिक्त अन्य नहीं हो सकती। आगे जाकर श्रमण सस्कृति ने किस प्रकार आर्य सस्कृति को प्रभावित किया और किस प्रकार उनका परस्पर में समन्वय हुआ यह आपको ज्ञात होगा प्रसिद्ध वयोवृद्ध विद्वान् श्री रांका जी के इस लेख से।

—सम्पादक

आर्यों के भारत मे आगमन के पहले जो संस्कृति थी उसकी खोज होने लगी है और अनेक विद्वान् इस बात को मानने लगे है कि वह श्रमण या आर्हत सस्कृति होनी चाहिये जो यज्ञ परायण वैदिक सस्कृति से भिन्न थी। डा रामधारीसिह 'दिनकर' ने 'सस्कृति के चार अध्याय' मे लिखा है "यह मानना युक्ति-युक्त है कि श्रमण सस्था भारत मे आर्यों के आगमन से पूर्व विद्यमान थी और ब्राह्मण इस सस्था को हेय समझते थे। यह श्रमण-ब्राह्मण सघर्ष बौद्धो के पूर्व भी था क्योंकि पाणिनि ने जिनका समय ईसा से सात सौ वर्ष पूर्व माना जाता है, श्रमण-ब्राह्मण सघर्ष का उल्लेख 'शाश्वतिक विरोध' के उदाहरण के रूप मे किया है। वे आगे चलकर लिखते हैं—'पौराणिक हिन्दु-धर्म निगम और आगम दोनो पर आधारित माना जाता है। निगम वैदिक प्रधान आगम है। प्राग्वैदिक काल से आती हुई वैदिकेतर धार्मिक परम्परा का वाचक है।" जैनियो के प्रमुख धार्मिक ग्रन्थो का आज भी आगम

नाम से ही उल्लेख किया जाता है। बौद्ध धर्म की स्थापना भगवान् बुद्ध ने की, जिनका काल आज से पच्चीस सौ वर्ष पूर्व माना जाता है। इसलिए बौद्धों के पहले भारत में जो श्रमण संस्कृति थी उसके जैन होने की सम्भावना ही अधिक है। बौद्ध धर्म के २५० वर्ष पहले जैनियों के २३वे तीर्थंकर पार्श्वनाथ हुए थे। वे तथा उनसे भी प्राचीनकाल में जिनका उल्लेख मिलता है, वे अरिष्टनेमि तथा ऋषभदेव जैनियों के उपास्य देव तीर्थंकर थे। इसलिये अधिक सम्भव यही लगता है कि प्राग्-ऐतिहासिक काल में यहाँ जो श्रमण संस्कृति हो वह जैन संस्कृति से मिलती-जुलती या जैन-संस्कृति ही रही हो। यों जैनियों की अनुश्रुतियों से भी संकेत मिलता है कि उनका धर्म अत्यन्त प्राचीनकाल से चला आ रहा है। उत्खनन से मिली वस्तुओं के अतिरिक्त मानव-वंश शास्त्र, भाषा, धार्मिक विचार, साहित्य और उपास्यदेव आदि साधनों का भी शोधकों ने उपयोग किया जिससे शोधकर्त्ता इस निर्णय पर पहुंच गए हैं कि वैदिक संस्कृति के पूर्व यहाँ जो आर्येतर जातियाँ बसती थीं उनके धार्मिक रीति-रिवाज और विचार सुसंस्कृत थे और उनका रहन सहन और बर्ताव सभ्यतापूर्ण था। आर्येतरों की नागरिक सभ्यता थी। उनके मकान सभी सुख-सुविधाओं से युक्त थ। गृह-निर्माण तथा स्थापत्य कला में उनकी अच्छी प्रगति थी।

प्राग्वैदिक और वैदिक संस्कृति में भेद

अब हमें यह देखना होगा कि उस समय की वैदिक संस्कृति और ब्राह्मण संस्कृति में किन किन बातों में मतभेद था? वेदों में जिस यज्ञ प्रधान संस्कृति के दर्शन होते है उसमें वह वेद और ब्रह्म को सर्वश्रेष्ठ घोषित करती है और ब्रह्म प्राप्ति के लिये यजनकर्म को परम पुरुषार्थ निरूपित करती है। यज्ञप्रधान वैदिक संस्कृति का वैदिककाल तथा उसके पूर्व भी विरोध दिखाई देता है। व्रात्य और साध्य लोग आर्हत संस्कृति को मानने वाले थे। वे ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता नहीं मानते थे। उनका विश्वास था कि सृष्टि प्राकृतिक नियमों से बंधी हुई है। प्रकृति के नियमों के ज्ञान से मनुष्य नये संसार की रचना कर सकता है। मानव की शक्ति ही सबसे बडी शक्ति है और वह समस्त शक्तियों में सर्वश्रेष्ठ कहा जाता है। श्री देवदत्त शास्त्री ने "चिन्तन के नये चरण" में लिखा है—"साध्यों ने सरस्वती और सिन्धु के संगम पर 'विज्ञान-भवन स्थापित कर सूय का निर्माण किया था। विज्ञान-भवन में बैठकर समस्त ब्रह्माण्ड का साक्षात्कार किया था" डा देवेन्द्रकुमार ने लिखा है—"आर्हतों का कर्म में विश्वास होने से ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता नहीं मानने का कारण था। ये आर्हत मुख्य रूप से क्षत्रिय थे। राजनीति के साथ साथ धार्मिक कामों में भी उनकी रुचि थी। समय आने पर वे धार्मिक वाद-विवादों में भी भाग लेते थे। वे 'अर्हत्' के उपासक थे। उनके देव-स्थान पृथक थे और पूजा अवैदिक थी। आर्हत परम्परा की पुष्टि श्रीमद्भागवत, पद्मपुराण, विष्णु पुराण, स्कन्द-पुराण और शिवपुराण आदि पौराणिक ग्रन्थों से होती है। इनमें जैनधर्म की उत्पत्ति के विषय में भी अनेक आख्यान उपलब्ध है। यथार्थ में आर्हत धर्म जिस परम्परा का प्रतिनिधित्व करता है वही वेदों, उपनिषदों, जैनागम, महाभारत और पुराण साहित्य में कुछ परिवर्तन के साथ स्पष्ट रूप में दिखाई देता है। तीर्थंकर पार्श्वनाथ के समय तक जैनधर्म के लिए आर्हत शब्द ही प्रचलित था।"

"वैसे जैन शास्त्रों में भी ऐसा उल्लेख मिलता है कि धर्म का हरेक तीर्थंकर के तीर्थ में देश, काल, और परिस्थिति के अनुरूप परिवर्तन पाया जाता है। जैसा कि तीर्थंकर पार्श्वनाथ के समय में चार याम वाला धर्म था। उसे भगवान् महा-वीर ने पंचव्रतों में विकसित किया। मूलरूप में

आर्हत-संस्कृति अहिंसा, समता प्रधान तथा कर्म-प्रधान थी, जबकि आर्य भौतिक सुखों को प्राप्त कर वर्तमान जीवन को सुखी बनाने वाले प्रवृत्ति मूलक विचारों के तथा यज्ञों के उपासक थे। उन पर निवृत्तिपरायण और अहिंसक संस्कृति का प्रभाव पड़ा और श्रमण-संस्कृति ने भी वैदिक संस्कृति से कई बातें ग्रहण की। यज्ञों में पशु-हिंसा बन्द होकर दोनों संस्कृतियों का समन्वय हुआ। वह हमें उपनिषद तथा महाभारतकाल में देखने को मिलता है। श्रमण-संस्कृति पुनर्जन्म को मानती थी और वह आध्यात्मिकता-प्रधान थी।"

आर्हतों के उपास्यदेव ऋषभदेव को आर्यों ने अपने यहां पूज्य पुरुषों में स्थान दिया। वेद में उसका उल्लेख मिलता है पर जब दोनों संस्कृतियों का समन्वय हुआ तब तो उन्होंने ब्राह्मणों के २४ अवतारों में स्थान पा लिया। ऋषभदेव श्रमणों की तरह ब्राह्मणों में भी पूज्य और आदरणीय बने। वैसे ऋषभदेव आर्यों के आगमन के बहुत पहले हुए हो, ऐसा लगता है। क्योंकि मोहनजोदड़ो में कायोत्सर्ग मुद्रा में जो ध्यान-मूर्तियां मिली हैं उनमें बैल का चिन्ह पाया जाता है। ऋषभदेव की तरह शंकर का प्रतीक चिन्ह भी बैल ही है। दोनों ही साधना में योग को प्राधान्य देने वाले थे। इसीलिये कई लेखकों ने दोनों की तुलना कर उन्हें एक बताने का प्रयत्न किया है। वे दोनों एक हो या भिन्न, पर निवृत्ति-प्रधान और योग को प्राधान्य देने वाले थे। अध्यात्म, सादगी, संयम, पुनर्जन्म को मानने वाले, तथा पशुयज्ञों के विरोधक थे। डा० मंगलदेव शास्त्री ने भारतीय संस्कृति की दोनों विचारधाराओं को युग्म कहा है। वे कहते हैं—"भारतीय समाज में एक द्वंद्व तो कर्म और सन्यास को लेकर है, दूसरा प्रवृत्ति और निवृत्ति को लेकर है और तीसरा स्वर्ग और नरक की कल्पनाओं को लेकर अत्यन्त प्राचीनकाल से भारत की मानसिकता दो धाराओं में विभक्त रही है। एक धारा कहती है कि जीवन सत्य है और हमारा कर्त्तव्य है कि हम बाधाओं पर विजय प्राप्त करके जीवन में अभ्युदय लाभ करें एवं मानव-बंधुओं का उपकार करते हुए यज्ञादि से देवताओं को भी प्रसन्न करें, जिससे हम इस और उस, दोनों लोकों में सुख और आनन्द प्राप्त कर सकें, किन्तु दूसरी धारा की शिक्षा यह है कि जीवन नाशवान है। हम जो भी करें किन्तु हम रोग और शोक से छुटकारा नहीं मिल सकता, न मृत्यु से हम भाग सकते हैं। हमारे आनन्द की स्थिति वह थी, जब हमने जन्म लिया था। जन्म के कारण ही वासनाओं की जंजीर में पड़े हैं। अतएव, हमारा श्रेष्ठ धर्म यह है कि हम उन सुखों को पीठ दे दें जो हमें ललचाकर संसार में बांधते हैं। इस धारा के अनुसार मनुष्य को घरबार छोड़कर सन्यास ले लेना चाहिये और देह-दंडनपूर्वक वह मार्ग पकड़ना चाहिये जिससे आवागमन छूट जाय।

अनुमान यह है कि कर्म और सन्यास में से कर्म तथा प्रवृत्ति और निवृत्ति में से प्रवृत्ति के सिद्धांत, प्रमुख रूप से वैदिक हैं तथा सन्यास और निवृत्ति के सिद्धान्त अधिकांश में प्राग्-वैदिक मान्यताओं से पुष्ट हुए होंगे। किन्तु भारतीय अध्यात्म शास्त्र और दर्शन पर जितना प्रभाव सन्यास और निवृत्ति का है, उतना प्रभाव कर्म और प्रवृत्ति के सिद्धान्तों का नहीं है। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। ऋग्वेद के आधार पर यह मानना युक्तिसंगत है कि आर्य पराक्रमी मनुष्य थे। पराक्रमी मनुष्य सन्यास की अपेक्षा कर्म को अधिक महत्व देता है, दुःखों से भाग खड़ा होने के बदले वह डट कर उसका सामना करता है। आर्यों का यह स्वभाव कई दशाओं में बिलकुल अक्षुण्ण रह गया है। विशेषतः योरोप में उनकी पराक्रमशीलता पर अधिक आंच नहीं आई। किन्तु, कई देशों की स्थानीय संस्कृति और परिस्थितियों ने आर्यों के भीतर पस्ती डाल दी एवं उनके मन को निवृत्ति-

प्रेमी बना दिया। भारत की प्राग्वैदिक सस्कृति ने आर्यों की वैदिक सस्कृति के चारो और अपना विशाल जाल फैला दिया, उसे देखते हुए यह सूक्ति काफी समीचीन लगती है कि भारतीय सस्कृति के बीच वैदिक सस्कृति समुद्र मे टापू के समान है।

वैदिको की प्रार्थनाओ से भी यह बात स्पष्ट होती है। वे मानते थे "सारी सृष्टि किसी एक ही प्रच्छन्न शक्ति से चालित और ठहरी हुई है। उस शक्ति की आराधना कर मनुष्य जो भी चाहे प्राप्त कर सकता है।" उनकी प्रार्थनाए लम्बी आयु, स्वस्थ शरीर, विजय, आनन्द और समृद्धि के लिये की जाती थी।

वैदिक तथा आगमिक सघर्ष :

वैदिक और आगमिक तत्वो मे सघर्ष वेदो के समय भी चलता होगा इसमे सन्देह नही है। आगम हिसा के विरुद्ध थे और यज्ञो मे हिसा होती थी। आगे चलकर दोनो सस्कृतियो मे समन्वय हुआ जिससे अहिसक यज्ञ होने लगा। गीता, महाभारत, भागवत तथा उपनिषदो मे दोनो सस्कृतियो का समन्वय पाया जाता है। दोनो सस्कृतियो के समन्वय मे यदुकुल तथा श्रीकृष्ण का हिस्सा महत्वपूर्ण है।

सभव यह हो सकता है कि महाभारत की हिसा ने भारतीयो मे हिसा के दुष्परिणाम की जानकारी करा दी हो और उनका अहिसा की ओर अधिक झुकाव हुआ हो। कई इतिहासज्ञो का मानना है कि आर्यों का उत्साह और प्रवृत्तिमार्गी दृष्टिकोण महाभारत के पूर्व तक अक्षुण्ण रहा हो। बाद मे अहिसा के प्रति आकर्षण बढा हो। और यह शका निर्माण हो गयी हो कि यज्ञ मे हिसा सद्धर्म नही हो सकती। जीवन का ध्येय सास्कृतिक समन्वय के बाद सासारिक विजय नही किन्तु मोक्ष माना जाने लगा हो।

समन्वय का प्रारम्भ

प्राचीन साहित्य मे आर्हत और बार्हत शब्द सस्कृति की दो धाराओ के लिए पाये जाते हैं। आर्हत लोग अर्हन् के उपासक थे और बार्हत थे वेद और ब्राह्मणो को मानने वाले यज्ञ के उपासक। 'बृहती' वेद को कहते है। उसके भक्त बार्हत थे। वे वैदिक यजन-कर्म को ही सर्वश्रेष्ठ मानते थे। अर्हत् शब्द ऋग्वेद मे आया है और अर्हत् को विश्व की रक्षा करने वाले को सर्वश्रेष्ठ कहा गया गया है। इससे तथा ऋषभदेव के उल्लेख से लगता है कि समन्वय की प्रक्रिया ऋग्वेदकाल से शुरू हुई थी पर उसका पूर्ण विकसित स्वरूप हम पाते है महाभारत या उपनिषद्काल मे। वृषभ और ऋषभ शब्द भिन्न-भिन्न अर्थो मे प्रयुक्त हुए है। मेघ, बैल, साड और अग्नि के रूप मे उनका उल्लेख मिलता है तो कई स्थानो मे कामनाओ की पूर्ति करने वाला या कामनाओ की वर्षा करने वाला माना गया है। किन्तु ऋग्वेद मे दो जगह परमात्मा के रूप मे वर्णित है। उसे रूद्र रूप मे भी वर्णित किया गया है। इसलिए शिव या रूद्र के रूप मे ऋषभ को मानने और शिव तथा ऋषभ एक ही है, इस बात को भी समर्थन मिलता है। अर्हत्, वृषभ को वैदिक साहित्य मे प्रशस्त भी कहा गया है। जैनागमो मे ऋषभदेव को आदि प्रवर्तक कहा है तो भागवत मे ऋषभदेव के अवतार का उद्देश्य वातरशना, श्रमण ऋषियो के धर्म को प्रगट करना बताया गया है।

भारतीय सस्कृति की श्रमण और ब्राह्मण दोनो धाराओ मे जिनका समान रूप से आदर है, वे है ऋषभदेव। दोनो ही धारा वाले उन्हे पूज्य मानते है। आदर देते है। जैनियो के वे आदि तीर्थंकर है तो हिन्दुओ के विष्णु के साक्षात् अवतार। शिवपुराण मे भी अट्ठाईस योगावतारो मे उन्हे गिनाया गया है।

अर्हत् के उपासक

आर्हत धर्म के मानने वालो मे व्रात्य और पणि हो, ऐसा प्राचीन साहित्य के अध्ययन से लगता है। पणि भारत के व्यापारी थे जो अत्यन्त समृद्ध और सम्पन्न थे। वे केवल धनी ही नही थे पर ज्ञान-विज्ञान मे भी उन्होने काफी प्रगति की थी। वे देश-विदेश मे व्यापार करते थे तथा अरब-अफ्रीका तक व्यापार के लिये जाते थे। वे यज्ञ-परायण सस्कृति को नही मानते थे और ब्राह्मणो को दान-दक्षिणा भी नही देते थे। सम्भव यह भी है कि पणि से पणिक और आगे चलकर 'वणिक् बन गये हो-जो आज के बनियो के रूप मे पहचाने जाते है। पणि वैश्य या व्यवसायी थे।

आर्हत् सन्तो या अर्हतो के उपासक थे। व्रात्य को घूमने वाला साधु भी कहा गया है। वे अध्यात्मवादी परम्परा को मानने थे जिसमे आत्मा को ही सर्वश्रेष्ठ माना गया है, ब्रह्म या ईश्वर को नही मानते थे। उनकी मान्यता थी कि आत्मा ही पुरुषार्थ से परमात्मा बन सकती है।

ऋषभ शब्द की तरह ऋग्वेद मे वातरशना शब्द का भी उल्लेख आता है और दोनो का सम्बन्ध भी है।

> मुनयो वातरशनाः पिशगा वसते मला ।।
> वातस्यानु ध्राजि यन्ति यद्देवासो अविक्षत ।।
> उन्मदिता मौनयेन वाता आतस्थिम वयम् ।।
> शरीरेदस्माक मर्ता सो अभिपश्यथ ।।

वेदो की गाथाओ के विषय मे विद्वानो के अनेक प्रयत्न करने पर भी निसन्देह अर्थ बैठाना सम्भव नही हो पाया है तथापि सायण-भाष्य की सहायता से इस ऋचा का डा० हीरालाल जैन ने यह अर्थ किया है—"अतीद्रियार्थदर्शी वातरशना मुनि मल धारण करते है जिससे पिंगल वर्ण दिखाई देते हैं। जब 'वे वायु की गति को'प्राणोपासना' द्वारा धारण कर लेते है, अर्थात् रोक लेते है तब वे अपने तप की महिमा से दैदीप्यमान होकर देवता-स्वरूप को प्राप्त हो जाते है सार्वलौकिक व्यवहार को छोडकर हम मनोवृत्ति से उन्मत्तवत् उत्कृष्ट आनन्द सहित वायु भाव को-अशरीरी ध्यानवृत्ति को प्राप्त हो जाते है। और तुम साधारण मनुष्य हमारे बाह्य शरीर मात्र को देख पाते हो। हमारे सच्चे आभ्यन्तर स्वरूप को नही।" ऐसा वातरशना मुनि प्रगक करते है। वेद की उक्त ऋचाओ के साथ' केशी की स्तुति की गई है।

> केश्यग्निकेशी विषे केशी बिभर्ति रोदसी ।
> केशी विश्व स्वर्दृशे केशीव ज्योतिरुच्यते ।।

केशी, अग्नि, स्वर्ग और पृथ्वी धारण करता करता है। केशी समस्त विश्व के तत्वो के दर्शन कराता है। केशी ही प्रकाशमान ज्ञान, ज्योति, केवलज्ञानी कहलाता है।

केशी की यह स्तुति उक्त वातरशना मुनि के वर्णन आदि मे की गयी है, जिससे प्रतीत होता है कि केशी वातरशना मुनियो मे प्रधान है। ऐसा डा हीरालाल जैन ने जो अनुमान निकाला है वह उचित ही लगता है।

दोनों सस्कृतियों के समन्वय : ऋषभदेव

इससे ऋग्वेद के वातरशना मुनि औरभागवत मे उल्लिखित वातरशना श्रमण ऋषि की सहज मे यह तुलना की जा सकती है। उनके अधिनायक ऋषभदेव चरित्र का जैनसाहित्य म जैसा वर्णन मिलता है लगभग वैसा ही भागवत मे मिलता है। इससे कई विद्वानो ने यह अनुमान निकाला है कि जैन समाज मे ऋषभ की जडें गहरी जमने के बाद जैन कथानक को भागवत मे अपनाया गया हो। पर प्रज्ञाचक्षु प सुखलालजी का अभिमत इस विषय मे भिन्न है। वे कहते हैं कि ऋषभदेव की मान्यता, पूजा, उपासना की यशोगाथा जैन परम्परा की तरह

जैनेतर परम्परा मे भी कम या अधिक मात्रा मे एक या दूसरी तरह अवश्य चालू थी। इसलिए यह भी सम्भव है कि जिन संस्कृत, प्राकृत पुराणों में ऋषभदेव के सम्बन्ध मे भी कुछ न कुछ अवश्य लिखा हुआ होगा, जो वर्तमान भागवत से लिया गया है। सारी आर्य जाति मे समान रूप से ऋषभ-देव की न्यूनाधिक मान्यता अतिप्राचीनकाल से चली आयी है। ऋषभ सारी आर्य प्रजा के देव है, इस विषय मे मुझे लेशमात्र भी शका नही है।

भगवान ऋषभदेव के कुटिल केशो की परपरा, जो वेद ऋचाओ मे केशी नाम से वातरशना मुनियो का वर्णन तथा भागवत मे वर्णन है, जिससे मिलती हुई है। क्योकि जैन परम्परा मे ऋषभदेव की मूर्तियो पर कुटिल केशो की परम्परा प्राचीनकाल से चली आयी है और आज भी अक्षुण्ण है। सभी तीर्थंकरो की मूर्तियो मे सिर्फ ऋषभदेव की मूर्ति पर ही कुटिल केशो का रूप दिखाया जाता है और वह उनका विशेष लक्षण है। केशरियानाथ यह ऋषभदेव का नामान्तर है। केशर, केश और जटा एक ही अर्थ के वाचक है। सिंह भी अपने केशो के कारण केसरी कहलाता है। केशरियानाथ पर केशर चढाने की प्रथा प्रचलित हुई हो पर ऋषभदेव का केसरियानाथ यह नाम उनके केशो के कारण प्रचलित हुआ हो यह अधिक युक्तिसगत मालूम देता है। केशरिया की पूजा हिन्दू तथा आदिवासी भी कालिया बाबा के नाम से करते है।

जैनियो के साहित्य मे ऋषभदेव की जटाओ का वर्णन मिलता है। इस प्रकार ऋग्वेद के केशी और वातरशना मुनि, भागवत के ऋषभ और वातरशना श्रमण ऋषि एव केशरियानाथ ऋषभ तीर्थंकर और उनका निर्गंथ सप्रदाय एक ही सिद्ध होता है, क्योकि ऋषभ और केशी का एक स्थान पर वैदिक ऋचा मे उल्लेख आया है। जिससे यह अनुमान निकलता है कि वातरशना मुनियो के निर्ग्रन्थ साधुओ तथा मुनियो के नायक केशी मुनि ऋषभदेव है। इससे जैनधर्म की प्राचीन परम्परा पर महत्वपूर्ण प्रकाश पडता है।

कई विद्वान् वेदो का रचनाकाल ईसा से पूर्व पाच हजार वर्ष से भी अधिक मानते है तो कुछ का कहना है कि वर्तमान वेदो की रचना ईसा से १५०० साल पहले हुई। इससे यह मानना पडता है कि जैनधर्म इससे प्राचीन है क्योकि वेदो की रचना से पूर्व ऋषभदेव हुए होगे तभी उनका उल्लेख उसमे मिलता है।

मोहनजोदडो की खुदाई ने उपर्युक्त प्राचीनता के विषय मे और भी अधिक समर्थन दिया है। वहा जो कायोत्सर्गयुक्त ध्यानस्थ मूर्तिया मिली है और बैल के चित्र खुदे हुए मिलते है उसमे प्राची-नता की कडी वहा तक जुड सकती है। उनका योगी होना इस बात से भी सिद्ध होता है कि अवधूत पथ मे बगाल प्रात के कुछ लोग है, जिनकी सख्या अधिक नही है, पर वे ऋषभ को एक अवधूत परम त्यागी मानकर उनकी उपासना करते है और उनके द्वारा प्रतिपादित कठिन व्रतो का पालन करते है। उनके पथ मे आगे बढे हुये साधक ऋषभदेव को आदर्श मानकर उनके जीवन का अनुकरण करते है। यह आदर्श शरीर के विषय मे निर्मोहिता सिद्ध करता है। यहा तक कि शरीर मे कीडा प्रवेश कर जाय तो साधक उसे फेकता नही बल्कि कीडे को शरीर अर्पण करने मे उसे विशेष प्रसन्नता का अनुभव होता है।

ऋषभदेव केवल भारतीय जैन, वैदिक,हिन्दु या योग परम्परा के उपास्यदेव ही नही है पर भारत के बाहर भी उनका प्रभाव होना चाहिये, ऐसा सायप्रस मे हुई खुदाई मे ऋषभदेव की जो कास्य मूर्ति मिली उससे पता चलता है। लेफ्टिनेंट कर्नल बिलफोर्ड ने एशियाटिक रिसर्चेज वाल्युम-३ मे लिखा है कि भारत और ईजिप्ट के साथ प्राचीन-

काल मे सम्पर्क था। उन्होने नई शोधो की पार्श्व-भूमि मे हिन्दुओ के भौगोलिक क्षेत्र की जाच की अत्यन्त आवश्यकता बतलाई है। उनका कहना ठीक था, क्योकि सायप्रस की प्राचीन खुदाई मे श्री ऋषभदेव की कांस्य मूर्ति मिली है।

और भी शोधों से पता चलता है कि ईजिप्ट, सुमेरियन आदि सस्कृतियो मे श्रमण सस्कृति का प्रभाव था और उन प्राचीन सस्कृतियो का अध्ययन करने से पता चलता है कि वे कुछ अशो मे जैनियो से मिलती जुलती रही है।

प्राचीन जैन सस्कृति का स्वरूप

फिर प्रश्न यह खडा होता है कि जैनधर्म का आज का जो रूप है वैसा ही प्राचीनकाल मे था या आज के जैनधर्म से कुछ अन्तर था? भारत या पास-पडौस पर जिस सस्कृति का प्रभाव पडा था उस सस्कृति का रूप कैसा था? भारतवर्ष मे प्रचलित प्राचीन धर्म दो विभागो मे बट सकते है। एक तो निवृत्तिपर दूसरे प्रवृत्तिपर। प्रवृत्ति धर्म मे चार आश्रम थे और निवृत्ति धर्म एक आश्रम पर अधिक भार देता है। उसमे आत्मकल्याण के लिये केवल सन्यास को ही प्राधान्य दिया है। उसमे ब्रह्मचर्य और गृहस्थ आश्रम को स्थान न हो ऐसा नही पर निवृत्ति धर्म मे जाति, आयु का विशेष विचार न कर, चाहे जिस जाति और चाहे जिस उम्र के स्त्री-पुरुष के लिये समान रूप से त्याग और सन्यास का उपदेश दिया जाता है। यदि कोई गृहस्थाश्रम करना पडता है तो निवृत्ति धर्म के अनुसार लाचारी ही मानी जाती है। पर प्रवृत्ति धर्म के अनुसार आश्रम के क्रम से प्रवृत्ति और निवृत्ति को स्वीकार किया जाना इष्ट समझा जाता है। ब्रह्मचर्याश्रम से सीधा सन्यास प्रवेश प्रवृत्ति धर्म मे वर्ज्य समझा जाता है। लेकिन निवृत्तिपरक धर्म मे कोई बाल या कुमार अवस्था मे भी सन्यास ले तो वह धर्म्य समझा जाएगा।

जैन समाज की दो तीन हजार वर्ष की परपरा, जैन साहित्य तथा जैन मानस का अवलोकन करने पर मालूम होता है कि धर्म निवृत्ति प्रधान ही है। लेकिन पडित सुखलालजी का मानना है कि जैन धर्म के मूल उद्गम मे निवृत्ति प्रधान स्वरूप को नही पर प्रवृत्ति प्रधान को ही स्थान था।

सारी जैन परम्परा ऋषभदेव को वर्तमान युग के निर्माता आदि पुरुष के रूप मे जानती है। उनको मार्गदर्शक, कर्मयोगी और पूर्ण पुरुष के रूप मे मानती है, पूजती है। उनका चरित्र जैन परपरा की तरह ब्राह्मण परम्परा मे भी मिलता है। जैन परम्परा की मान्यता ब्राह्मण परम्परा की पुष्टि करती है। ऋषभदेव के जीवन की जैनो के द्वारा वर्णित अनेकानेक घटनाओ से अनुमान होता है कि प्राचीनकाल मे जैनधर्म का रूप प्रवृत्ति मूलक होना चाहिये और यही कारण है कि प्रवृत्ति प्रधान वैदिक परम्परा ने उस परपरा को अपनाया। वैदिक सस्कृति मे जो विचार थे उसमे अध्यात्म, सयम, योग, पुनर्जन्म, कैवल्य आदि बातो का प्रभाव श्रमण सस्कृति ने डाला और उनकी यज्ञ तथा इहलोक के सुखो पर जोर देने वाली सस्कृति ने श्रमण सस्कृति के विचारो को अपनाया हो और ऋषभदेव भी उनके पूज्य और आदरणीय बने हो। प्राचीन श्रमण सस्कृति और वैदिक सस्कृति के समन्वयकाल की यह घटना होनी चाहिये। उपनिषत्काल मे वैदिक और श्रमण सस्कृति का समन्वय दिखाई देता है।

इस समन्वयात्मक सस्कृति मे आगे चलकर आयी हुई विकृति को दूर करने का काम पार्श्व, महावीर, बुद्ध आदि ने किया और जैनधर्म प्रमुख रूप से निवृत्ति प्रधान बनकर दोनो धाराए बिलकुल अलग अलग चली। इसका विश्लेषण करना आवश्यक होने पर भी वह समयक्रम के अनुसार आगे का विषय है। लेकिन प्राग् ऐतिहासिक काल मे

श्रमण संस्कृति और उस संस्कृति के नायक ऋषभदेव ने वैदिक संस्कृति पर प्रभाव डाला था और वैदिक धर्म और श्रमण संस्कृति के समन्वय से उपनिषद, भारत, भागवत आदि ग्रन्थो की रचना हुई। उनमे इस समन्वय के स्पष्ट दर्शन होते हैं।

भगवान् ऋषभदेव ने अपने पुत्रो को जो उपदेश दिया था वह श्रीमद्भागवत मे इस प्रकार है —

हे पुत्रो ! जो दुखदायी विषयभोग, विष्ठा खाने वाले कुत्ते, सूअर आदि प्राणियो को मिलते रहते है, उन विषयभोगो के लिए ससार मे यह मनुष्य देह धारण करने योग्य नही है। इस मानव देह से तो अन्त करण की शुद्धि करके अनन्त महा-सुख की प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिए। विद्वान् कहते हैं कि सर्वत्र समचित्त वाले, शान्त, क्रोध रहित और सदाचारी महापुरुष की सेवा मोक्ष का द्वार है। परम पुरुष परमात्मा मे परम प्रेम ही जिसका ध्येय है, जितनी अपने शरीर के निर्वाह के लिए आवश्यक हो उतनी प्राप्ति का प्रयास करे उसे ही महापुरुष समझना चाहिए।

हे पुत्रो ! मनुष्य इन्द्रियो को सुख पहुचाने के हेतु जब कोई कर्म करता है तब वह प्रमादी होकर अवश्य ही पाप कर्म करता है। जब तक अज्ञान के कारण मन की हार हुई होती है और देहादि के अहभाव से कर्म करने मे ही वृत्ति रहती है, वहा तक मनुष्य आत्मतत्व जानने की इच्छा नही रखता। अविद्या से आत्मस्वरूप ढक जाने से जो कर्म मन को वश मे करता है, और फिर से कर्म करने के लिए आसक्त करता है। इसलिए जहा तक आत्म-स्वरूप मे उसकी प्रीति नही होती, वहां तक पुरुष देह के सम्बन्ध से मुक्त नही होता।

हे पुत्रो ! मनुष्य चाहे जितना विद्वान् हो या विवेकी हो, पर जहा तक वह प्रमादवश इन्द्रियों के आधीन होकर उनका अनुसरण करता है वहा तक मैथुनसुख जिसमे प्रधान है, ऐसे गृह-सस्कार मे फस-कर, वह त्रिविध ताप भोगता रहता है। विद्वान् कहते है—जब स्त्री-पुरुष दाम्पत्य भाव को लेकर मिलते है, तब उनका वह दम्पत्ति भाव दूसरी हृदय ग्रथी के रूप मे बन जाता है। उसका घर, क्षेत्र, पुत्र, धनादि मे 'मैं मेरा' भाव उत्पन्न हो जाता है। अत हृदय की यह ग्रन्थी जिन-जिन कर्मों से बधी हुई या दृढ हुई उन कर्मों को शिथिल किया जाय तभी दम्पत्ति भाव से निवृत्ति होकर सभी बन्धनो के कारणभूत अहकार को त्याग कर मुक्त हुआ जा सकता है।

हे पुत्रो ! इस अहकार का त्याग निम्न पच्चीस साधनो के द्वारा हो सकता है। विवेकी गुरु तथा परमात्मा के विषय मे भक्ति और तत्परता। तृष्णा का त्याग। सुख-दुख आदि द्वन्द्वो को सहन करना। इस लोक मे तथा इसी प्रकार परलोक मे सर्वत्र दुख ही है, ऐसा ज्ञान। तत्व और अनत्व की जिज्ञासा। तप, काम्यकर्म का त्याग। ईश्वर मे कर्मों का समर्पण। भगवत् कथा भक्तो का नित्य सग। भगवान् के गुणो का कीर्तन। प्राणिमात्र के प्रति वैरबुद्धि का परित्याग। सर्वत्र समभाव। बाह्य और आभ्यन्तर इन्द्रियो का जय। शरीर तथा गृह पर अह-ममत्व का त्याग। अध्यात्म-योग। अध्यात्म शास्त्रो का अभ्यास। एकान्त प्रदेश का सेवन। प्राण इन्द्रिय मन का जय। श्रद्धा, ब्रह्मचर्य। नित्य अप्रमाद। कर्तव्यो का अत्याग। वाक्-सयम। सर्वत्र परमात्मा की भावना युक्त अनुभव ज्ञान और धैर्य पूर्वक प्रयत्न-विवेक पूर्वक योग-समाधि।

हे पुत्रो ! इस प्रकार के अप्रमादीपन से कर्मों के निवास स्थान रूप तथा अविद्या से प्राप्त हुई हृदय की मोह रूपी गाठ के बन्धन को शास्त्रों के आदेशानुसार तोड देने के बाद उन उपायो मे विराम लेना चाहिए। पिता, गुरु, राजा अपने पुत्रो, शिष्यो तथा प्रजा को क्रोध रहित होकर कामयोग की

अत्यन्त अभिलाषा रखता हुआ, विषयो की इच्छा रखकर काम्य-कर्मो मे लिप्त रहता है। उसे कर्म करवाने के लिए उपदेश की आवश्यकता नही होती। इसलिए उसे काम्य कर्मों को करने का उपदेश देकर ससार के गड्ढे मे डालकर क्या पुरुषार्थ सिद्ध होगा ? जो मृत्यु रूप भी ससार मे फसे मनुष्यो को नही छुडा सकता वह गुरु होकर भी गुरु नही है, स्वजन होकर भी स्वजन नही है। वह पिता, माता, देव या पति भी नही है।

हे पुत्रो ! तुम मेरे शुद्ध, सत्वगुणमय हृदय से उत्पन्न हुए हो। उससे तुम अपने इस बडे भाई भरत की निष्कपट भाव से सेवा करना। ऐसा करने से तुम्हे परमात्मा की सेवा करने जैसा और प्रजा का पालक समझा जायेगा। तुम ईर्ष्या, मत्सर रहित पवित्र होकर, सब स्थावर-जगम प्राणियो को मेरा निवास रूप मानकर क्षण-क्षण मे उन्हे आदर देना क्योकि प्राणिमात्र को इसी भाति सन्मान देना ही परमात्मा का पूजन है। मन, वाणी, दृष्टि तथा अन्य सभी इन्द्रिय व्यापारो का परम फल यही है कि उन सबसे परमात्मा की आराधना की जा सकती है। इस प्रकार सभी प्रवृत्तियो को परमात्मा मे अर्पण करने वाला पुरुष आराधना के बिना मोह रूपी कालपाश से मुक्त होने मे समर्थ नही होता।

जिस अहिसा पर श्रमण या आर्हत सस्कृति ने अत्यधिक जोर दिया उस अहिंसा के विषय मे महाभारत मे जो श्लोक मिलते हैं उनमे से कुछ ये है—

सर्वाणि भूतानि सुखे रमन्ते,
सर्वाणि दु:खस्य भृश त्रसन्ते।
तेषा भयोत्पादनजातखेदः,
कुर्यान्न कर्माणि हि श्रद्दधान:॥

सर्व प्राणी सुख मे आनन्दित होते हैं। सर्व प्राणी दु ख से अति त्रस्त होते हैं। अत प्राणियो को भय उत्पन्न करने मे खेद का अनुभव करता हुआ श्रद्धालु पुरुष भयोत्पादक कर्म न करे।

जीवित य स्वय चेच्छेत् कथ सो अन्य प्रघातयेत्।
यद् यदात्मनि चेच्छेत् तत् परस्यापि चिन्तयेत्॥

जो स्वय जीना चाहता है, वह दूसरो की घात कैसे कर सकता है ? मनुष्य अपने लिए जो चाहे वही दूसरे के लिए भी सोचे।

अहिसा परमो धर्मस्तथाहिंसा परो दम:।
न ह्यात्मन प्रियतर किंचिदस्तीह निश्चितम्॥

अहिसा ही परम धर्म है, अहिंसा ही परम दम है, अहिसा ही परम दान है और अहिंसा ही परम तप है।

हम समन्वय की दृष्टि से महाभारत का काल सबसे श्रेष्ठ मानते है, जिस काल मे जैनो के तीर्थकर नेमिनाथ हुये थे और हिन्दुओ के अवतार श्रीकृष्ण। नेमिनाथ ने हिसा से द्रवित हो कर ससार त्याग किया था। जैन शास्त्रो मे उन्हे श्रीकृष्ण का गुरु बताया गया है। बौद्ध विद्वान् धर्मानन्द, नेमिनाथ को आगिरस बताते है जो श्रीकृष्ण के गुरु थे। इसमे तो सन्देह है ही नही कि अरिष्टनेमि यादवकुल के थे और श्रीकृष्ण के निकट सम्बन्धी। श्रीकृष्ण को भले ही वैदिक या ब्राह्मण सस्कृति ने बाद मे अपनी सस्कृति का महान् पुरुष माना हो पर वे वैदिको के देव इन्द्र के उपासक नही थे बल्कि इन्द्र-पूजा के विरोधी थे। यह सब होते हुए भी श्रीकृष्ण ने समन्वय को अपनाया था। इसलिए वे भी दोनो सस्कृतियो मे आदरणीय बने। ब्राह्मण या हिन्दु सस्कृति ने उन्हे अवतार माना है और श्रमण सस्कृति उन्हे अपना भावी तीर्थकर कहती है।

इस प्रकार भारतीय प्राग् ऐतिहासिक सस्कृति और वैदिक सस्कृति का समन्वय हुआ।

वीर महावीर

बि० उदयचन्द जैन
शास्त्री, प्रभाकर, वाराणसी

भक्तो,
सुनो एक कहानी
देश की वीरो की निशानी
केवल सूत्र ही सूत्र नही
एक और हो है कुर्बानी।
इन्द्र से,
इन्द्रिय दमन, साध्य की कलम
उठाकर जग को
जताई साधना
युग के लिए अमर याद
बन गई पुण्य की निशानी मात्र।
पहुँचाया अन्धो को
हिंसक के मन्तो को
वीर, धीर, महावीर ने
रोते हुए पापो को
जागृति नही,
दे दिया मन्त्र भी पापियो को
ऊँच-नीच भद-भाव
जन-जन से दूर किया।
राह नई दिखाकर
मोहतम नष्ट किया।
दया, प्रेम-भाव-रस
सहनशीलता सहज
अमृत की भांति
बिन्दू बिन्दू
सरसता से बाट दिया।
ले लिया
वीर की आवाज पर
क्षण-क्षण, कण-कण
रोते, सोते जागते, जगाते हुए
देखना मात्र नही
अन्तर-आत्माएँ सभी,
धीर, वीर, योगी, ज्ञानी
कल्पना मात्र नही,
प्रतिपल करते पुकार।

पद्मचरित पर ब्राह्मणधर्म का प्रभाव

—प्रो० रमेशचन्द्र जैन
प्राध्यापक वर्द्धमान जैन डिग्री कालेज
बिजनौर (उ० प्र०)

ईसा की सातवीं शताब्दी में होने वाले जैनाचार्य रविषेण के पद्म चरित की स्वाध्याय का जैनों में अत्यधिक प्रचार है। ज्ञात जैन सस्कृत साहित्य में इससे पूर्व की कोई सस्कृत रचना ऐसी प्राप्त नहीं होती जिसमें रामकथा का का वर्णन हो। लेखक के मतानुसार रविषेण के पद्मचरित की रचना का उद्देश्य जैनेत्तरों की वानर, राक्षसों आदि से सम्बन्धित कुछ तर्कहीन मान्यताओं का खण्डन करना था। रविषेण को जैनेतर रामकथा का पूर्ण ज्ञान था और अपने काव्य में सौष्ठव उत्पन्न करने हेतु उन्होंने अपने उस ज्ञान का उपयोग किया है। अन्य कई आचार्यों ने भी ऐसा किया है। क्या इसे रचनाकार की रचना पर ब्राह्मण धर्म का प्रभाव कहा जा सकता है यह विचारणीय प्रश्न है।

—सम्पादक

भारतीय कथा-साहित्य बहुत विशाल है। प्राकृत, पालि, वैदिक सस्कृत, लौकिक सस्कृत, अपभ्रंश तथा आधुनिक भारतीय भाषाओ मे इस प्रकार का साहित्य विपुल रूप से लिखा गया। कथा साहित्य का उदय भारतवर्ष मे हुआ और इसने ससार के सामने इस साहित्यिक साधन की उपयोगिता सर्वप्रथम प्रदर्शित की। भारत मे कथाये केवल कौतुकमयी प्रवृत्ति को चरितार्थ करने के अतिरिक्त धार्मिक शिक्षण के लिए भी प्रयुक्त की जाती थी और यही कारण है कि ब्राह्मणो ने, जैनियों ने समान भाव से साहित्य के इस अग का परिवर्धन और उपबृहण किया है। बौद्धों के जातको का साहित्य के इतिहास मे तथा कला के सवर्धन मे विशेष महत्व रहा है। कहानी लिखने मे जैनियो को शायद ही कोई पराजित कर सके। पद्मचरित सस्कृत मे जैन रामकथा का आद्य ग्रन्थ होने के साथ साथ सस्कृत जैन कथा साहित्य का भी आद्य ग्रन्थ है। इसकी रचना आचार्य रविषेण ने ७३४ विक्रम

(६६७ ई) मे पूर्ण की। इसके अध्ययन से पता चलता है कि रविषेण को ब्राह्मण धर्म का गम्भीर ज्ञान था। पद्मचरित मे समय-समय पर संकेतित पौराणिक आख्यानो, वृत्तो, घटनाओ तथा पूर्व पक्ष के रूप मे उपस्थापित दार्शनिक सिद्धान्तो से रविषेण का ब्राह्मण धर्म तथा दर्शन सम्बन्धी गम्भीरतम ज्ञान प्रकट होता है। पद्मचरित की रचना इसलिए हुई कि ब्राह्मण धर्म के ग्रन्थो (रामायण आदि) मे राक्षसादि का जो स्वरूप तथा कार्यकलाप आदि निर्धारित किया गया था वह रविषेण को अपनी धार्मिक और पौराणिक मान्यता के अनुसार अभीष्ट नही था।[1] अभीष्ट न होने का कारण रविषेण के अनुसार इस कथानक का युक्तिपूर्ण[2] न होना ही था। रामायण की इस मान्यता की कि रावण ने कान तक खीच कर छोडे हुए वाणो से देवो के अधिपति इन्द्र को पराजित किया था, रविषेण आलोचना करते हुए कहते है कि कहा तो देवो का स्वामी इन्द्र और कहा यह तुच्छ मनुष्य जो कि इन्द्र की चिन्ता मात्र से भस्म की राशि हो सकता था।[3] जिसके ऐरावत जैसा हाथी था और वज्र जैसा महान शस्त्र था तथा जो सुमेरु पर्वत और समुद्र से सुशोभित पृथ्वी को अनायास ही उठा सकता था। ऐसा इन्द्र अल्प शक्ति को धारण करने वाले विद्याधर के द्वारा, जो कि एक साधारण मनुष्य ही था कैसे पराजित हो सकता था।[4] रामायण मे यह भी लिखा है कि राक्षसो के राजा रावण ने इन्द्र को अपने बन्दीगृह मे रखा था और उसने बधन से बद्ध होकर चिरकाल तक लका के बन्दीगृह मे निवास किया था। ऐसा कहना मृगो के द्वारा सिह का वध होना, तिलो के द्वारा शिलाओ का पीसा जाना, पनियाँ साप के द्वारा नाग का मारा जाना और कुत्ते के द्वारा गजराज का दमन होने के समान है।[5] व्रत के धारक राम ने स्वर्ण मृग को और स्त्री के पीछे सुग्रीव के बडे भाई बाली को जो कि उसके पिता के समान था, मारा था। यह सब कथा तर्क युक्तियो से रहित होने के कारण श्रद्धा के योग्य नही है।[6]

ब्राह्मणो की इस मान्यता के प्रति अश्रद्धा का भाव होते हुए भी काव्य मे अलकार आदि के द्वारा रसात्मकता उत्पन्न करने के लिए रविषेण ने पौराणिक ब्राह्मण आख्यानो और मान्यताओ का निर्देश पर्याप्त रूप से किया है, यह उनकी सहिष्णुता का परिचायक है। द्वितीय पर्व मे राजगृह नगर का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

राजगृह नगर धर्म अर्थात् यमराज के अन्त पुर के समान सदा मन को अपनी ओर खीचता रहता है, क्योकि जिस प्रकार यमराज का अन्त पुर केशर से युक्त शरीर को धारण करने वाली हजारो महिषियो अर्थात् भैसो से युक्त होता है उसी प्रकार राजगृह नगर भी केशर से लिप्त शरीर को धारण करने वाली हजारो महिषियो अर्थात् रानियो से सुशोभित है।[7]

राजगृह नगर की स्त्रियो का वर्णन करते हुए कवि ने 'गौर्य विभवाश्रया'[8] पद का प्रयोग किया है जिसका तात्पर्य यह है कि उस नगर की स्त्रिया गौरी अर्थात् पार्वती होकर भी विभवाश्रया अर्थात् महादेव के आश्रय से रहित थी (पक्ष मे गौर्य अर्थात् गौर वर्ण होकर विभवाश्रया अर्थात् सम्पदाओ से सम्पन्न थी)।[9]

एक जगह राजगृह नगर का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

'वह नगर मानो त्रिपुर नगर को ही जीतना चाहता है, क्योकि जिस प्रकार त्रिपुर नगर के निवासी मनुष्य ईश्वर मार्गणैः अर्थात् महादेव के वाणो के द्वारा किए हुए सन्ताप को प्राप्त हैं उसी प्रकार उस नगर के मनुष्य ईश्वरमार्गणैः अर्थात् धनिक वर्ग की याचना से प्राप्त सन्तान को प्राप्त नही थे[10] अर्थात् सभी सुखी थे।'

'जिस प्रकार इन्द्र की चेष्टा गोत्रनाशकारी अर्थात् पर्वतो का नाश करने वाली थी उसी प्रकार उसकी चेष्टा गोत्रनाशकारी अर्थात् वश का नाश करने वाली नही थी। जिस प्रकार दक्षिण दिशा के अधिपति यमराज के अतिदण्डग्रहप्रीति अर्थात् दण्ड के धारण करने मे अधिक प्रीति रहती है उसी प्रकार उसके अतिदण्डग्रहप्रीति अर्थात् बहुत भारी सजा देने मे प्रीति नही रहती थी।[११]

७६ वे पर्व मे लक्ष्मण के द्वारा छोडे गए चक्र को रोकने मे उद्यत रावण की उपमा हिरण्यकशिपु से की गई है—

'जिस तरह पूर्व मे नारायण के द्वारा चलाए हुए चक्र को रोकने के लिए हिरण्यकशिपु उद्यत हुआ था, उसी प्रकार क्रोध से भरा रावण बाणो के द्वारा चक्र को रोकने के लिए उद्यत हुआ।[१२]

८२ वे पर्व मे साहगति विद्याधर को वृत्र का नाती कहा गया है।[१३]

६७ वे पर्व मे सीता के रथ का वर्णन करते हुए कहा गया है कि जिस पर रामरूपी इन्द्र की प्रिया इन्द्रानी आरूढ थी, जिसका वेग मेतारथ के समान तीव्र था और जिसके घोडे कृतान्तवक्र रूपी मातलि के द्वारा प्रेरित थे ऐसा वह रथ अत्यधिक सुशोभित हो रहा था।[१४]

'सब कुछ ब्रह्म ही ब्रह्म है' इस प्रकार ब्रह्मता वाद से युक्त तथा पशुओ की हिसा मे आसक्त दो ब्राह्मणो की (१०६ वा पर्व मे) हसी उडाते हुए कहा गया है कि इन दोनो ब्राह्मणो ने सुख की इच्छुक समस्त प्रजा को लूट डाला है।[१५] ब्राह्मणो का जैन दृष्टि से लक्षण देते हुए कहा गया है कि यथार्थ मे वे ही ब्राह्मण कहलाते हैं जो अहिंसाव्रत को धारण करते हैं।[१६] जो महाव्रत रूपी लम्बी चोटी धारण करते हैं, जो क्षमा रूपी यज्ञोपवीत से सहित हैं, जो ध्यान रूपी अग्नि मे होम करने वाले है, शान्त है तथा मुक्ति को सिद्ध करने मे तत्पर हैं वे ही ब्राह्मण कहलाते हैं।[१७] इसके विपरीत जो सब प्रकार के आरम्भ मे प्रवृत्त है तथा निरन्तर कुशील मे लीन रहते हैं वे केवल यह कहते है कि हम ब्राह्मण है, परन्तु क्रिया से ब्राह्मण नही हैं।[१८] जिस प्रकार कितने ही लोग सिंह, देव अथवा अग्नि नाम के धारक है उसी प्रकार व्रत से भ्रष्ट रहने वाले ये लोग भी ब्राह्मण नाम के धारक है। इनमे वास्तविक ब्राह्मणत्व कुछ भी नही है।[१९] जो ऋषि सयत, धीर, क्षान्त, दान्त और जितेन्द्रिय है ऐसे वे मुनि ही धन्य है तथा वास्तविक ब्राह्मण है।[२०]

सामान्यत परिव्राजक शब्द से ब्राह्मण धर्म के अनुयायी विशेष प्रकार के साधुओ का ही बोध होता है लेकिन पद्मचरित के अनुसार जो परिग्रह को ससार का कारण समझ उसे छोड़ मुक्ति को प्राप्त करते है वे परिव्राजक कहलाते है। यथार्थ मे निर्ग्रन्थ मुनि ही परिव्राजक हैं, ऐसा जानना चाहिए।[२१]

८५ वें पर्व मे वैदिक धर्म द्वारा उपदिष्ट पशु हिसा के सकल्प का दुष्परिणाम बतलाया गया है।[२२]

चतुर्थ पर्व मे ब्राह्मणादि की उत्पत्ति का वर्णन कर दीक्षा से च्युत भृगु, अङ्गि शिरस, वह्नि, कपिल, अत्रि, विद आदि अनेक साधुओ का निर्देश किया गया है जो अज्ञानवश वल्कलो को धारण करने वाले तापसी हुए थे।[२३] इन सबके नाम वैदिक ऋषियो की परम्परा मे मिलते हैं। सप्तम पर्व मे इस प्रकार के मनुष्यो की क्रियाओ के विषय मे कहा गया है कि भले ही पृथ्वी पर सोवे, चिरकाल तक भोजन का त्याग रखे, रात दिन पानी मे डूबा रहे पहाड की चोटी से गिरे और जिससे मरण भी हो जाए ऐसी शरीर सुखाने वाली क्रियाये करे तो भी पुण्यरहित जीव अपना मनोरथ सिद्ध नही कर सकता।[२४]

एकादश पर्व दार्शनिक विवेचन की दृष्टि से अत्यधिक महत्वपूर्ण है इसमे हिसामय यज्ञ की उत्पत्ति, अनेक यज्ञो तथा उनमे की जाने वाली क्रियाओं का उल्लेख, यज्ञो का खण्डन, सर्वज्ञ नही है, इसका उपस्थापन पूर्वक सर्वज्ञ सिद्धि, ब्राह्मणादि चारों वर्णों के विषय मे जन्मना मान्यता का विरोध, सृष्टि कर्तृत्व के विषय मे पूर्व पक्ष की स्थापना तथा उसका खण्डन आदि महत्वपूर्ण विषय वर्णित है। इसके माध्यम से जैनधर्म और ब्राह्मण धर्म की मान्यतायें तथा उनके विभेद को अच्छी तरह समझा जा सकता है। यज्ञ का जैन परम्परा मे निषेध किया गया है। यज्ञ की कल्पना से कोई प्रयोजन नही है अर्थात् यज्ञ की कल्पना करना ही व्यर्थ है। यदि कल्पना करनी ही है तो हिसा यज्ञ की कल्पना नही करना चाहिए,[२५] धर्म यज्ञ की कल्पना करनी चाहिए। इस धर्म यज्ञ का जो स्वरूप रविषेण ने निर्धारित किया उसे वास्तव मे वैदिक यज्ञ का जैनीकरण किया जाना ही कहना चाहिए। आत्मा यजमान है, शरीर वेदी है, सतोष साकल्य है, त्याग होम है, मस्तक के बाल कुशा है, प्राणियो की रक्षा दक्षिणा है, शुक्ल ध्यान (उत्कृष्ट ध्यान) प्राणायाम है, सिद्ध पद की प्राप्ति होना फल है, सत्य बोलना स्तम्भ है, तप अग्नि है, चचल मन पशु है और इन्द्रिया समिधायें है। इन सबसे यज्ञ करना चाहिए, यही धर्म यज्ञ कहलाता है।[२६] ज्ञानाग्नि, दर्शनाग्नि, और जठराग्नि शरीर मे सदा विद्यमान रहती हैं, विद्वानो को उन्ही मे दक्षिणाग्नि, गार्हपत्याग्नि और आहवनीयाग्नि इन तीन अग्नियो की स्थापना करनी चाहिए।[२७]

---

१. पद्म २/२३०–२४६ २. पद्म २/२४६
३ पद्म २/२४१–२४३ ४ पद्म २/२४४–२४५
५. पद्म २/४६–२४७ ६ पद्म २/२४८–२४६
७. महिषीणा सहस्रैर्यत्कुकु माञ्चित विग्रहै
धर्मान्त. पुरनिर्मास धत्ते मानसकर्षणम् ।। पद्म २/३४ ८ पद्म २/४५
६. सन्तापमपरिप्राप्तै कृतमीश्वरमार्गणै
मनुजैर्यत्करोतीव त्रिपुरस्य जिगीषुताम् ।। पद्म २/३६
१० वृषघातीनि नो यस्य चरितानि हरेरिव।
नाति दण्ड ग्रहप्रीति र्दक्षिणाशाविभोरिव ।। पद्म १/६२
११ गोत्रनाशकरी चेष्टा नामराधिपतेरिव।
नाति दण्ड ग्रहप्रीति र्दक्षिणाशाविभोरिव ।। पद्म २/६२
१२ हिरण्यकशिपु क्षिप्त हरिणेव तदा युधम्।
निवारयितुमुत्सुक्त सरब्धो रावण शरै ।। पद्म ७६/३०
१३ पद्म ८२/४५ १४ पद्म ६७/८०
१५ पद्म १०६/७६ १६ पद्म १०६/८०
१७ पद्म १०६/८१ १८ पद्म १०६/८२
१६ पद्म १०६/८३ २० पद्म १०६/८४
२१ पद्म १०६/८५ २२. पद्म ८५/५७–६२
२३ पद्म ४/१२६ २४ पद्म ७/३१६–३२०
२५ पद्म ११/२४१
२६. यजमानो भवेदात्मा शरीर तु विदिका पुरोडाशस्तु सतोष परित्यागस्तथा हवि । पद्म ११/२४२
मूर्धजा एव दर्माणि दक्षिणा प्राणिरक्षणम्। प्राणायाम सित ध्यानस्य सिद्धिपदफलम् ।।
पद्म ११/२४३
सत्य यूपस्तपोवह्निर्मानस चपल पशु । समिधा हृषीकाणि धर्मयज्ञोऽयमुच्यते ।। पद्म ११/२४४
२७. पद्म ११/२४८

उज्जयिनी का पुरातत्त्व

प्रो० कृष्णदत्त बाजपेयी
टैगोर प्रोफेसर तथा अध्यक्ष प्राचीन भारतीय इतिहास,
संस्कृति और पुरातत्व विभाग,
सागर विश्वविद्यालय सागर

भारतीय इतिहास में महाकाल की नगरी उज्जयिनी का अपना एक विशेष महत्व रहा है। उसके आदि, मध्य और इति जिस प्रकार समानरूप से गौरवशाली रहे है वैसे शायद भारत में अन्य नगर कम ही हैं। उसही उज्जयनि के पुरातत्त्व की सक्षिप्त किन्तु रोचक एव ज्ञानवर्द्धक झांकी प्रस्तुत की है सागर के ही नहीं भारत के प्रसिद्ध पुरातत्त्वविद् श्री बाजपेयी ने अपनी इन पंक्तियों में।

—*सम्पादक*

भारत के प्राचीन सास्कृतिक केंद्रो मे उज्जयिनी का स्थान अत्यत महत्त्वपूर्ण है। श्री और समृद्धि का वरदान जैसा उज्जयिनी को मिला वैसा इस देश के बहुत कम नगरो को उपलब्ध हो सका। शताब्दियो तक उज्जयिनी का स्थान धर्म, साहित्य, विज्ञान, कला और व्यवसाय के क्षेत्रो मे प्रमुख रहा। हिन्दू, बौद्ध तथा जैन साहित्य इस नगरी का गुणगान करते नहीं अघाते है।

यह नगरी चंबल की सहायिका शिप्रा नदी के तट पर बसी है। उज्जयिनी का शाब्दिक अर्थ 'विजय प्राप्त करने वाली' या 'विजय प्रदायिका' है। इसके प्राचीन नाम अवतिका, अवतिपुर, विशाखा, महाकालपुरी, विक्रमपुर, विक्रमपट्टन, भोगवती, हिण्यवती, विशाला आदि मिलते है। प्राचीन मालवदेश के पूर्वी भाग की सज्ञा 'आकर' या 'दशार्ण' थी। पश्चिमी भाग को अवति कहते थे। पूर्वी भाग की राजधानी विदिशा और पश्चिमी भाग की राजधानी उज्जयिनी थी। मालवा के धुर दक्षिण

नर्मदा तट पर माहिष्मती (वर्तमान महेश्वर) नगरी थी। महाकालपुरी नाम उज्जयिनि मे महाकालेश्वर शिव के मन्दिर के कारण पडा। यह महाकालेश्वर प्रसिद्ध बारह ज्योतिर्लिगो मे से एक है। भवभूति आदि सस्कृत-लेखको ने इनके मन्दिर को कालप्रिय-नाथ का मन्दिर कहा है। वाल्मीकि रामायण के अनुसार श्री रामचन्द्र के पुत्र कुश महाकालेश्वर के दर्शनार्थ उज्जयिनी गए थे।

उज्जयिनी प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व मे मालव गण की राजधानी थी। इस गण के प्रमुख ने विदेशी शको को परास्त किया। इस विजय के कारण उन्हे 'विक्रम' विरुद से विभूषित किया गया। चौथी-पाचवी शताब्दियो मे उज्जैन को गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य द्वितीय की राजधानी होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। अतः उसके 'विक्रम-पुर' तथा 'विक्रम पट्टन' आदि नाम हुए। उज्जयिनी' नामकरण का कोई स्पष्ट प्रमाण नही मिलता। हो सकता है कि मौर्ययुग पूर्व किसी शासक ने विजयो-पलक्ष मे अवतिका का नाम उज्जयिनी रक्खा हो। बाद मे मालवगण तथा गुप्त शासको के समय यही नाम अनेक दृष्टियो से सार्थक बना रहा। 'पद्मा-वती' नाम नगरी मे पद्म पुष्पो के बाहुल्य की तथा विशाला, भोगवती, हिरण्यवती आदि नाम उसके वैभव और समृद्धि को सूचित करते है। जातक-कथाओ मे पश्चिमी मालवा क्षेत्र के एक प्राचीन शासक का नाम अवन्ति मिलता है। उसके नाम पर इस भूभाग की सज्ञा अवन्ति हुई।

माहिष्मती नगरी के ह्रास के अनतर उज्ज-यिनी की उन्नति द्रुतगति से हुई। उज्जयिनी पश्चि-मी मालवा की प्रमुख नगरी तथा व्यवसाय का एक बडा केन्द्र बन गई। पुराणो मे उज्जयिनी के रोचक वर्णन मिलते हैं, विशषकर स्कदपुराण के आवन्त्य खड मे इसका विस्तृत विवरण दिया गया है। उसके अनुसार भगवान शिव ने अधक तथा दूषण आदि दैत्यो का यही वध किया था, सांदीपनि का आश्रम यही था, जिनसे कृष्ण और बलराम ने शिक्षा प्राप्त की। शिप्रा नदी, महाकालेश्वर मदिर, पद्मावती, विशाला आदि देवियो के मन्दिर तथा अन्य अनेक तीर्थस्थानो का विस्तृत वर्णन आवन्त्य-खड मे दिया हुआ है। गुणाढ्य, भर्तृहरि, व्याडि आदि के साथ उज्जयिनी का सबन्ध बताया गया है।

पुराणो के अनुसार उज्जयिनी भारत के प्रसिद्ध धार्मिक क्षेत्रो मे से थी। उसकी गणना भारत की प्रख्यात सप्तमहापुरियो मे की गई है। रामायण मे रामचन्द्र के समकालीन शरभग ऋषि का आश्रम यही स्थित कहा गया है। अत्रि-ऋषि ने भी उज्ज-यिनी मे कठिन तपस्या की थी। पुराणो के अनुसार यहा विशेषतः शैव धर्म प्रचलित था। दूसरा मुख्य धर्म वैष्णव था। सस्कृत-प्राकृत के अनेक काव्यो, कथाग्रन्थो और नाटको मे धार्मिक केन्द्र के रूप मे उज्जयिनी के प्रचुर वर्णन मिलते है।

जातक, महावस्तु, मज्झिमनिकाय, ललितवि-स्तर आदि बौद्ध ग्रन्थो मे उज्जयिनी के जो वर्णन मिलते है उनसे अनेक राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, शैक्षणिक एव धार्मिक विषयो पर प्रकाश पडता है। महात्मा बुद्ध के समय मे चड प्रद्योत अवति के शासक थे। उनके शासन-काल मे अवति जनपद की बडी उन्नति हुई और उसकी गणना उत्तर भारत के प्रमुख जनपदो मे की जाने लगी। प्रद्योत ने मथुरा तथा कौशाबी के राज्यो के साथ विवाह-सबध स्थापित किए। प्रद्योत की पुत्री वास-वदत्ता तथा वत्सनरेश उदयन की प्रेमकथा भारतीय साहित्य मे अमर है। भास के ग्रन्थो मे, जातक, धम्मपद तथा दिव्यावदान मे, रत्नावली, प्रियद-र्शिका, कथासरित्-सागर और बृहत्कथा मजरी मे एव प्राचीन भारतीय कला मे इस मनोरजक कथा को गुम्फित किया गया है। कालीदास के समय मे

भी विशाला नगरी मे 'ग्राम वृद्ध' उदयन-कथा की चर्चा किया करते थे।

बौद्ध ग्रन्थो से भी विदित होता है कि चण्ड-प्रद्योत ने कात्यायन नामक ब्राह्मण के द्वारा भगवान् बुद्ध को अवति मे निमत्रित किया था। वे कुछ कारणो से वहा न जा सके, पर कात्यायन ने उनकी शिक्षाओ का अवति तथा उसके समीपस्थ राज्यो मे भली-भाति प्रचार किया। उज्जयिनी मे बौद्ध धर्म लाने का प्रथम श्रेय इन्ही कात्यायन को है। बौद्ध साहित्य से ज्ञात होता है कि चण्डप्रद्योत ने कौसल राज्य के प्रसिद्ध चिकित्सक जीवक को बुलाया था, जिसने उज्जयिनी जाकर प्रद्योत को रोग विमुक्त किया।

जैन साहित्य मे भी उज्जयिनी के पर्याप्त वर्णन मिलते है। दिगम्बर-पथी ग्रन्थो के अनुसार महावीर स्वामी ने उज्जयिनि मे तपस्या की थी और उन्हे वहा मन पर्यय ज्ञान की प्राप्ति हुई थी। हेमचन्द्राचार्य ने अपने ग्रन्थो मे अनेक स्थलो पर उज्जयिनी का उल्लेख किया है। तेरहवी शताब्दी मे लिखे हुए जैन ग्रन्थ 'प्रभावक चरित' मे 'कालकाचार्य-कथानक' नामक एक अनुश्रुति है, जिसमे उज्जयिनी के आचार्य कालक तथा वहा के शासक गर्दभिल्ल की कथा विस्तार से दी है। उसके अनुसार कालकाचार्य ने शक-राजाओ की सहायता से गर्दभिल्ल को परास्त किया। फिर गर्दभिल्ल के पुत्र विक्रमादित्य ने शको का सहार कर विक्रम-सवत् चलाया।

तृतीय शताब्दी ई० पू० मे उज्जयिनी बडी समृद्ध नगरी थी। मौर्य शासक अशोक के समय मे उज्जयिनी मौर्य साम्राज्य के अवति प्रान्त की राजधानी थी। अशोक ने यही देवी नामक श्रेष्ठी-कन्या से विवाह किया था, जिससे कुमार महेन्द्र का जन्म हुआ। शुगकाल मे उज्जयिनी का वैभव बहुत बढा-चढा था। शुगसातवाहन काल मे साची के जगत्-प्रसिद्ध स्तूपो का निर्माण-परिष्कार हुआ। उनमें लगे हुये अभिलेखों से ज्ञात होता है कि इस निर्माण मे एरिकिण, मधुवन, नदिनगर, विदिशा तथा उज्जयिनी के श्रेष्ठि-कुटुम्बो न विशेष योग दिया। इन दानदाताओ की सूची को देखने से विदित होता है कि दान का प्रमुख भाग उज्जयिनी के निवासियो द्वारा प्रदत्त था। इनमे कुलवधुओ तथा तपस्विनियो का विशेष हाथ था।

उज्जैन तथा उसके आसपास के क्षेत्र से प्राचीन सिक्के बडी सख्या मे प्राप्त हुए है। वे प्राय चादी, तांबा, कांसा या सीसा के बने है। सबसे प्राचीन सिक्के आहत या पचमार्क्ड कहलाते है। इन पर अवन्ति जनपद के कतिपय चिन्ह अकित है। जनपदीय ताम्रमुद्राओ की सख्या बहुत बडी है। इन पर शिव और देवी की प्रतिमाओ के अतिरिक्त विविध प्रतीक बने हैं। यह प्रतीक वैदिक धर्म से सम्बन्धित है। कुछ मुद्राओ पर ब्राह्मी मे उज्जयिनी का नाम प्राकृत भाषा मे लिखा है। हाल मे लेखक ने उज्जैन के कुछ दुर्लभ सिक्को की पहिचान कर उन्हे प्रकाशित किया है। इन पर ब्राह्मी लिपि मे हमुगम, बलाक, दनु तथा हउमश नाम लिखे है। ये नाम वस्तुत विदेशी शको के हैं, जिन्होने अवन्ति क्षेत्र पर ईस्वी पूर्व द्वितीय-प्रथम शती मे अधिकार कर लिया था। शको को ई० पू० ५७ के लगभग मालव के लोगो ने परास्त किया। अपनी विजय के फलस्वरूप मालवो ने एक सवत् चलाया, जो 'मालव-विक्रम सवत्' नाम से प्रसिद्ध हुआ। उज्जयिनी के भारतीय शासक इन शको से बराबर लोहा लेते रहे। इन शासको मे से सवित् ··· दत्त तथा मदन नामक शासको के सिक्के लेखक द्वारा प्रकाश मे लाये गये हैं। क्षहरातो, शक-क्षत्रपो तथा गुप्त-शासको के सिक्के बडी सख्या मे उज्जैन के क्षेत्र से मिले हैं। ई० पू० दूसरी शती से लेकर ई० छठी शती तक उज्जैन मध्य भारत का एक प्रमुख सांस्कृतिक तथा आर्थिक केन्द्र रहा। अरब सागर के तट

पर स्थित भरुकच्छ (वर्तमान भडौच) को उज्जैन से मध्य भाग्त की विविध उपज पहुचाई जाती थी। पश्चिमी देशों का सामान भरुकच्छ होकर उज्जयिनी पहुचता था।

उज्जयिनी के राजनीतिक तथा आर्थिक महत्व के कारण गुप्त-सम्राटो ने उस पर अपना अधिकार बनाये रखना आवश्यक समझा। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के द्वारा पश्चिमी भारत के अन्तिम शक-क्षत्रप राजा रुद्रसिंह तृतीय को परास्त किया गया। चन्द्रगुप्त ने अवन्ति क्षेत्र तथा पश्चिमी भारत से शक-क्षत्रपो का पूर्णत उन्मूलन कर दिया। उसने इस क्षेत्र मे अपने सिक्के चलाये। चन्द्रगुप्त के पश्चात् कुमारगुप्त द्वितीय और फिर उसके पुत्र स्कन्धगुप्त का भी शासन इस क्षेत्र पर कायम रहा। पाचवी शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश मे मालवो ने फिर अवन्ती क्षेत्र पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। इस समय उत्तर-पश्चिम से हूणो के प्रबल आक्रमण मध्यभारत पर होते रहे। अवन्ति क्षेत्र मे प्रबल शासक यशोधर्मा ने हूणराज तोरमाण के पुत्र मिहिरकुल को करारी पराजय दी। यशोधर्मा की इस महान् विजय का उल्लेख दशपुर (वर्तमान मदसौर) मे स्थापित उसके जयस्तम्भो मे उपलब्ध है। यशोधर्मा तथा उसके वशजो के कारण इस क्षेत्र का नाम मालवा प्रसिद्ध हुआ। इन शासको को प्राचीन मालवगढ से सम्बन्धित मानना युक्ति सगत होगा।

मालव शासको के पश्चात् इस क्षेत्र पर कलचुरियो, गुर्जर प्रतीहारो तथा परमारो का आधिपत्य क्रमशः हुआ। ईसवी सातवी शती के प्रारम्भ से लेकर बारहवी शती तक के इस काल मे उज्जयिनी और उसके आसपास के प्रदेश की बडी श्रीवृद्धि हुई। यहाँ बहुसख्यक मदिरो तथा विविध धर्मों से सम्बन्धित कलापूर्ण प्रतिमाओ का निर्माण हुआ। इनमे जैन मदिरो तथा मूर्तियो की सख्या बहुत बडी है। साहित्यिक दृष्टि से भी उज्जयिनी की इस पूर्व-मध्य काल मे बडी उन्नति हुई।

उज्जैन तथा उसके आसपास के क्षेत्र मे पिछले कतिपय वर्षों से अनुसधान तथा उत्खनन का कार्य हो रहा है। विशेषज्ञो का अनुमान है कि प्राचीन उज्जयिनी वर्तमान उज्जैन नगर के उत्तर की ओर बसी थी। प्राचीन महाकालवन की भूमि पर वर्तमान नगर का एक बडा भाग आबाद है। उत्तर की ओर के पुराने टीलो मे प्राचीन इमारतो के अवशेष तथा सिक्के, आभूषण आदि प्राप्त होते रहते है। उज्जैन की प्रारम्भिक खुदाइयो मे चित्रित भूरे मृद्भाण्ड प्राप्त हुये है। उनके साथ लोहे के विविध उपकरण मिले है। इन भाण्डो के बाद की सभ्यता वह थी जिसमे मुख्यत काले ओपदार भाण्ड प्राप्त हुये है। खुदाई मे इन दोनो कालो की भौतिक सभ्यता की अन्य वस्तुये भी उपलब्ध हुई थी। श्री मो० ब० गर्दे द्वारा उज्जयिनी मे सबसे पहले उत्खनन कराया गया। उसमे प्राचीन नगर के पूर्व-उत्तर तथा दक्षिण ओर कच्ची ईंटो के बने हुए प्राकार के अवशेष प्राप्त हुए। नगर के पश्चिमी ओर क्षिप्रा नदी बहती थी। इस उत्खनन मे विभिन्न प्रकार के मणि भी प्राप्त हुये। तदनन्तर उज्जैन मे डा० ह्वीलर के समय मे तथा उसके बाद भी सर्वेक्षण तथा उत्खनन कार्य जारी रहा। डा० ह्वीलर का मत है कि अपनी उन्नति के प्रथम युग मे उज्जयिनी का विस्तार लगभग एक मील लम्बा तथा ३/४ मील चौडा था। उसे रक्षा-दीवाल द्वारा सुरक्षित कर दिया गया था। इस दीवाल के अतिरिक्त लगभग ८० फुट चौडी तथा २० फुट गहरी खाई भी थी। उज्जैन के कुम्हारटेकरी नामक स्थान से अनेक मानव-ककाल भी प्राप्त हुये थे।

हाल मे उज्जैन नगर से लगभग १५ मील पश्चिम कायथा नामक स्थान मे विक्रम विश्वविद्यालय द्वारा उत्खनन कार्य कराया गया। इस

कार्य मे डेकन कालेज पूना के द्वारा भी योग दिया गया है। कायथा के उत्खनन से इस क्षेत्र की ताम्राश्म युगीन सस्कृति पर महत्वपूर्ण प्रकाश पडा है। इस सभ्यता को कालक्रमानुसार दो युगो मे बाटा गया है। प्रथम युग का समय लगभग २०५० ई० पू० से लेकर १७५० ई० पू० तक निर्धारित हुआ है। इस युग के कुछ ऐसे बर्तन मिले है जिन पर विशेष ढग के ज्यामितिक चित्रण हैं। इनके साथ तावे तथा कासे के अनेक उपकरण भी मिले है। धातु तथा पाषाण के अनेक रोचक आभरण भी उपलब्ध हुए है।

ताम्राश्म युग का दूसरा काल लगभग १७५० ई० पू० से १३०० ई० पू० तक आता हे। इस युग में भौतिक सभ्यता के उपकरण अधिक उन्नत हुये। मिट्टी की बनी हुई विविध मानवाकृतियां तथा पशु आकृतिया इस काल की निर्मि है। यह इस बात को प्रदर्शित करती है कि तत्कालीन युग के लोग सभ्यता की दृष्टि से अपने पूर्ववर्ती लोगो की अपेक्षा अधिक उन्नत हो गये थे। इस काल मे लोग एक विशेष प्रकार के बर्तनो का प्रयोग करते थे। इन्हे 'मालवा भाण्ड' कहा गया है।

कायथा उत्खनन से इस क्षेत्र के आद्य इतिहास पर नि.सन्देह महत्वपूर्ण प्रकाश पडा है। दोनो युगो मे प्राप्त बर्तन तथा आभरण कायथा के अतिरिक्त महेश्वर, नावदा और एरण से भी मिले है।

●

महावीर वाणी

सिर काटने वाला शत्रु भी उतना अपकार नही करता, जितना दुराचरण मे लगी हुई अपनी आत्मा। दया शून्य दुराचारी को अपने दुराचरणों का पहले ध्यान नही आता, परन्तु जब वह मृत्यु के मुख में पहुँचता है, तब अपने सब दुराचरणो को याद करके पछताता है।

प्रेषक—**वीरचन्द्र सोवनकर, नागपुर**

भजन

भगवान महावीर जो भारत मे न ग्राते ।
दुख दर्द जमाने का कहो कौन मिटाते, व्यथा किस को सुनाते ।।

पशुग्रो की गर्दनो पर, चला करते दुधारे ।
बे मौत बे गुनाह, कटा करते बिचारे ।।
गर वीर दया करके, जो उनको न छुडाते ।। दुख दर्द० ।।

मन्दिर मठो मे खू की, मचा करती होलिया ।
यज्ञो मे प्राणियो की जला करती टोलिया ।।
भगवान ग्रहिसा का जो डका न बजाते ।। दुख दर्द० ।।

भगवान महावीर ने वह ज्ञान सिखाया ।
जिसने करोडो हैवो को इन्सान बनाया ।।
हम ठोकरे खाते जो न वह राह बताते ।। दुख दर्द० ।।

गर वीर न होते तो हमे कौन बनाते ।
स्वाधीन किस तरह से बने कौन सिखाते ।।
गांधी को ग्रहिसा का सबक कौन बताते ।। दुख दर्द० ।।

शान्ति का था वह दूत, ग्रहिसा का पीर था ।
शेरो मे था वह शेर ग्रौर वीरो मे वीर था ।
कारण यही हम सब उसे, सर ग्रपना झुकाते ।। दुख दर्द० ।।

—सकलित

श्रमणों की निर्ग्रन्थ परम्परा

डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री
काव्यतीर्थ, साहित्यरत्न, साहित्याचार्य, एम. ए , पी-एच. डी.
शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, नीमच

ऐतिहासिक दृष्टि से श्रमण परम्परा उतनी ही प्राचीन है जितनी कि वैदिक परम्परा। वेदों में यत्र तत्र उसके उल्लेख प्राप्त होते है उमसे यह निष्कर्ष भी निकाला जाना असमीचीन नही कि श्रमण परम्परा वैदिक परम्परा से प्राचीनतर है। प्राप्त प्रमाणों से यह भी पता चलता है कि श्रमण परम्परा में निर्ग्रन्थ नग्न साधुओं का अस्तित्व उसके आद्य काल से ही रहा है। ऐतिहासिक दृष्टि से इस ओर अभी बहुत कम प्रयास हुवा है और अभी बहुत कुछ होना बाकी है। खेद है जैन समाज इस महत्व-पूर्ण कार्य को घोर उपेक्षा की दृष्टि से देखती है, उसका द्रव्य अन्य अनुपयोगी कार्यों की ओर तो व्यय होता है किन्तु धर्म प्रभावना के इस अग की ओर उसका ध्यान न कुछ के बराबर है

—सम्पादक

भारतीय सस्कृति के प्राक् ऐतिहासिक काल से ही श्रमण तथा वैदिक परम्पराम्रो के निदर्शन तथा उल्लेख प्राप्त होते है। सामान्यत. "श्रमण" शब्द का प्रयोग जैन तथा बौद्ध साधुम्रो के लिए किया जाता है। इसका शब्दार्थ-है-श्रम करने वाला अर्थात् तपस्वी, उग्र तपस्वी। आध्यात्मिक साधना मे जैन साधु-सन्तो की उग्र तपस्या एव ध्यान-परम्परा का उल्लेख जैन आगम ग्रन्थो मे ही नही वेद, ब्राह्मण ग्रन्थो तथा उपनिषदो मे भी मिलता है। श्रमण-सस्कृति तथा जैन धर्म का इतिहास आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव से आरम्भ होता है। प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव तथा अन्तिम भगवान् महावीर हुए। ऋग्वेद के दशम मण्डल मे एक पूरा सूक्त ही ऋषभ की प्रशस्ति मे वर्णित है। उसमे शत्रुम्रो के हन्ता, इन्द्रियो के स्वामी (जितेन्द्रिय), योगक्षेम के वाहक तथा श्रेष्ठ आत्मा के रूप मे वर्णन किया गया है। केवल एक सूक्त मे नही कई ऋचाम्रो मे विभिन्न रूपो मे ऋषभ को अर्हन् तथा

महादेव के रूप मे वर्णित किया गया है। विद्वानो की मान्यताओ के अनुसार ऋग्वेद मे उल्लिखित व्रात्य (जो कि अणुव्रत तथा महाव्रतों का पालन करते थे) लोगो को श्रमण जातियों का पूर्वज माना गया है। इसी प्रकार पणियों को भी श्रमण साधक कहा गया है। मनुस्मृति (अध्याय १०) मे लिच्छवि, नाथ और मल्ल आदि क्षत्रिय जातियो को व्रात्य कहा गया है। जैन धर्म के प्रवर्तक सभी तीर्थंकर क्षत्रिय जाति के थे। इस अति प्राचीन परम्परा मे कही विरोध या विरोधाभास नही दिखलाई पड़ता। और आज भी इसके जीवित चिन्ह तथा-प्रमाण विद्यमान है। दक्षिण भारत मे कई सहस्रो की सख्या मे आदिवासी जैन धर्म को मानने वाले तथा पालने वाले विद्यमान है। बिहार मे ये सराक जाति के है तो पजाब मे महाभाव और महाराष्ट्र मे कुछ भिन्न जाति के जैन धर्म का पालन करने वाले है। ये सभी श्रमणों की निर्ग्रन्थ परम्परा के उपासक हैं। कहीं-कहीं पर तो रात को पानी तक नही पीते, माताए बच्चो को रात मे दूध तक नहीं पिलाती। बिना पूजा-पाठ किये अन्न-जल ग्रहण नहीं करते। पानी छान कर पीते है। आदिनाथ की उपासना करते है। मागलिक कार्यो मे सर्वप्रथम ऋषभदेव, पारसनाथ या महावीर की आराधना करते हैं। कुलदेव या अन्य रूप मे मनौती मानते है। इस प्रकार वे आचार-विचारो मे भलीभाति जैन सिद्ध होते है।

जैनागमो के अध्ययन से स्पष्ट है कि श्रमण पाँच प्रकार के थे-निर्ग्रन्थ, शाक्त, तापस, गेरुक और आजीवक। तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार पुलाक, बकुस कुसल, निर्ग्रन्थ और स्नातक कहे गये है। निर्ग्रन्थ श्रमण श्रेष्ठ माने जाते थे। ग्रन्थ का सामान्य अर्थ है-गाँठ। जो कर्मों की गाँठ से रहित होने के लिए प्रयत्नशील अर्थात् आध्यात्मिक-साधना मे तपस्या मे रत रहता था उसे निर्ग्रन्थ कहा जाता था। किन्तु बौद्ध त्रिपिटक ग्रन्थो को देखने से यह भी पता चलता है कि नग्न जैन साधुओ के लिए भी इस शब्द का व्यवहार प्रचलित था। ऋग्वेद, श्रीमद्भागवत तथा अन्य पुराणो मे भी कुछ इस प्रकार के उल्लेख मिलते है। जैनो का दिगम्बर सम्प्रदाय परम्परा के रूप मे निर्ग्रन्थ शब्द का अर्थ अन्तरग और बहिरग परिग्रह (ग्रन्थ) से रहित अर्थात् सर्वथा परिग्रह हीन (निर्ग्रन्थ) दिगम्बर मानता है। मज्झिमनिकाय मे भी "निगण्ठ नाथपुत्त" (निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र) सर्वज्ञ, सर्वदर्शी महावीर का जो वर्णन मिलता है उसमे वस्त्ररहित अवस्था का उल्लेख है, जो उचित भी है। क्योकि भगवान् महावीर अचेलक अर्थात् नग्न दिगम्बर साधु थे। इसमे श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो ही परम्पराए सहमत है। किन्तु जैनागमो के अनुसार तीर्थंकर पार्श्वनाथ को सचेलक माना जाता है। भ महावीर के समय मे तीर्थंकर पार्श्वनाथ की परम्परा प्रचलित थी। पिहितासव मुनि तथा उनका शिष्य बुद्धि-कीर्ति निर्ग्रन्थ मुनि थे। भगवान् बुद्ध के समय मे तथा उनके पश्चात् कई निर्ग्रन्थ मुनि हुए। जिस समय ई०पू० चौथी शताब्दी के लगभग बौद्ध धर्म लका मे पहुचा उस समय निर्ग्रन्थ श्रमण वहा पर विद्यमान थे। केवल लका मे ही नही इण्डोनेशिया के कई भागो मे निर्ग्रन्थ श्रमण फैले हुए थे। ई०पू० ३२६ के नवम्बर मास मे जब प्रतापी सिकन्दर ने अटक के निकट सिन्धु नदी को पार किया तब वहा से वह तक्षशिला मे जाकर ठहरा। उस समय उसे पता चला कि वहा पर अनेक नग्न श्रमण साधु (जिमनो सोफिस्ट) एकान्त मे तपस्या मे लीन हैं। वह उनसे बहुत प्रभावित हुआ। चीनी यात्री हुएनसाग ने तक्षशिला मे नग्न श्रमण साधुओं का उल्लेख किया है। श्वेताम्बर श्रमण साधुओं का भी वर्णन उसने किया है। तक्षशिला से १४० मील की दूरी पर सिहपुरा और नमक के पर्वतो के निकट का सरोवर तथा सिहपुरा आदि दिगम्बर जैन साधुओ के तपस्या केन्द्र के रूप

म वर्णित हैं। जी०एफ० मूर का कथन है कि ईसा की जन्मशती के पूर्व ईराक, शाम और फिलिस्तीन मे जैन मुनि और बौद्ध भिक्षु सैंकडो की सख्या मे चारो ओर फैल कर अहिंसा धर्म का प्रचार करते थे। पश्चिमी एशिया, मिस्र, यूनान और इथोपिया के पहाडो तथा जगलो मे उन दिनो अगणित भारतीय साधु रहते थे, जो अपने त्याग और आध्यात्मिक विद्या के लिए प्रसिद्ध थे। वे साधु वस्त्र भी नही पहनते थे। मेजर जनरल जे०बी०आर० फरलाग ने "साइन्स आव कम्पेरेटिव रिलीजन्स" नामक शोध ग्रन्थ मे बताया है कि ओक्सियना, केस्पिया, बल्ख तथा समरकन्द के नगरो मे जैन धर्म के केन्द्र पाये गये है, जहा से अहिंसा धर्म का प्रचार होता था। इसके प्रचारक अनेक निर्ग्रन्थ श्रमण साधु थे। भारतवर्ष मे भी उत्तर भारत से लेकर दक्षिण भारत मे कन्याकुमारी तक वे फैले हुए थे। चीन देश से अत्यन्त प्राचीनकाल मे भारतवर्ष का अहिंसा और शान्ति का सम्बन्ध रहा है। दो जैन व्यापारियो के विशिष्ट सम्बन्ध का उल्लेख प्रमाण रूप मे आज भी प्राप्त है। बुद्ध भगवान् के समय मे निगण्ठो (निर्ग्रन्थो, जैनो) के मुख्य केन्द्र वैशाली और नालन्दा थे। राजगृह, कालशिला और इसिगिल पर्वत पर उनके मुख्य वास-स्थल थे। तीर्थंकर पार्श्वनाथ के समय से ही सम्पूर्ण मगध जैनो का मुख्य केन्द्र था। सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य तथा खारवेल के समय मे श्रमण निर्ग्रन्थो की प्रेरणा से कई अभिलेख तथा जैन शासन की शिक्षाए अकित करायी गयी थी। प्रियदर्शी अशोक की भाति ईरान के शाह दारा ने अपनी प्रजा के लिए पाषाणो पर अहिंसा के पालन का आदेश अकित कराया था। आज भी वह अभिलेख तख्तेजमशेद नामक स्थान मे विद्यमान है। इस प्रकार श्रमण निर्ग्रन्थ-परम्परा के आज जो चिन्ह व प्रमाण मिलते है उनसे उसकी अत्यन्त प्राचीनता भलीभाति सिद्ध हो जाती है।

उत्तर भारत की अपेक्षा दक्षिण भारत मे श्रमण निर्ग्रन्थ दिगम्बरो की परम्परा मूल रूप में तथा विपुलता मे सुरक्षित रही है। वहा के अभिलेख तथा जैन साहित्य इस बात का साक्षी है कि दक्षिण भारत का आदिकालीन साहित्य जैन साहित्य ही है। ई०पू० ३००-३०० ई० का तमिल साहित्य (सगम युग) जैन मुनियो तथा श्रमण-सस्कृति का श्रेष्ठ निदर्शन है। इसी प्रकार कन्नड-साहित्य मे से यदि जैनो की कृतिया निकाल दी जाये तो कुछ नही बचेगा। कन्नड का अधिकाश साहित्य जैन साहित्य है। ई०पू० दूसरी-तीसरी शताब्दी के शिलालेखो मे भी तमिल प्रदेश मे जैन धर्म के व्यापक प्रचार होने के प्रमाण मिलते है।

प्राचीनकाल मे अफगानिस्तान, लका, नेपाल, तुर्किस्तान और मध्य एशिया मे भी जैन धर्म के फैलने के उल्लेख मिलते है। ई०पू० १५००-८०० ई०पू० मे उत्तर भारत मे जैन धर्म खूब फल-फूल रहा था। डा० जीमर के शब्दो मे जैन धर्म ब्राह्मण आर्यो मे उद्भूत न होकर उत्तर-पूर्वी भारत का प्रागार्यकालीन उच्च वर्ग का धर्म है। ब्राह्मण्ड-विद्या और मनुष्य-शरीर-रचना शास्त्र मे वह उससे प्राचीन है। इस प्रकार देश-विदेशो मे जैन धर्म के प्राचीन होने और उसके प्रचार होने के कई प्रमाण मिलते है। जैन तथा इतर पुराणो मे भी विभिन्न जातियो के सम्पर्क के उल्लेख मिलते है। अतएव जैन धर्म तीर्थंकर पार्श्वनाथ या महावीर के समय से ही नही प्राक्-वैदिक काल से आदि तीर्थंकर ऋषभनाथ के समय मे प्रचलित चला आ रहा है। इसके मानने वाले अहिंसक धनी-मानी लोग ही नही क्षत्रिय राजन्य वर्ग तथा चाण्डाल, भील-कोल आदि एव विद्वान् ब्राह्मण भी रहे हैं।

प्राप्त प्रमाणो के अनुसार श्रमण-निर्ग्रन्थ परपरा की सूचक जैन प्रतिमा लौहानीपुर (पटना) की खुदाई मे सर्वप्राचीन प्राप्त हुई है। यह दिगम्बर जैनो की सबसे प्राचीन प्रतिमा है। यह प्रतिमा

उत्तर मौर्य शुंग-युग के प्रारम्भिक काल की कही जाती है। इसका समय तीसरी-दूसरी शताब्दी ई०पू० माना जाता है। अतएव यह मथुरा के पुरातत्व से प्राप्त होने वाली प्राचीन जैन सामग्री (आयागपट्ट, मूर्ति) से भी प्राचीन है। इसी प्रकार कलिंग सम्राट् खारवेल के द्वारा निर्मित जैन दिगम्बर मूर्तियां भी प्राचीनतर मानी जाती है, जो हाथी गुम्फा मे सुरक्षित है। इसी प्रकार हैदराबाद के निकट श्वेताम्बर जैन तीर्थ कुलपाक मे भी जैन मन्दिर से कुछ दूर पहाडी पर भगवान् महावीर की तथा अन्य चन्द्रगुप्त मौर्य के काल की दिगम्बर जैन मूर्तियां मिलती है।

केवल कला की दृष्टि से ही नहीं प्राचीनता की दृष्टि से भी एलोरा की गुफाए भारतीय सस्कृति एव इतिहास की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसी प्रकार आबू और देलवारा की जैन प्रतिमाए अपने कलात्मक वैभव के लिए प्रसिद्ध हो चुकी है। इनकी गौरव-गरिमा केवल अपने क्षेत्र मे ही नही विदेशो तक प्रसारित हो चुकी है। अजन्ता-एलोरा की गुफाओ की तथा वहा प्राप्त होने वाली जैन प्रतिमाओ की ख्याति जर्मनी तक पहुच चुकी हे। उत्तर भारत मे श्रीनगर से लेकर दक्षिण भारत मे कन्याकुमारी तक विस्तीर्ण विविध जैन मन्दिरो मे विभिन्न युगो की जैन प्रतिमाए आज भी श्रमण-परम्परा की उत्कृष्ट निदर्शन है। कही-कही उच्च गिरी-शृगो पर तो कही उपत्यकाओ मे और कही पर्वत-शृखलाओ के मध्य गिरि-पाषाणो को खराद कर जैन प्रतिमाओ का निर्माण किया गया है। बडे बड़े राजाओ और मन्त्रियो ने राज-दुर्गों मे भी विशाल जैन प्रतिमाओ को उत्कीर्ण कराया था। ग्वालियर, चित्तौडगढ तथा माण्डवदुर्ग आदि मे भी आज भी उनके मूर्तिमान रूप प्राप्त होते हैं। स्वर्णगिरी (सोनागिरि), मुक्तागिरि, कुण्डलगिरि आदि तो विशुद्ध रूप से दिगम्बर जैनो के प्रसिद्ध तीर्थस्थान है। सम्मेदशिखर, गिरिनार, शत्रुंजय, अन्तरिक्षपार्श्वनाथ तथा मक्सी पार्श्वनाथ आदि दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो के महात्म्यपूर्ण पवित्र तीर्थस्थल माने जाते हैं। राजस्थान, गुजरात तथा विदर्भ मे जैनो के अनेक तीर्थस्थान है। चादा जिले मे भद्रावती (भादक) दिगम्बर जैनो का अतिशयक्षेत्र था। वर्तमान मे श्वेताम्बर जैनो का वहा पर आधिपत्य है। अन ऐतिहासिक सामग्री पूर्णतया प्रकाश मे नही आ सकी हे। इसी प्रकार अमरावती से दस मील दूर भावकुली अतिशय क्षेत्र है। एलिचपुर से बारह मील दूर अरण्य मे उन्मुक्त पर्वतीय शिखर पर मुक्तागिरि सिद्ध क्षेत्र स्थित है। वहा पर गिरि-शिखर मे कई सुन्दर गुफाए मिलती है। गुफाओ के पार्श्व मे बावन जिनालय है। चित्तौड दुर्ग मे कीर्तिस्तम्भ तथा पार्श्ववर्ती जिनालय दिगम्बर जैनो की प्राचीन कलात्मक सस्कृति के श्रेष्ठ निदर्शन है। गुजरात मे गिरिनार तथा दक्षिण भारत मे श्रवणबेलगोल निर्ग्रन्थ परम्परा के सबसे बडे केन्द्र एव तीर्थस्थान रहे है। आज भी वे प्राचीन कलात्मक वैभव तथा सास्कृतिक गौरव के श्रेष्ठ प्रतीक है।

यदि भारतीय सस्कृति से श्रमण सस्कृति को पृथक कर दे तो वह एकाकी, पगु और अधूरी होगी। उसमे भारतीय जीवन की समग्रता का बोध तथा चेतनता का स्पन्दन प्राप्त नही हो सकेगा। क्योकि भारतीय सस्कृति का प्राण तत्व त्याग, तपस्या, अहिसा और समता का जीवन उसमे कूट-कूट कर भरा हुआ है। डा० राधाकमल मुखर्जी के शब्दो मे –"भारतीय सभ्यता को जैन धर्म की सर्वोच्च मूल्य की देने है-प्रत्येक जीवधारी के प्रति उदारता और तपस्या पद्धति के प्रति वस्त्रत्याग और उपवासादि के प्रति विश्वजनीन आदरभावना। यह बात केवल साधुओ ने ही नही, श्राविकाओ ने ही नही, किन्तु जनसामान्य ने भी स्वीकार की। बड़े-बडे राजाओ और पुरोहितो ने भी।"

●

जैन साहित्य का नैषध—हीरसौभाग्य

—श्री सत्यव्रत तृषित'
अध्यक्ष संस्कृत विभाग
गवर्नमेण्ट डिग्री कॉलेज, श्रीगंगानगर

काव्य और इतिहास दोनों दृष्टियों से (सौलहवीं शताब्दी के विद्वान् श्री देव विमल गणि की) हीर सौभाग्य एक महत्त्वपूर्ण रचना है जिसका आदर्श श्री हर्ष का प्रसिद्ध किन्तु दुरूह नैषध काव्य है किन्तु अपने आदर्श जैसा दुरूह और दुर्बोध्य हीर सौभाग्य नहीं है। इस निष्कर्ष के साथ विद्वान् लेखक ने अपने पत्र में बड़े ही दुख के साथ लिखा है कि इस काव्य का प्रकाशन कभी काव्यमाला में हुआ था जो अब अप्राप्य सा ही है। उन्होंने जैन धनिक समाज से इस महत्त्वपूर्ण ग्रथ के पुन प्रकाशन की प्रार्थना भी की है। आशा है श्रीमन्तों का जिनकी इस समाज में कमी नहीं है, ध्यान इस ओर जावेगा।

—सम्पादक

माघोत्तर काव्य साहित्य मे जैन कवि (सोलहवीं शताब्दी) देवविमलगणि का हीर सौभाग्य, उन इने-गिने महाकाव्यो मे है जिनकी रचना नैषध की परम्परा में हुई है। सतरह सर्गों के इस विशालकाय ऐतिहासिक महाकाव्य में प्रसिद्ध तपागच्छीय आचार्य, हीरविजयसूरि के निस्स्पृह तथा लोकोपकारी जीवन का उदात्त वर्णन है। मुगल सम्राट् अकबर तथा हीरसूरि का मिलन तथा धर्म गोष्ठी, जैनधर्म के इतिहास की एक रोचक एव गौरवशाली घटना है, जिसके फलस्वरूप विधर्मी का अतुल राजसी वैभव सयमधन साधु की निरीहता तथा सच्चरित्रता के समक्ष अनायास नतमस्तक हो जाता है। यही मर्मस्पर्शी प्रसग देवविमल के काव्य का हृदयस्थल है। अन्य ऐतिहासिक महाकाव्यों की भांति हीर सौभाग्य में भी जैनाचार्य के चरित को पूर्ण काव्य सज्जा के साथ प्रस्तुत किया गया है, किन्तु कवि ने जिस निष्पक्षता से तथा जिस प्रौढ़ काव्य शैली मे अपने कथ्य का

निबन्धन किया है, उससे काव्य और इतिहास, दोनों की गौरव वृद्धि हुई है। और अकबर के एक अन्य कल्याणमित्र, जैन यति सिद्धिचन्द्र की यह उक्ति, देवविमल के ऐतिहासिक विवरण पर अक्षरशः चरितार्थ होती है।

न चाधिक स्मयावेशाद् न च न्यून तदत्ययात्।
यथार्थमेव यज्जात तत्तथैव निगद्यते ॥[1]

हीर सौभाग्य का महाकाव्यत्वः— प्राचीन लक्षणकारो ने महाकाव्य के जो मानदण्ड निश्चित किये है, उनके आधार पर हीरसौभाग्य एक सफल महाकाव्य सिद्ध होता है। यह सर्गबद्ध रचना है तथा इसके फलक मे महाकाव्योचित विस्तार है। परम्परागत नियम के अनुसार हीर सौभाग्य का प्रारम्भ मगलाचरण से हुआ है, जिसके प्रथम आशीर्वादात्मक पद्य मे पार्श्वप्रभु से श्रीवितरण की प्रार्थना की गयी है। प्रह्लादन पुर के विस्तृत वर्णन मे सन्नगरी-वर्णन की काव्यरूढि का पालन हुआ है। धीर प्रशान्त गुणो स युक्त, श्रेष्ठिवशप्रसूत हीर विजय इसके नायक है। काव्य की कथावस्तु जैन साहित्य तथा समाज मे सुविख्यात है, जिसकी पुष्टि इतिहास के स्वतन्त्र स्रोतो से होती है। अत इसे ऐतिहासिक (प्रख्यात) मानना सर्वथा न्यायोचित है। किन्तु कथानक का सम्बन्ध जिस केन्द्रीय पात्र से है, वह वीतराग साधु तथा आदर्श मानव है, फलत, इसे सदाश्रित भी माना जा सकता है। हीर सौभाग्य मे मुख्यत शान्तरस का पल्लवन हुआ है। वात्सल्य, करुण, शृगार, अद्भुत तथा वीर रस इसके पोषक बन कर आए है। चतुर्वर्ग मे से धर्म प्राप्ति इसका उद्देश्य है। काव्य के अनुसार धर्म जीवन की प्राणवायु है, जिसके बिना मानव जीवन मृतवत् निश्चेष्ट तथा निरर्थक है[2]। काव्यनायक की समूची गतिविधिया इसी धर्म के प्रसार तथा उन्नयन की ओर उन्मुख है। सूक्तीवादी काव्यो मे अग्रणी होते हुए भी हीरसौभाग्य मे, कथानक को सुसगठित बनाने वाली नाट्य सन्धियो का सफल विनियोग हुआ है।

महाकाव्य-परिपाटी के अनुसार प्रस्तुत काव्य मे नगर, उपवन, वनविहार, जलक्रीडा, दोलान्दोलन सैन्य प्रयाण, दिग्विजय, चन्द्रोदय, चन्द्रास्त, प्रभात, सूर्योदय, रात्रि आदि वस्तुव्यापार के विस्तृत अलकृत वर्णनो का समावेश किया गया है। इसका शीर्षक काव्यनायक के नाम पर आधारित है तथा सर्गों का नामकरण, उनमे वर्णित विषयो के अनुरूप हुआ है। छन्दो के प्रयोग मे भी देवविमल ने प्राय शास्त्रीय बन्धन को स्वीकार किया है। इस प्रकार हीरसौभाग्य मे महाकाव्य के प्राय सभी परम्परागत लक्षणो का यथावत् परिपालन किया गया है। इसके अतिरिक्त इसमे प्रौढ भाषा, शैलीगत उदात्तता, विद्वता प्रदर्शन की प्रवृत्ति, जन जीवन का चित्रण आदि आधुनिक तत्व भी विद्यमान है। प्राचीनता तथा नवीनता के इस मजुल मिश्रण के कारण हीर सौभाग्य साहित्य मे गौरवपूर्ण स्थान पाने का अधिकारी है। इसके विवेचन के बिना सस्कृत महाकाव्यो का इतिहास अपूर्ण तथा एकागी रहेगा।

कथानक— हीर सौभाग्य सतरह सर्गो का बृहत् काव्य है, जिसके अधिकाश सर्गों मे शताधिक पद्य है। चौदहवें सर्ग मे यह सख्या तीन सौ तक पहुँच जाती है।

काव्य का प्रारम्भ जम्बूद्वीप, भारतवर्ष तथा प्रह्लादनपुर के विस्तृत वर्णन मे होता है। द्वितीय सर्ग मे प्रह्लादनपुर के धनाढ्य व्यापारी कुरा की रूपसी पत्नी नाथी के सौन्दर्य का नखशिख वर्णन तथा नवदम्पती की यौवनसुलभ केलियो का निरूपण हुआ है। तृतीय सर्ग मे नाथी सम्वत् १५८३ की मार्गशीर्ष शुक्ला नवमी को एक शिशु को जन्म देती है। तीनो लोको के मुकुट के रत्न के समान उस बालक का नाम हीर रखा गया। चतुर्थ सर्ग

मे महावीर स्वामी से लेकर विजयदानसूरि तक पूर्वाचार्यों की परम्परा का वर्णन है। पचम सर्ग मे कुमार हीर, ससार यौवन तथा लक्ष्मी की अनित्यता से अभिभूत होकर, कार्तिक कृष्णा द्वितीया, सम्वत् १५९६ को विजयदान सूरि से पाटन मे प्रव्रज्या ग्रहण करता है। छटे सर्ग मे शासन देवता के आदेश से विजयदान उसे सम्वत् १६१०, पौष शुक्ला पचमी को, शिवपुरी (सिरोही) मे सूरि के गौरवपूर्ण पद पर प्रतिष्ठित करते है। हीरक की भाति प्रिय होने तथा विद्वन्मण्डलियो मे उसकी भावी विजय से आश्वस्त होने के कारण उसका नाम हीरविजय रखा गया। सातवा सर्ग वर्षा, शरत्, सूर्यास्त, सन्ध्याराग, चन्द्रोदय आदि के वर्णन से परिपूर्ण है। अष्टम सर्ग मे यतिराज हीरविजयसूरि मन्त्र की साधना करते है, जिससे जैन शासन की अधिष्ठात्री देवी उनके सामने उपस्थित होती है। इस सर्ग मे शासन देवता के अगो-प्रत्यगो का विस्तृत वर्णन है। नवे सर्ग मे हीरविजय, शासन देवी के आदेश से अपने मेधावी शिष्य जय विमल को, अहमदाबाद मे क्रमशः उपाध्याय तथा सूरिपद प्रदान करते है। दसवे मे मुगल सम्राट् अकबर के समदर्शी तथा निस्स्पृह साधु के विषय मे पूछने पर उसके सभासद जैनयति हीरविजय का गुणगान करते है। ग्यारहवे सर्ग मे अकबर का निमन्त्रण पाकर सूरिराज, यह सोचकर कि सम्राट् को मिलने से धर्मवृद्धि होगी, सीकरी को प्रस्थान करते है। बारहवे सर्ग मे हीरविजय अर्बुदाचल पर पहुँचते हैं। सर्ग के अधिकाश मे आबू पर्वत तथा वहा के मन्दिरो का वर्णन है। मार्गवर्ती नगरो मे आर्हतधर्म का प्रचार करते हुए, तेरहवे सर्ग मे, जैनाचार्य सीकरी पहुँचते हैं, जहां उनका राजसी स्वागत किया गया। फतेपुर मे हीरविजय की प्रथम धर्मगोष्ठी, अकबर के आध्यात्मिक मित्र तथा मन्त्री अबुलफजल के साथ हुई, जिसमे विद्वान मन्त्री ने इस्लाम के महत्वपूर्ण सिद्धान्तो पर जैन यति से गम्भीर चर्चा की। इस दार्शनिक विचार-विनिमय के पश्चात् अबुलफजल जैनाचार्य को अकबर की सभा मे ले गया, जैसे सिद्धिदायक मंत्र इष्टदेव को साधक के पास ले आता है। जैन साधु की कठोर सयमपूर्ण चर्या तथा सहिष्णुता की चर्चा सुन कर सम्राट् श्रद्धा से नत हो गया। चौदहवे सर्ग मे अकबर के साथ जैन यति की धर्म चर्चा होती है, जिसमे वह सम्राट् को धर्म, गुरु तथा देव के वास्तविक स्वरूप का दिग्दर्शन कराता है। अकबर हीरसूरि की निरीहता, सच्चरित्रता तथा दयालुता से बहुत प्रभावित हुआ। आगरा मे पावस के चार मास व्यतीत करने के पश्चात् हीरविजय की अकबर से दूसरी गोष्ठी हुई जिसमे आचार्य ने सद्-असद् की विस्तृत मीमासा करते हुए आर्हत धर्म की सर्वोत्कृष्टता का युक्तिपूर्ण प्रतिपादन किया। मुगल सम्राट् अपना समस्त वैभव जैनसाधु के चरणो पर न्योछावर करने को तैयार हो गया किन्तु उस तपस्वी ने, अकबर के बार-बार आग्रह करने पर उससे राज्य के समस्त बन्दियो को मुक्त करने तथा पर्युषण पर्व के आठ दिन, समूचे राज्य मे जीववध पर प्रतिबन्ध लगाने का अनुरोध किया, जिसे सम्राट् ने सहर्ष स्वीकार किया और इस आशय के छह फरमान हीरसूरि को दिये। जैन साधु की धार्मिक उपलब्धियो तथा सच्चरित्रता के उपलक्ष मे सम्राट् ने उसे जगद्गुरु की उपाधि से विभूषित किया। कालान्तर मे अकबर ने हिन्दुओ पर लगने वाले जजिया को भी समाप्त कर दिया तथा एक फरमान के द्वारा हीरविजय को शत्रुजय तीर्थ का स्वामित्व प्रदान किया। पन्द्रहवें सर्ग मे हीरविजय सघ के साथ शत्रुजय की यात्रा के लिए प्रस्थान करते है। इस सर्ग के अधिकांश में तथा अगले सर्ग मे शत्रुजय का महात्म्य तथा वर्णन है। अन्तिम सर्ग मे तीर्थयात्रा के पश्चात् हीरविजय ,सघ के अनुरोध पर द्वीपबन्दिर के लिए प्रस्थान करते है, किन्तु मार्ग मे, उन्नत पुर से (ऊना) मे उनका देहान्त हो जाता

है। उनके पट्टधर विजय सेन के विलाप के साथ ही काव्य की समाप्ति हो जाती है।

तत्कालीन महाकाव्य-परम्परा के अनुसार देवविमल ने अपने कथानक को काव्य सज्जा से सजा-सवार कर प्रस्तुत किया है। काव्य मे प्रचलित रूढ़ियो को समाविष्ट करने की आतुरता के कारण उसने, पौर ललनाओ के सम्भ्रमचित्रण, सैन्यप्रयाण, दिग्विजय, अश्वचेष्टा आदि के कतिपय ऐसे वर्णनो को भी हीरसौभाग्य मे चिपका दिया है, जो उसकी मूल प्रकृति से मेल नही खाते। इस प्रवृत्ति का दुष्परिणाम यह हुआ कि वर्णनो के जाल मे फस कर कथानक मृग छटपटाता रहता है। कवि के व्याध को उस पर तनिक भी दया नही आती। द्वितीय सर्ग के अपरार्ध, चतुर्थ सर्ग, प्रकृति वर्णन वाले सातवे सर्ग तथा दसवें सर्ग के पूर्वार्ध का मूल कथानक से कोई सम्बन्ध नही है। अर्बुदाचल तथा शत्रु जय के वर्णन एव महात्म्य वाले बारहवे, पन्द्रहवे तथा सोलहवे सर्ग भी कथावस्तु के साथ अतीव सूक्ष्म तन्तु से बन्धे हुए है। यह अनुमान करना कदाचित् असगत न होगा कि देवविमल ने समय-समय पर स्वतत्र रूप मे प्रकृति तथा तीर्थ वर्णन के इन पद्यो को लिखा था तथा अवसर पाकर उन्हे काव्य के कलेवर मे ठूस दिया है। इस प्रकार देवविमल ने काव्य मे वर्णनो के दृढ सेतु बाध कर कथानक की धारा को रोक दिया है। वस्तुत. नैषध की भाति, जो देवविमल का आदर्श है, ये प्रासगिक-अप्रासगिक वर्णन ही काव्य का सर्वस्व है। उसी की भाति हीरसौभाग्य मे प्रबन्धात्मकता नष्ट हो गयी है और यह एक सूक्तिवादी महाकाव्य बन कर रह गया है। सतोष यह है कि देवविमल मे अद्भुत काव्य प्रतिभा है जिसके कारण उसके सभी वर्णन रोचकता तथा सरसता से स्पन्दित रहते हैं।

प्रकृति चित्रण:—हीरसौभाग्य के फलक पर प्रकृति का व्यापक चित्रण हुआ है जो कवि के प्रकृति-प्रेम का प्रतीक है। देवविमल ने काव्य मे स्थान-स्थान पर नगर, उपवन, नदी, पर्वत, षड्-ऋतु, सूर्यास्त, चन्द्रोदय, सूर्योदय के अभिराम चित्र अकित किये है। कवि का प्रकृति के प्रति इतना अनुराग है कि वह कथानक को छोड कर बार-बार प्रकृति की ओर मुडता है। धर्माचार्य के ऐतिहासिक वर्णन मे ये स्थल नयनाभिराम शाद्वल है।

प्रकृति का चित्रण करने मे कवि ने सस्कृत-साहित्य की चिर परिचित तथा प्रचलित शैलियो का प्रयोग किया है, किन्तु प्रकृति के आलम्बन पक्ष की ओर वह अधिक आकृष्ट नही हुआ है। प्रकृति के सहज रूप से, वाल्मीकि व्यास अथवा कालिदास जैसे निश्छल प्रेम की तो देवविमल से आशा करना निरी दुराशा होगी। प्रकृति के इस पक्ष के प्रति कालिदासोत्तर कवियो की-सी सहानुभूति भी हीरसौभाग्य मे समाप्त हो गयी है। प्रकृति-चित्रण मे, श्री हर्ष आदि की भाति कवि का आग्रह उक्तिवैचित्र्य की ओर अधिक रहा है। उसका यह उक्तिवैचित्र्य काव्य मे अधिकतर अप्रस्तुत विधान का परिधान पहन कर आया है, जो स्वय प्राय. उत्प्रेक्षा के रूप मे प्रकट हुआ है। अप्रस्तुत विधान की कुशल योजना से कवि का प्रकृतिचित्रण अद्भुत सौन्दर्य तथा दीप्ति से तरलित हो गया है।

हीरसौभाग्य मे प्रकृति को बहुधा मानवी रूप मे प्रस्तुत किया गया है। जिस सूझबूझ से देवविमल ने प्रकृति पर मानवीय भावनाओ तथा क्रिया-कलापो को आरोपित किया है, वह एक ओर, उसके मानव मन की विविध क्रियाओ एव विक्रिया-के गहन अध्ययन को व्यक्त करती है, दूसरी ओर उसकी सूक्ष्म पर्यवेक्षण शक्ति तथा सादृश्य योजना की क्षमता की ज्वलन्त प्रतीक है। सप्तम सर्ग मे प्रकृति के मानवीकरण की झडी-सी लग गयी है। इस दृष्टि से सूर्यास्त का वर्णन विशेष उल्लेखनीय है। निम्नोक्त पक्तियो मे सूर्य को पिता का रूप दिया गया है। जिस प्रकार मरणासन्न पिता,

अपने हृदयहीन पुत्रों के भाग जाने से स्वय को असहाय देखकर क्रोध से झुझला उठता है, उसी प्रकार सूर्य विपत्ति मे अपनी किरणो को साथ छोडता देखकर क्रोध से लाल हो गया है।

विधेर्नियोगेन निजास्तपश्यान्पुत्रानिवोत्स-
गजुष. स्वरश्मीन्।
दृष्ट्वा यियासू स्तदुदीतकोपादिवारुणीभू-
तमथारुणेन ॥७।१४

प्रस्तुत पद्य मे कमलिनी तथा भवरो पर क्रमशः पद्मिनी नायिका तथा युवको की चेष्टाओ को आरोपित करने से सन्ध्या के इस सामान्य दृश्य मे रोचकता तथा सजीवता का सचार हो गया है।

सरोजिनी कोशकुचौ निपीड्याधरच्छदे
पीनरसं स्ववातात्।
मीलन्मुखी कम्पमिषान्निषेध्द्री जह
मेहलेव युववद्द्विरेफै. ॥७।२६

कवि की उक्ति वैचित्र्य की प्रवृत्ति के कारण हीरसौभाग्य मे प्रकृति का स्वाभाविक चित्रण बहुत कम दृष्टिगत होता है। फिर भी काव्य मे प्रकृति के कुछ सश्लिष्ट-स्वाभाविक चित्र मिलते है, जिनमे, विभिन्न अलकारो का आश्रय लेकर प्रकृति के सहज रूप को उजागर करने का प्रयास किया गया है।

प्रात-कालीन समीर तथा अश्वो की वृत्ति का प्रस्तुत चित्र स्वाभाविकता से प्रोत प्रोत है, यद्यपि पद्य के उत्तराधं मे कवि ने अपनी कल्पना को उत्प्रेक्षा के आवरण मे प्रस्तुत किया है।

वाता वान्ति स्मितकजसरिद्वारिकल्लोलमन्तो
मन्द मन्द स्खलितगतयः स्त्रैणवक्षोजशैले।
जातिस्नेहात्किमिह मिलितु कम्पितैराननाना-
माजानेया अपि हरिहयाना ह्यन्ते विभाते॥
२।१३८

प्रकृति के स्वाभाविक पक्ष का चित्रण करने मे कवि ने अधिकतर अप्रस्तुत विधान की योजना की है। सातवे सर्ग मे सान्ध्य राग तथा तारो का वर्णन करते समय तो उसने अपनी कल्पनाओ का कोश लुटा दिया है। ऐसे वर्णनो मे काव्य सौन्दर्य तो निखर उठता है, किन्तु प्रकृति पृष्ठभूमि मे चली जाती है। ऐसे स्थलो पर प्रकृति वर्णन मे जो कुछ सौन्दर्य है, उसका सारा श्रेय अप्रस्तुत विधान को है।

सूर्य अस्त हो चुका है। आकाश मे सन्ध्या की गाढी लालिमा फैली हुई है। कवि कल्पना करता है कि रात्रि रूपी स्त्री ने अपने पति चन्द्रमा का स्वागत करने के लिये गगनागन मे कुकुम के थापे लगाए है।

नभोऽङ्गणे सान्द्रित सान्ध्यरागे-
र्बभेऽम्बुधि शीलति हेलिबिम्बे।
भर्तु विधोरागमने प्रणीतै रात्रि-
स्त्रिया कुकुमहस्तकै. किम्॥ ७।३६॥

हीर सौभाग्य मे एक स्थान पर प्रकृति के उद्दीपन रूप का भी चित्रण हुआ है। पावस के इस वर्णन मे मेघ गर्जना को, काम को पुनर्जीवित कर पथिको के हृदय का मन्थन करते हुए तथा बिजली की चमक को विरहिणियो को भस्मीभूत करने वाले आग्नेय अस्त्र के रूप मे चित्रित किया गया है।

प्रवासिहृद्वारिधिमाथमन्था—
चलोपम वारिधारो जगज।
वोरावत सालससून शस्त्र
प्रोत्साहयन्विश्व जिगीषयेव॥ १३।१०१

विश्लेषियोषाविरहोष्म शुष्यत्त-
नूंनिहन्तु दयिनेन रत्याः।
कार्शानव शस्त्रमिव प्रयुक्त व्यलीलसद्
व्योम्नीव तडिद्वितानम्॥ १३।१०३

सौन्दर्य वर्णन–देव विमल ने प्राकृतिक सौन्दर्य की भाति मानव सौन्दर्य का भी हृदयग्राही चित्रण काव्य मे किया है, जो उसके सौन्दर्य बोध तथा निरीक्षण शक्ति का परिचायक है। सौन्दर्य वर्णन

मे कवि ने परम्परातत नख शिख प्रणाली का आश्रय लिया है, जिसमे वर्ण्य पात्र के अ गो-प्रत्यगो का सूक्ष्म वर्णन किया जाता है। शासन देवता के चित्रण मे यह प्रवृत्ति पराकाष्ठा को पहुंच जाती है। शासन देवता के मुख की सुगन्ध तक का वर्णन काव्य मे किया गया है, यद्यपि अनावश्यक विस्तार के कारण ;इसमे पिष्टपेषण अधिक हुआ है। देव विमल ने अपनी सूझ-बूझ से अधिकतर अभिनव एव कल्पन.पूर्ण उपमानो के द्वारा पात्रो के सौन्दर्य की अभिव्यक्ति की है, जिससे उसके सौन्दर्य चित्र सजीवता से मुखर हो उठे है। कवि का यह कौशल आर्हत धर्म की अधिष्ठात्री देवी के वर्णन मे अधिक प्रकट हुआ है।

जिनेशितु. शासनदेवतायाः
पादारविन्देऽरुणिमा दिदीपे।
प्रणेमुषीणा दिविषद्वधूना
सीमन्त सिन्दूरमिवात्र लग्नम्॥ ८।१६
रम्भास्फुरद्वैभवयत्सुपर्व
सारगदृक्केलिनिकेतनस्य।
अन्तर्वसत्सालसदृक्स्मरस्य
स्तम्भौप्रगल्भौ स्फुरतः किमूरु॥ ८।३८
भस्मीकृत धूर्जटिनाक्षिलक्ष्मी
कृत्य प्रसूनध्वजजीविनेशम्।
मा हन्तु मामष रत्या गुप्त
गृह यज्जघन व्यधायि॥ ८।४३
सीमन्तदण्डः सुरपद्मदृष्टे
रुन्मादयामास मनासि यूनाम्।
सहावरोधेश्वरत स्मरस्य
व्यक्तीभवन्ती पदवी किमेषा॥ ८।१६२

रस योजना-हीर विजय जैसे तपस्वी आचार्य के जीवन से सम्बन्धित होने के कारण प्रस्तुत काव्य मे जीवन की अनित्यता, लक्ष्मी, यौवन आदि की चचलता विषयो की दु.खमयता तथा सयम की महत्ता का तत्परता से निरूपण किया गया है। फलतः हीर सौभाग्य मे शान्त रस की प्रधानता है। देशनाओ, अकबर तथा हीरसूरि की धर्म चर्चा मे तथा अन्यत्र भी शान्त रस की सफल अभिव्यक्ति हुई है। वात्सल्य, करुण, शृङ्गार आदि भी आनुषगिक रूपसे यथा स्थान विद्यमान है।

विजयदानसूरि के धर्मोपदेश तथा हीरकुमार के प्रस्तुत विमर्श मे शान्तरस का मार्मिक पल्लवन हुआ है।

इन्द्र वारणमिवेयमसारा-
ससृतिः कृतदुरन्तविकारा।
पकिलावट इव निमग्ना-
निर्गमे न भविन. प्रभवन्ति॥ ५।१५
सान्ध्यराग इव जीवितमास्ते-
यौवन च सरितामिव वेग।
यत्क्षणेव कमला क्षणिकेय
तत्त्वरध्वमनिश जिनधर्मे॥ ५।२२
अस्ति कश्चन न कस्यापि-
भ्रातृपुत्रपितृमित्रजनादि।
ससृतौ क्षणिकता कलयन्त्या
नानुयाति परलोकजुष तत्॥ ५।२४

कुमार के शैशव-वर्णन मे वात्सल्य रस का मनोरम छटा देखने को मिलती है। धात्री द्वारा बोलने का अभ्यास कराने पर वह सुग्गे की भाति तुतलाता हुआ तथा उसकी अ गुली पकड कर ठुमक-ठुमक चलता हुआ माता-पिता के मन को मोहित करता है।

धात्र्योदिता प्रथमत. पृथुक प्रकाण्डः
कीरस्य शाव इव चारुमुवाच वाचम्।
तस्या. पुनः समवलम्ब्य करागुलीः स
लीलायित वितनुते स्म गतौ स्विकायाम्॥ ३।७१

गुरु हीरविजय की मृत्यु का समाचार सुनकर विजयसेन सूरि का हृदय हाहाकार कर उठता है। उनके विलाप मे करुणरस साकार हो उठा है।

श्रुत्वा तद्वच आहत इवाभवद्-
वाष्पपूर्णनयनयुगः ।
एष पुनर्दुःखादिदमजीगद-
द्गद्गदध्वनितः ॥ १७।२०२
हा हा सूघन बोधनैकविबुध
श्रीसूरि चूडामणे
हा सिद्धान्तसमुन्द्रमन्दरगिरे
हा शासनाहर्मणे ।
हा हा यौवितक वावपुरदरगुरो
वैराग्यवारानिधे
हा कारुण्यनिधे विधेर्वशतया त्व
कुत्र यात. प्रभो. ॥ १७।२०४

देव विमल ने मानव-हृदय के विभिन्न भावो का रसात्मक चित्रण किया है, जिससे काव्य मे रसार्द्रता का समावेश हो गया है। कथानक की मूल प्रकृति के अनुसार उसने शान्तरस को मुख्यता दी है, किन्तु इस नाते शृङ्गार की सरसता को कुचल नही दिया। शृङ्गार माधुरी को काव्य मे बनाए रखना जैन कवि की सहृदयता तथा साहित्यिक न्यायप्रियता का प्रतीक है।

भाषा-हीर सौभाग्य की भाषा सस्कृत का शृङ्गार है। वह महाकाव्योचित गरिमा तथा उदात्तता से ओत प्रोत है। देवविमल चित्रकाव्य की बाह्य चमाचम से तो अभिभूत नही हुआ, किन्तु काव्य से उसके व्याकरण-पाण्डित्य का पर्याप्त परिचय मिलता है। हीरसौभाग्य मे व्याकरण के विद्वत्तापूर्ण प्रयोगो की कमी नही है। कवि को कर्म-वाच्य लिट् तथा लुङ्, नामयातु तथा क्वसु प्रत्ययान्त रूप बहुत प्रिय हैं। निम्नोक्त पद्य मे, आचारार्थ मे, क्विप् प्रत्ययान्त क्रियाओ का सुन्दर प्रयोग हुआ है।

निदाधति क्रीडवहापय.प्लवे महत्व-
गोत्रे च सहस्रनेत्रति ।
गुणद्रुमद्रोणिषु मन्त्रजिह्वति
क्षितीश शील पुरुषेण खण्डितम् ॥ १४।४९

किन्तु देव विमल को भली भांति ज्ञात है कि भाषा के सौन्दर्य का आधार पाण्डित्य नही, सहजता है। अतः समर्थ होते हुए भी उसने अपनी भाषा को अधिक अलकृत नही किया है।

नैषध की भाति हीरसौभाग्य की भाषा की मुख्य विशेषता उसका पदलालित्य है। हीरसौभाग्य के प्रायः प्रत्येक पद्य मे पद लालित्य विद्यमान है-जो भाषा प्रयोग मे कवि के विवेक एव सुरुचि को व्यक्त करता है। हीरसौभाग्ये पदलालित्यम् उक्ति उतनी ही सार्थक है, जितनी 'दण्डिन. पदलालित्यम्' अथवा 'नैषधे पदलालित्यम्'।

देवविमल की भाषा बहुधा रस तथा प्रसग की अनुगामिनी है, अतः उसमे कही कोमलता तथा मसृणता है, कही वह ओजोगुणव्यजकदीप्ति से तरलित है, कही उसमे करुणरस की कातरता तथा विवशता है, किन्तु अधिकतर वह प्रसाद से परिपूर्ण है। प्रसाद का प्रासाद सुबोधता की भित्ति पर आधारित है। भाषा की सरलता का यह गुण हीर-सौभाग्य मे प्रचुर मात्रा मे वर्तमान है। इस सन्दर्भ मे अकबर तथा दूतो का यह सवाद दर्शनीय है।

तपस्वी सभस्मा श्मशानाश्रयो वा
त्रिदण्डी जटी वा मठी रुण्डमाली।
व्रती वाडवो धूमपः सोमपो वा भवेद्यो न
ते कृत्यमादिश्यता स. ॥ ११।१२
पुरे ललाटलक्ष्मीललामायमाने
प्रतीरेऽम्बुधे. किं तु गन्धारनाम्नि
प्रभावैर्भुव भासयन्हीरसूरीश्वरः
साधुधर्मस्तनूमानिवास्ते ॥ ११।१६
प्रसातस्य लेशोऽपि तेनैकपद्या
यथावाप्यते नात्मना ब्रह्मणेव ।
शिवानामिवावासमत्रानयेता
भवन्तौततः सूरिसारङ्ग राजम् ॥ ११।१७

यवन पात्रो से सम्बन्धित होने के कारण हीर-सौभाग्य मे फारसी के शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं। फते

(विषय), स्फुरन्मान (फरमान), भिस्ति (स्वर्ग), दोयकि (नरक), खुदा (ईश्वर) कुछ ऐसे शब्द हैं ।

इस प्रकार हीर सौभाग्य की भाषा प्रौढ़ तथा सशक्त है । उसमे कथानक को विभिन्न परिस्थितियो तथा पात्रो के मनोभावो को प्रकट करने की पूर्ण क्षमता है ।

अलंकार विधान- हीरसौभाग्य अलकारवादी कृति है । इसमे आद्यन्त अलकार की निर्बाध योजना हुई है । किन्तु हीरसौभाग्य की विशेषता यह है कि अन्य अलकृति प्रधान काव्यो की भाति इसमे अलकार बलात् ठूसे गये अथवा ऊपर से चिपकाए हुए प्रतीत नही होते । वे काव्य के स्वाभाविक अग बन कर आए है, जिनसे भावाभिव्यक्ति को स्पष्टता मिली है । भावानुभूति को सशक्त बनाने के लिये कवि ने बहुधा अप्रस्तुत विधान का आश्रय लिया है । नैषधकार के समान देवविमल के पास अप्रस्तुत विधान का असीम भण्डार है तथा कल्पना का अक्षय कोश है । कवि की ये कल्पनाए अधिकतर उत्प्रेक्षा का रूप लेकर आयी है, यद्यपि कही-कही उन्होने अतिशयोक्ति, सन्देह, अपह्नुति आदि का भी आवरण पहना है । देवविमल ने अपने अप्रस्तुत शास्त्र, शृगारिक जीवन तथा लोक व्यवहार से ग्रहण किये हैं । लोक-जीवन पर आधारित अप्रस्तुत तो बहुत अनूठे बन पड़े है । आकाश मे छिटके तारे ऐसे प्रतीत होते हैं मानो कामुक दिन से रमण करती हुई आकाश लक्ष्मी के स्वेदकण हो, अथवा अपमानित दिवस के द्वारा शाप देने समय फेंके गये मन्त्राभिषिक्त तण्डुल हो ।

> चिर विनोदैर्दिननायकेनाभिकेन
> साकं सुरवर्त्मलक्ष्म्या ।
> नक्षत्रलक्षात्किमशेषवक्षः
> श्रमाम्बुभिर्बिन्दुकित बभूव ।। ७।५७

> तथा तवाप्यस्तु यथा त्रियामे
> निष्कास्यतेऽह गलहस्तयित्वा ।
> शपन्निनीवाक्षिपद् ऋक्षलक्षाक्षतानह-
> र्योग्यममभिमन्त्र्य गच्छन् ।। ७।६१

देवविमल की उपमाए भी उसकी कल्पना-शीलता को व्यक्त करती है । हीरसौभाग्य की उपमाओ मे रोचक वैविध्य दिखाई देता है । प्रस्तुत उपमा का अप्रस्तुत प्रकृति मे ग्रहण किया गया है, जो कवि के प्रकृति-प्रेम तथा पर्यवेक्षण शक्ति का द्योतक है । कुमार हीर को लोगो की बातो मे गणधर का आगमन इस प्रकार ज्ञात हुआ जैसे मुर्गे की बाग से चकवे को सूर्योदय का भान होता है ।

> आगम गणधरस्य कुमारो
> ज्ञानवानथ मिथो जनवाग्भि. ।
> कोकपोत इव नक्तविरामे
> ताम्रचूडवचनैस्तपनस्य ।। ५।६

उपर्युक्त अलकारो के अतिरिक्त हीरसौभाग्य मे समासोक्ति, अतिशयोक्ति, अर्थान्तिरन्यास, दृष्टान्त, विरोधाभास, स्वभावोक्ति, परिसख्या, असगति, यथासख्य व्यतिरेक, रूपक, अनुप्रास, श्लेष आदि का प्रयोग हुआ है, जो कवि कल्पना के प्रबल प्रमाण है ।

छन्द योजना-शास्त्रीय विधान के अनुरूप हीर-सौभाग्य के प्रत्येक सर्ग मे एक छन्द की प्रधानता है । सर्गान्त मे छन्द परिवर्तन कर दिया गया है । कुछ सर्गों मे नाना वृत्तो का प्रयोग भी दृष्टिगोचर होता है । कुल मिलाकर हीरसौभाग्य मे इकतीस छन्द प्रयुक्त हुए है । उपजाति का प्रयोग सबसे अधिक हुआ है ।

काव्यगत मूल्य के अतिरिक्त हीरसौभाग्य के ऐतिहासिक विवरण की प्रामाणिकता भी सन्देहा-तीत है । काव्य मे वर्णित हीरविजय के जीवन की

प्रायः सभी प्रमुख घटनाओं की पुष्टि, उनके मरण-स्थल उन्नतपुर मे उत्कीर्ण शिलालेख से होती है। अन्य सम्बन्धित प्रसगो के सत्यासत्य के परीक्षण के लिये श्राईने अकबरी तथा अल बदाऊनी जैसे ख्याति प्राप्त ग्रन्थो से अमूल्य सहायता मिलती है।

इस प्रकार काव्य तथा इतिहास दोनो दृष्टियो मे हीरसौभाग्य महत्वपूर्ण रचना है। देवविमल का आदर्श नैषधकाव्य है, किन्तु जहा श्री हर्ष ने अपने काव्य को शास्त्रीय वैदुष्य से आक्रान्त कर शास्त्रवत् दुर्बोध बना दिया है, वहां, देवविमल ने अपनी सुरुचि से काव्य को विद्वत्ता का प्रदर्शन-स्थल नही बनने दिया। फलत. वह साहित्य को एक ऐसा प्रौढ काव्य देने मे सफल हुआ है, जो महाकाव्य-परम्परा के अध्ययन के लिये अनिवार्य है तथा केवल कवित्व की दृष्टि से भी सस्कृत के उत्तम महाकाव्यों से टक्कर ले सकता है।

●

---

१. भानुचन्द्रचरित्र १/१३
२. अभगभोगाम्बुधिशर्वरीयता धरेश धर्मेण विना जनुष्मताम्।
अपार्थतामुद्वहते पर जनुर्विना फलौर्धरवकेशिनामिव ॥ ११/८३

महावीर वाणी

क्रोध प्रीति का नाश करता है, मान विनय का नाश करता है, माया मित्रता का नाश करती है और लोभ सभी सद्गुणों का नाश कर देता है। शान्ति से क्रोध को मारो, नम्रता से अभिमान को जीतो, सरलता से माया का नाश करो और सन्तोष से लोभ को काबू में लाओ।

प्रेषक—**वीरचन्द्र सोवनकर**, नागपुर

सिद्धार्थनंद ! शतशः प्रणाम

रचयिता—अनूपचन्द न्यायतीर्थ 'साहित्यरत्न' जयपुर

त्रिशला माता की आँखों के–
तारे, प्यारे ! ओ वर्द्धमान।
दीनों दलितों के संरक्षक
पतितोद्धारक पावन पुमान ।।

ओ परम पुजारी मानवता !
दानवता शोषक विपुल धीर।
सद्बुद्धि विवेक विकास युक्त
सन्मति दाता श्री महावीर ।।

हो जग वैभव से अनासक्त
आसक्त हुए सुख शांति ओर।
कस दिया कषायों को तुमने
ले लिया तपस्या योग घोर ।।

तुमने पायी वह दिव्य ज्योति
हो गया स्वतः ही सब सुधार।
सब वैर विरोध भुला बैठे
खुल गये सभी के हृदय द्वार ।।

हो गया अलौकिक ज्ञान प्रकट
बन गये ज्ञान मय स्वयं आप।
हो गये तोम तम सब विलीन
लख सत्य अहिंसा का प्रताप ।।

हो उठी स्वतः वाणी मुखरित
मिट गयी धारणा सभी भ्रांत।
उतरा मानव के जीवन मे
शुचि स्याद्वाद औ अनेकांत ।।

सब जाति पांति बंधन टूटे
ना ऊंच नीच का रहा ध्यान।
दीनो धनिकों के भेद मिटे
हो गये सभी मानव समान ।।

पशु यज्ञ और नर बलियां जो
नित होती थी ले धर्म आड।
सारी ही सहसा लुप्त हुई
सो गयी सभी निद्रा प्रगाढ ।।

छा गयी शांति की लहर एक
मानव मानस मे बढा प्रेम।
आल्हादित सबके हृदय हुए
हो गया सभी मे कुशल क्षेम ।।

सिद्धांत आज भी यदि माने
हम सत्य, अहिंसा, स्याद्वाद।
साम्राज्य शांति का छा जावे
जीवन सुखमय हो निर्विवाद ।।

कम करना सीखे आकांक्षा
संग्रह की मन से हटे चूप।
आ जाय स्वतः ही जनता में
सच्चा समाजवादी स्वरूप ।।

'जीओ और जीने दो' संदेश
घर घर मे फैले अति ललाम।
सुख शांति शक्ति के संवर्द्ध का
सिद्धार्थ नद शतशः प्रणाम ।।

अरहंत या अरिहंत

—पं० हीरालाल सिद्धान्तशास्त्री
ऐ० पन्नालाल दि० जैन सरस्वती भवन
ब्यावर

वैदिक धर्म में जो महत्त्व महामत्र गायत्री का है वैसा ही महत्त्व जैनों में पञ्च नमस्कार महामत्र का है। यह महामत्र साम्प्रदायिक आग्रह से रहित है और इसमें किसी भी धर्म अथवा सम्प्रदाय के विशिष्ट ईश्वर, अवतार आदि को नमस्कार न कर विशिष्ट गुणवान् आत्माओं को नमस्कार किया गया है। यह मत्र धवला में मगलाचरण रूप से प्रयुक्त हुआ है। इससे पूर्व के किसी अन्य ग्रन्थ में यह नहीं मिलता। इसके बाद के ग्रन्थों में इसके प्रथम पद के तीन रूप प्राप्त होते हैं—१, णमो अरिहताण २ णमो अरहन्ताण ३ णमो अरुहन्ताण। धवलाकार ने अपने मगलाचरण में प्रथम रूप का ही प्रयोग किया है अत' वह ही इसका शुद्ध रूप होना चाहिये किन्तु प० नवीनचन्द्र शास्त्री आदि विद्वानों के अनुसार यह रूप गलत है और यह पाठ 'णमो अरहन्ताण' होना चाहिये। उसके लिये उन्होंने जो युक्तियां दी हैं वे पाठक गुरु गोपालदास बरैया स्मृति ग्रन्थ में उनके लेख 'णमोकार मत्र ' पाठालोचन' में देखे। इस सबंध में सिद्धान्त शास्त्री जी की युक्तियां भी प्रबल और विचारणीय है।

—सम्पादक

जैनों के सभी सम्प्रदायो मे णमोकारमत्र समान-रूप से समादृत है और अनादि मूल मंत्र माना जाता है। इसकी महिमा मे आचार्यों ने बड़े-बड़े गीत गाये है, इसे सर्व मगलो मे प्रथम मगल और सर्व पापो का नाशक माना है, एव यहाँ तक कहा है कि यह द्वादशाङ्ग वाणी का सार है।

इस अनादि मूल मत्र के प्रथम पद को लेकर विद्वजन विभिन्न धारणाए रखते है, कोई 'णमो अरहताण' को प्राचीन मानता है, तो कोई 'णमो अरिहताण' को। कोई प्रथम पाठ को जैन सस्कृति के अनुरूप समझता है, तो कोई दूसरे पाठ को जैन सस्कृति के प्रतिकूल। कोई प्रथम पाठ को व्याकरण शुद्ध मानता है, तो दूसरे पाठ को व्याकरण से अशुद्ध कहता है। कोई प्रथम पाठ को मत्राराधन के योग्य कहता है, तो कोई दूसरे पाठ को उसके अयोग्य बतलाता है। इस प्रकार विद्वज्जनो की अनेक विप्रतिपत्तियाँ सामने आयी हैं। यद्यपि षट्खण्डागम के प्रथम भाग के मूलपाठ, उसके अनुवाद और

पादटिप्पणी मे इस प्रथम पद विषयक सभी कुछ खुलासा किया गया है, पर ३२ वर्ष पूर्व प्रकाशित उक्त ग्रन्थ के स्वाध्याय न करने से, अथवा वह समाधान हृदय को अरुचिकर प्रतीत होने से इधर कुछ समय से दि० श्वे० समाज के अनेक विद्वानो ने दोनों पाठों के पक्ष-प्रतिपक्ष मे समाचार-पत्रो द्वारा अपने-अपने अभिमत व्यक्त किये हैं। अत उन सबका समाधान करने के लिए यह उपक्रम किया जाता है।

उपर्युक्त दोनो पाठो की प्राचीनता सिद्ध करने के लिए दो आधार दिये जाते है—'अरहंत' पाठ के लिए खारवेल का शिलालेख और 'अरिहंत' पाठ के लिए षट्खण्डागम का मगलाचरण। इन दोनो पदो मे अधिक प्राचीन पद का निर्णय करने के पूर्व उसके अर्थ का विचार कर लेना आवश्यक है। पहले 'अरिहंत' पद के अर्थ का विचार किया जाता है—

(१) दि० सम्प्रदाय के मूलाचार मे, जो कि वस्तुतः कुन्दकुन्दाचार्य-रचित है षडावश्यकाधिकार की गाथा इस प्रकार है—

रागद्दोस कसाए य इदियाणि पच य।
परीसहे उवसग्गे णासयतो णमो रिहा ॥

इस गाथा मे स्पष्ट रूप से राग, द्वेष, कषाय, इन्द्रिय विषय, परीसह और उपसर्गों के नाशक अरिहंत को 'अरिहा' कहकर नमस्कार किया है। *अरिहा का ही बहुवचन अरिहंत है।*

(२) श्वे० सम्प्रदाय मे आवश्यक सूत्र अति प्राचीन एव मान्य ग्रन्थ है, उसे आधार बनाकर रचे गये विशेषावश्यक भाष्य मे मूलाचार की गाथा से मिलती हुई उक्त अर्थ की पोषक दो गाथाए इस प्रकार पाई जाती है—

इदिय विषय कसाए परीसहे वेयणा उवस्सग्गे।
एए अरिणो हता अरिहंता तेण वुच्चति ॥३५८२॥
अट्ठुविहं पिय कम्म अरिभूय होइ सव्वजीवाण।
त कम्ममरि हता अरिहंता तेण वुच्चति ॥३५८३॥

इन दोनो ही गाथाओ मे स्पष्ट रूप से कर्मरूप अरि के हन्ता या विनाश करने वाले को 'अरिहंत' कहा गया है।

(३) षट्खण्डागम सूत्र के मगल पद 'अरिहंत' का अर्थ करते हुए धवला टीकाकार वीरसेनाचार्य लिखते है—

'णमो अरिहताण' अरिहननादरिहन्ता। नरक तिर्यक्कुमानुष्यप्रेतावासगताशेषदु खप्राप्तिनिमित्तत्वा-दरिर्मोह ।...... तस्यारेर्हननादरिहन्ता। रजोहन-नाद्वा अरिहन्ता। ज्ञानदृगावरणानि रजासीव बहि-रङ्गान्तरङ्गाशेषत्रिकालगोचरार्थव्यञ्जनपरिणामा-त्मकवस्तुविषय बोधानुभवप्रतिबन्धकत्वाद्रजासि। मोहोऽपि रज ..। तेषा हननादरिहन्ता। रहस्या-भावाद्वा अरिहन्ता। रहस्यमन्तराय। .... तस्य हननादरिहन्ता।

अर्थात्—नरकतिर्यचादि दुर्गतियो के दु खो के देने से मोहकर्म शत्रु है, तथा ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म रज के समान बाह्य और अन्तरग समस्त त्रिकालविषयक अनन्त अर्थपर्याय और व्यजनपर्याय रूप वस्तुओ को विषय करने वाले बोध और अनुभव के प्रतिबन्धक होने से रज कह-लाते है। मोहकर्म भी रज है। ऐसे रज रूप कर्मो के हनन करने से वे जिनेन्द्र अरिहंत कहलाते है। रहस्य नाम अन्तराय कर्म का है, उक्त तीनो घाति-कर्मों के साथ अन्तराय कर्म का भी जो विघात करते है, वे अरिहन्त कहे जाते है।

'अरिहन्त' पद की उक्त व्याख्या के पश्चात् आ० वीरसेन ने अपने अर्थ की पोषक तीन प्राचीन गाथाओ को दिया है। वे इस प्रकार है—

णिहदमोहतरुणो वित्थिण्णाणसायरुत्तिण्णा।
णिहयणियविग्घवग्गा बहुबाहविणिग्गया अयला ॥१॥
दलियमयणप्पयावा तिकालविसएहि तीहि णयणेहिं।
दिट्ठसयलट्ठसारा सुदद्धतिउरा मुणिव्वइणो ॥२॥
तिरयणतिसूलधारिय मोहधासुर कबधविदहरा।
सिद्धसयलप्परूवा अरिहता दुण्णयकयंता ॥३॥

इन तीनो ही गाथाम्रो के काले टाइप के छपे पदो पर दृष्टि डालने से पाठक सहज ही जान सकते हैं कि गाथाकार मोहरूप वृक्ष के जलाने वाले, विघ्न समूह के विनाशक, मदन के दलक, त्रिपुरासुर (जन्म जरा मरण रूप) के विध्वसक, दुर्नयो के कृतान्त (यमराज) और रत्नत्रय रूप त्रिशूल से मोहरूप अन्धकासुर के शिरच्छेदक व्यक्ति को ही 'अरिहन्त' कह रहे है। साराश यह है कि जो घातिया चारो कर्मो का नाश करते हैं, वे ही अरिहन्त कहलाते है।

यह तो हुआ 'अरिहत' पद का अर्थ। अब 'अरहत' पद का अर्थ किया जाता है। मूलाचार के षडावश्यकाधिकार मे कहा है–

अरहति णमोक्कार अरिहा पूजा सुरुत्तमा लोए।
रजहता अरिहतिय अरहता तेण उच्चदे ।।

इसी गाथाका पल्लवित रूप श्वे० विशेषावश्यक मे इस प्रकार दिया है–

अरिहति वदणणमसणाइ अरिहति पूयसक्कार।
सिद्धिगमण च अरिहा अरहता तेण वुच्चति
।।३५८४।।

देवासुरमणुएसु अरिहा पूजा सुरुत्तमा जह्मा।
अरिणो हता रय हता अरिहता तेण वुच्चति
।।३५८५।।

अर्थात्–जो वन्दना, नमस्कार और पूजा-सत्कार के योग्य है, देवो के द्वारा जिन्होने उत्तम पूजा को प्राप्त किया है, वे अरहत कहलाते है। तथा कर्म रज या अरि को हनन करने मे अरिहत कहलाते है।

(२) कुन्दकुन्दाचार्य भी अरिहत और अरहत दोनो का स्वरूप अपने बोधपाहुड मे इस प्रकार कहते है–

जरवाहि जम्ममरण चउगइगमण च पुण्णपाव च।
हतूण दोसकम्मे हुअ णाणमय च अरिहतो ।।३०।।
तेरहये गुणठाणे सजोइकेवलिय होइ अरहतो।
चउतीस अइसयसहिया होति तस्सट्ठ पडिहारा
।।३२।।

अर्थात्–जरा, व्याधि, जन्म-मरण, चतुर्गति-गमन पुण्य और पाप-रूप दोष कर्मों को हनन करके वे ज्ञानमयी अरिहंत बनते हैं। इस प्रकार प्रथम गाथा के द्वारा वे पहले उनका अरिहतपना प्रकट करते है। तत्पश्चात् दूसरी गाथा के द्वारा उन्ही के अरहतपना प्रकट करते हुए कहते है कि तेरहवें गुणस्थान मे सयोगिकेवली जिन अरहत है, जिनके कि चौतीस अतिशय और आठ प्रातिहार्य होते हैं।

(३) कुन्दकुन्दाचार्य के समान ही वीरसेनाचार्य पहले 'अरिहत' की व्याख्या करके पुनः 'अरहत' की व्याख्या करते हुए कहते हैं–

अतिशयपूजार्हत्वाद्वाऽर्हन्त। स्वर्गावतरण जन्माभिषेक-परिनिष्क्रमण- केवलज्ञानोत्पत्ति- परिनिर्वाणेषु देवकृताना पूजाना देवासुर-मानवप्राप्त पूजाभ्योऽभ्यधिकत्वादतिशयानामर्हत्वाद्योग्यत्वादर्हन्त.'।

(षट्ख पु. १ पृ० ४४)

अर्थात्–जो स्वर्गावतरण, जन्माभिषेक, परिनिष्क्रम, केवलज्ञान और निर्वाण कल्याणको के समय देवकृत पूजा को प्राप्त करते हैं और देव, असुर और मनुष्यो के द्वारा प्राप्त पूजातिशयो के योग्य है, वे 'अरहत' या अर्हन्त कहलाते है।

श्वे. आगम नन्दी सूत्र मे अरहत की व्याख्या इस प्रकार दी है—

सनरामरसुरस्स ण सव्वस्सेव जगस्स अट्ठमहापाडिहाराए पूयाए समोवलक्खिय अणण्ण सरिसमचितमाहप्प केवलाहिट्ठिय पवरुत्तमत्त ············ इत्यादि। (देखो अभिधान राजेन्द्र, अरहत शब्द)

अर्थात् जो देव, मनुष्य और असुर सहित सर्व ही जगत् के द्वारा आठ महाप्रातिहार्य रूप पूजा से सयुक्त हैं और अनन्य सदृश अचिन्त्य माहात्म्य को प्राप्त हैं, केवल ज्ञान से अधिष्ठित हैं, प्रवर उत्तमता को प्राप्त हैं, वे अरहत कहे जाते है।

उपर्युक्त दोनो ही सम्प्रदायो के प्राचीन प्रमाणों से यही सिद्ध होता है कि आत्म-साधक व्यक्ति पहले

घाति कर्मों का नाश कर अरिहंत बनते है । पुन वे ही घाति कर्मों के क्षय से अनन्तचतुष्टयरूप लक्ष्मी की प्राप्ति से एव त्रिलोकीजनो के द्वारा पूजातिशयको पाने से अर्हन्त या अरहत कहे जाते है ।

दि श्वे. सम्प्रदायो के परवर्ती सभी आचार्यों ने अपने ग्रन्थो के मगलाचरणो मे, अथवा ग्रन्थो के भीतर यथासंभव यथास्थान दोनो ही पदों का प्रयोग कर उनको मान्यता प्रदान की है ।

उपरिउल्लिखित बोधपाहुड की गाथा ३२ मे तो चौतीस अतिशय और आठ प्रातिहार्य वाले तेरहवे गुणस्थानवर्ती सयोगिजिन को ही 'अरहत' कहा है, सो आचार्य का यह कथन तीर्थकर केवली की अपेक्षा जानना चाहिए । धवलाकार ने तो गर्भादि पचकल्याणको मे देवेन्द्रादि के द्वारा पूजातिशय को प्राप्त करने वालो को 'अर्हन्त' कहा है । इन प्रमाणो के आधार पर तो 'अर्हन्त' या 'अरहन्त' शब्द सामान्य केवलियो के लिए प्रयुक्त नही होना चाहिए, क्योकि सामान्य केवलियो के न पच कल्याण होते हैं और न चौतीस अतिशय और आठ महाप्रातिहार्य ही । ऐसी दशा मे 'अरहत' पद अव्यापक सिद्ध होता है और अरिहत पद व्यापक, क्योकि वह सामान्य केवली और तीर्थकर केवली दोनो मे समान रूप से रहता है । इस प्रकार यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रत्येक साधक पहले 'अरिहन्त' बनता है। पीछे केवलज्ञान को पाने से जगत्पूज्य होता है तब 'अरहत' होता है ।

इस उपर्युक्त कथन का सबसे बडा प्रमाण कर्म सिद्धान्त है । जिन्होने उसका अध्ययन किया है, वे जानते हैं कि क्षपक श्रेणी पर आरोहण करने को उद्यत व्यक्ति सर्वप्रथम दर्शन मोह की तीन प्रकृति और चारित्र मोह की अनन्तानुबन्धी चार कषाय इन सात का क्षय करके क्षायिक सम्यक्त्वी बनता है । पश्चात् आठ मध्यम कषायो का नवे गुणस्थान मे पहले क्षय करता है । तदन्तर नव नो कषाय और सज्वलन क्रोध मान और माया कषाय और बादर लोभ का क्षय कर दशवे गुणस्थान मे पहुचता है और वहा पर सूक्ष्म लोभ का क्षय कर बारहवे क्षीण मोह गुणस्थान मे पहुचता है, जिसका सीधा सादा अर्थ है कि पहले क्षपक मोह कर्म को क्षय करके वीतराग सज्ञा पाता है । पुन बारहवें गुणस्थान के द्विचरम समय मे दर्शनावरण कर्म की निद्रा और प्रचला प्रकृति का क्षय करता है और अन्तिम समय मे ज्ञानावरण की पाच, दर्शनावरण की चार और अन्तराय की पाच इन चौदह प्रकृतियो का एक साथ क्षय करके सयोगी जिन होता है, अर्थात् तेरहवे गुणस्थान को प्राप्त होता है ।*

घाति कर्मों के क्षय होने के उक्त क्रम के अनुसार जीव पहले अरिहत बनता है, पीछे अरहत । अर्थात् अनन्त चष्टय लक्ष्मी की प्राप्ति होने पर वह जगत्पूज्य बन जाता है । यही कर्मक्षय का सनातन अनादि निधन मार्ग है, इसमे कुछ भी आगे पीछे होने का कोई प्रश्न ही नही उठता कि यत खारवेल का शिलालेख पुराना है, अत 'अरहत' पद प्राचीन है और षट्खण्डागम पीछे रचा गया है, अत उसके मगलाचरण मे दिया 'अरिहत' नाम अर्वाचीन है ।

अरिहत और अरहत के अतिरिक्त अरुहन्त यह एक तीसरा पाठ भी मिलता है । प्राकृत की सभी भक्तियाँ कुन्दकुन्दाचार्य-रचित मानी जाती है । उन्होने जहा बोधपाहुड एव अन्य ग्रन्थो मे अरिहत और अरहत नाम का उल्लेख किया है, वैसे ही पच परमेष्ठि भक्ति के अन्त मे 'अरुहा' पद का भी प्रयोग किया है । यथा—

अरुहा सिद्धाइरिया उवज्झाया साहु पच परमेट्ठी ।
एयाण-णमोक्कारो भवे भवे मम सुह दिन्तु ।।

इसके सस्कृत टीकाकार आ. प्रभाचन्द्र ने भी टीका मे 'अरुहा' पाठ को स्वीकार किया है । (देखो

क्रियाकलाप पृ०२६६-२६७) 'अरुहा' का अर्थ होता है नही आने वाले। अर्थात् जिनका कर्म बीज अत्यन्त जल जाने के कारण अब आगे भव-रूप अकुर नही उगेगा। जैसा कि अकलंकदेव ने राजवार्तिक के अन्त मे उक्त च कह कर यह श्लोक उद्धृत किया है —

दग्धे बीजे यथाऽत्यन्त प्रादुर्भवति नाङ्कुर ।
कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवाङ्कुर.।।

उपरि उल्लिखित तीनो पदो की सिद्धि का विधान प्राकृत व्याकरणो मे भी मिलता है। यथा—

(१) **उच्चार्हतः** अर्हत्-शब्दे सयुक्तस्यान्त्य-व्यञ्जानात्पूर्व उत् आदितौ च भवत । यथा-अरुहो अरहो अरिहो, अरुहतो अरहतो अरिहंतो (हेम प्रा व्या ८।२।१११)

(२) **अर्हत्युच्चः** अर्हच्छब्देऽन्त्यहल प्रागुत्व-मदितौ च भवन्ति-अरुहो अरहो अरिहो, अरुहतो अरहतो अरिहतो (त्रिवि. प्रा. व्या. १।४।१०५)

प्राकृत व्याकरण के अनुसार तीनो ही रूप शुद्ध एव प्रामाणिक हैं। यदि प्राचीनकाल से ये तीनो रूप प्रचलित न होते, तो तीनो ही पदो के एक वचन और बहुवचन के रूप दोनो व्याकरणकार नही देते। पर दिये हैं इसलिए उनकी प्राचीनता, प्रामाणिकता और शुद्धता स्वयसिद्ध है।

घातिया कर्मों के क्षय के पश्चात् अघातिया कर्मों का क्षय भी सुनिश्चित है, अत अरहन्त फिर आगे जन्म ग्रहण नही करते हैं और इसी कारण वे अरुहन्त पद के द्वारा कहे जाने के सर्वथा योग्य है। इस प्रकार सयोगीजिन पहले अरिहत होते है, पुन. अरहन्त और अन्त मे अरुहन्त बनकर सिद्ध पद को पाकर सदा के लिए अजर, अमर और अपुनर्भवी हो जाते हैं।

जो लोग 'अरिहत' पद अरि के हनन अर्थ को जैन सस्कृति के प्रतिकूल कहकर उसकी अनुपादेयता प्रकट करते हैं, उन्हें ज्ञात होना चाहिए कि जगत् एवं जनता की विकृति के मिटाने या दूर करने पर ही तो सस्कृति प्रकट होती है। आत्मा की जो अनादिकालीन विकृति उसके साथ सलग्न थी, उस राग-द्वेषमूलक कर्मविकृति के दूर करने पर ही तो उसकी वास्तविक सस्कृति प्रकट होती है। फिर कर्म कोई ऐसे चेतन पदार्थ नही हैं कि उनके हनन से उन्हे कोई कष्ट होता हो। अपने ही विकारी भावो को एव उनके निमित्त से सचित कर्म पुद्गलो को दूर करने का नाम क्षय या विनाश है, क्योकि सत् वस्तु का आत्यन्तिक क्षय हो ही नही सकता। 'कर्म भूभृता भेत्तार' का अर्थ करते हुए विद्यानन्दि-स्वामी कहते हैं—

तत्स्कन्धराशय' प्रोक्ता भूभृतोऽत्र समाधितः।
जीवाद्विश्लेषणं भेदः सतो नात्यन्त संक्षय' ।।११५
(आप्त परीक्षा)

अपनी इसी कारिका की व्याख्या मे वे स्वय ही लिखते हैं —

'तत एव कर्मभूभृता भेत्ता भगवान प्रोक्तो न पुनर्विनाशयिता इति निरवद्यमिद विशेषणम् ।'

अर्थात् समाधि के बल से कर्म स्कन्धों के जीव से विश्लेषण या पृथक्करण का नाम ही भेदन है, क्योकि सद् वस्तु का अत्यन्त सक्षय नही होता और इसी अपेक्षा से भगवान कर्म भूभृतो के भेत्ता कहे जाते हैं, न कि विनाशयिता। यही भाव अरिहनन करने वाले 'अरिहत' पद मे निहित समझना चाहिए।

इस प्रकार जो जैनों की अहिंसा सस्कृति के प्रतिकूल 'अरिहन्त' पद को या उसके अर्थ को समझते हैं, वह ठीक नही है।

कुछ लोग 'अरिहन्त' पद को मन्त्राराधन के अयोग्य कहते हैं और बतलाते है कि सिद्ध चक्र पाठ आदि मे 'अर्हन्' पद को ही बीजाक्षर रूप मंत्र पद माना है, अरिहन्त' नाम को नहीं। सो यह भी उनका

कथन ठीक नही, क्योंकि सिद्धचक्रादि के पाठ मे जो 'अर्हं' बीजाक्षर पद है, वह 'अरहंत' का वाचक नही है, किन्तु आद्योपान्त समस्त वर्णमाला का बोधक या सूचक है। यथा

अकारादि-हकारान्त रेफमध्य सबिन्दुकम् ।
तदेव परम तत्त्व यो जानाति स तत्वविद् ।।
(ज्ञानार्णव, ३८, २२)

वर्णमाला को सिद्धमातृका पद कहते हैं, क्योकि इसके प्रताप से सम्यग्ज्ञान ही सरस्वती सिद्ध होती है और मुक्ति प्राप्त होती है। जैसा कि कहा है—

'सिद्धमातृकया सिद्धामथ लेभे सरस्वतीम् ।
(क्षत्रचूडामणि अ० २)

द्वादशाङ्ग वाणी के मूल आधार एव उसके अर्थ के प्रतिपादक ये अकारादि वर्ण ही हैं और मत्र शास्त्र मे एक एक वर्ण की आराधना का माहात्म्य बतलाया गया है। यतः अर्हं' बीज पद अकार से लेकर हकार पर्यन्त समस्त वर्णो का सूचक या सग्राहक है, अत उसे मत्राधीश और मत्र-राज जैसे नामो से पुकारा जाता है।

श्वे० आ० हेमचन्द्र ने भी अपने योगशास्त्र मे 'अर्हं' मत्र का उल्लेख आठवें प्रकाश के आठवे श्लोक मे किया है। अत 'अर्हं' को केवल 'अर्हंत्' का वाचक मानकर अन्य अरिहन्त आदि को अध्यात्म-साधना या मत्राराधना मे अनुपयोगी बतलाना उचित नही है। इस प्रकार 'अर्हं' पद को केवल 'अरहत' का वाचक मानना भूल से भरा ही है।

उपसंहार

उपर्युक्त विवेचन के प्रकाश मे, तथा कर्म-सिद्धान्तानुसार कर्म-क्षय के क्रम को देखते हुए सभी आत्म साधक पहले 'अरिहत' बनते है, पुन कैवल्य प्राप्ति पर वे ही 'अरहत' कहलाते है और भविष्य मे जन्म नही धारण करने के कारण वे ही 'अरुहत' कहे जाते है। वस्तु स्थिति के इस प्रकाश मे किसी नाम को प्राचीन मानना और किसी को अर्वाचीन या भूल से भरा मानना उचित नही है। प्राकृत व्याकरणो मे एक साथ ही जैसे तीनो रूप मिलते है, उसी प्रकार हमे भी प्रति दिन इन तीनो की इस प्रकार से आराधना या जाप करना चाहिए—

'णमो अरिहताण, णमो अरहताण, णमो अरुहताण'

यत ये तीनो ही पद विशिष्ट अर्थ के बोधक है, अत तीनो ही प्रतिदिन आराधनीय है।

आशा है, पाठकगण, एव विद्वज्जन अपना पूर्वाग्रह छोड कर एव यथार्थ वस्तुस्थिति समझ कर तीनो पदो को समान भाव से स्वीकार करेगे।

---

* विशेष के लिए देखिये षट्खण्डागम पु० १ पृ० २१५ से २२३। कसायपाहुडसुत्त क्षपणाधिकार, एव लब्धिसार क्षपणासार, गो० कर्मकाण्ड आदि।

श्रमण-संस्कृति की वैदिक संस्कृति को देन

—डॉ० दरबारीलाल कोठिया
एम. ए. पी-एच. डी., न्यायाचार्य, शास्त्राचार्य
रीडर, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

दिन और रात की तरह अच्छाई और बुराई का, पुण्य और पाप का, विचार विभिन्नता का साथ सदा से ही रहा है। इतिहास के पन्नों से जहां यह स्पष्ट होता है कि श्रमणसंस्कृति का अस्तित्व भारत में प्राचीनतम काल से है वहां यह भी स्पष्ट होता है कि उसका विरोध भी बहुत पुराना है। पुराणों के अनुसार भगवान् ऋषभदेव के समय से ही उनके विरोधी भी उत्पन्न हो गये थे। इतने दीर्घकाल से साथ साथ रहने के कारण दोनों ने ही एक दूसरे से बहुत कुछ लिया दिया है। श्रमण संस्कृति ने श्रमणेतर-संस्कृति को जो कुछ दिया उसमें प्रमुख हैं अहिंसा, मूर्तिपूजा, अध्यात्म आदि।

—सम्पादक

जिस वर्ग, समाज या राष्ट्र की कला, साहित्य, रीति रिवाज, रहन-सहन, खान-पान, पहनाव-ओढ़ाव, धर्म-नीति, व्रत-पर्व आदि प्रवृत्तिया जिस विचार और आचार से अनुप्राणित होती हैं या की जाती हैं वे उस वर्ग समाज या राष्ट्र के उस विचार और आचार मूलक मानी जाती है। ऐसी प्रवृत्तियां ही सस्कृति कही जाती हैं।

भारत एक विशाल देश है। इसके भिन्न-भिन्न भागो मे सदा से ही भिन्न-भिन्न विचार और आचार रहे हैं तथा आज भी ऐसा ही है। इसलिए यहां कभी एक, व्यापक और सर्वग्राह्य सस्कृति रही हो यह सभव नहीं और न ज्ञात ही है। हां, इतना अवश्य जान पड़ता है कि दूर अतीत मे दो संस्कृतियों का प्राधान्य अवश्य रहा है। ये दो सस्कृतियां हैं -१ वैदिक और -२ अवैदिक। वैदिक संस्कृति का आधार वेदानुसारी आचार-विचार है और अवैदिक संस्कृति का मूल अवेदानुसारी अर्थात् पुरुष विशेष का अनुभवाश्रित आचार-विचार है।

ये दोनों संस्कृतियां जहा परस्पर में सघर्षशील रही है वहां वे परस्पर प्रभावित भी होती रही है।

वैदिक-संस्कृतिः

१. वैदिक सस्कृति मे वेद को ही सर्वोपरि मानकर वेदानुयायियो की सारी प्रवृत्तिया तदनुसारी रही हैं। इस सस्कृति मे वेदप्रतिपादित यज्ञो का प्राधान्य रहा है और उनमे अनेक प्रकार की हिंसा को विधेय स्वीकार किया गया है। '**याज्ञिकी हिंसा हिंसा न भवति**' कहकर उस हिंसा का विधान करके उसे खुल्लम-खुल्ला छूट दे दी गयी है। उसका परिणाम यह हुआ कि उत्तर काल मे मास-भक्षण, मद्यपान और मैथुन-सेवन जैसी निन्द्य प्रवृत्तिया भी आ घुसी और उनमे दोषाभाव का प्रतिपादन किया गया—

'न मांस-भक्षणे दोषो,
न मद्ये न च मैथुने।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां,
निवृत्तिस्तु महाफला॥'

इतना ही नही, उन्हे जीवो की प्रवृत्ति (स्वभाव) बतलाकर स्वच्छन्द छोड दिया गया है—उन पर कोई नियन्त्रण नही रखा। फलतः उनसे निवृत्ति होना दुस्साध्य है। सोमयज्ञ मे एक वर्ष की लाल गाय के हवन का विधान, अन्य यज्ञो मे श्वेत बकरे की बलि का निर्देश जैसे सैकडो हिंसा प्रतिपादक अनुष्ठानादेश वेदविहित है—'**एक हायन्या अरुणया गवा सोम क्रीणाति,**' '**श्वेतमजमालभेत**' आदि।

२. वैदिक सस्कृति मीमासक विचार और अनुष्ठान प्रधान है। अतएव आरम्भ मे इसमे ईश्वर का कोई स्थान न था। क्रिया ही अनुष्ठेय एव उपास्य थी। किसी पुरुष विशेष को उपास्य या ईश्वर मानना इस सस्कृति के लिए इष्ट नही है, क्योकि उसे मानने पर वेद की अपौरुषेयता पर आच आती और खतरे में पड़ती है। इसलिए वैदिक मन्त्रो मे केवल इन्द्र, वरुण जैसे देवताओ का ही आह्वान है। राम, कृष्ण, शिव, विष्णु जैसे पुरुषावतारी ईश्वर की उपासना इस सस्कृति मे आरम्भ मे नही रही। वह तो उत्तर काल मे आयी और उनके लिए मन्दिर बने तथा तीर्थों का स्थापन हुआ।

जहा तक ऐतिहासिको और समीक्षको का विचार है यह सस्कृति क्रिया प्रधान है, अध्यात्म प्रधान नही। वेदो मे आत्मा का विवेचन अनुपलब्ध है। वह उपनिषदो के माध्यम से इस सस्कृति मे पीछे आया है। माण्डूक्य उपनिषद् मे कहा है कि विद्या दो प्रकार की है-१ परा और -२ अपरा। परा विद्या आत्म विद्या है और अपरा विद्या कर्म-काण्ड है। छान्दोग्योपनिषद् मे आत्म-विद्या की प्राप्ति क्षत्रियो से और क्रियाकाण्ड का ज्ञान ब्राह्मणो मे बतलाया गया है। इससे प्रतीत होता है कि उस सुदूर काल मे आत्म-विद्या इस सस्कृति मे नही थी।

४. वेदो मे यज्ञ करने से स्वर्ग प्राप्ति का निर्देश है, मोक्ष या निःश्रेयस की कोई चर्चा नही है। उसका प्रतिपादन इस सस्कृति मे पीछे समाविष्ट हुआ है।

५. वेदो मे तप, त्याग, ध्यान, सयम और शम जैसे आध्यात्मिक साधनो को कोई स्थान प्राप्त नही है। तत्वज्ञान का भी प्रतिपादन नही है। उनमे केवल '**यजेत् स्वर्गकाम**' जैसे निर्देशो द्वारा स्वर्गकामो के लिए यज्ञ का ही विधान है।

अवैदिक सस्कृतिः

इसके विपरीत अवैदिक सस्कृति मे, जो पुरुष विशेष के अनुभव पर आधृत है और जो श्रमण सस्कृति या तीर्थंकर सस्कृति के नाम से जानी-पहचानी जाती है, वे सभी बाते पायी जाती है जो वैदिक सस्कृति मे आरम्भ मे नही थी। यद्यपि

जैन और बौद्ध दोनो की संस्कृति को अवैदिक अर्थात् श्रमण संस्कृति कहा जाता है। पर यथार्थ मे आर्हत संस्कृति ही अवैदिक (श्रमण) संस्कृति है, क्योकि उसे समण—सम+उपदेशक अर्हत् के अनुभव-केवलज्ञानमूलक माना गया है। दूसरे, महात्मा बुद्ध आरम्भ मे भगवान पार्श्वनाथ की परम्परा मे हुए निग्रन्थ मुनि पिहितास्रव से दीक्षित हुए थे और वर्षों तक तदनुसार दया, समाधि, केशलुंचन, अनशनादि तप आदि प्रवृत्तियो का आचरण करते रहे थे। बाद को निर्ग्रन्थ-तप की कठोरता को सहन न कर सकने के कारण उन्होने निर्ग्रन्थ मार्ग को छोड दिया और मध्यम मार्ग अपना लिया। फिर भी दया, समाधि आदि कुशल कर्मों को नही त्यागा और बोधि प्राप्त हो जाने के बाद उन्होने भी निर्ग्रन्थ संस्कृति के दया, समाधि आदि का उपदेश दिया तथा वैदिक क्रियाकाण्ड को बिना आत्मज्ञान (तत्त्व ज्ञान) के थोथा बतलाया। इसलिए उनकी विचारधारा और आचरण वैदिक संस्कृति के अनुकूल न होने और केवल ज्ञानमूलक श्रमण-संस्कृति के कुछ अनुकूल होने से उसे श्रमण संस्कृति मे समाहित कर लिया गया है।

१. विदित है कि श्रमणसंस्कृति मे हिंसा को कही स्थान नहीं है। अहिंसा की ही सर्वत्र प्रतिष्ठा है। न केवल क्रिया मे, अपितु वाणी और मानस मे भी अहिंसा की अनिवार्यता प्रतिपादित है। आचार्य समन्तभद्र ने इसीसे अहिंसा को जगत्-विदित '**परम ब्रह्म**' निरूपित किया है— '**अहिंसा भूताना जगति विदितं ब्रह्म परमम्,**' इस अहिंसा का सर्वप्रथम विचार और आचार युग के आदि मे भ० ऋषभदेव के द्वारा प्रकट हुआ। वही अहिंसा का विचार और आचार परम्परया मध्यवर्ती तीर्थंकरो द्वारा भ० नेमिनाथ को प्राप्त हुआ। उनसे भ० पार्श्वनाथ को और भ० पार्श्वनाथ से तीर्थंकर महावीर को मिला। इसी से उनके शासन को स्वामी समन्तभद्र ने दया, समाधि, दम, त्याग से ओतप्रोत बतलाया है— '**दया-दम-त्याग-समाधि निष्ठं।**' इससे यह सहज मे समझा जा सकता है कि भारतीय संस्कृति को अहिंसा की उपलब्धि श्रमण-संस्कृति की देन है, वैदिक संस्कृति की नही। युगादि से लेकर अहिंसा का आमूलचूल आचार-विचार उसी का है।

२. श्रमणसंस्कृति की दूसरी देन यह है कि उसने वेद के स्थान मे पुरुष विशेष का प्रामाण्य स्थापित किया और उसके अनुभव पर बल दिया। उसने बतलाया कि पुरुष विशेष अकलक अर्थात् ईश्वर हो सकता है—'**दोषावरणयोर्हानिर्निश्शेषा-स्त्यतिशायनात्। क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः॥**' अतएव इस संस्कृति मे पुरुष विशेष का महत्व बढाया गया और उन पुरुष विशेषो-तीर्थंकरो की पूजा-उपासना प्रचलित हुई तथा उनकी उपासनार्थ उपासना मन्दिरो एव तीर्थों का निर्माण हुआ। इसका इतना प्रभाव पडा कि अपौरुषेय वेद के अनुयायियो ने भी राम, कृष्ण, शिव, विष्णु जैसे पुरुषावतारी ईश्वर की कल्पना की और उनकी उपासना के लिए सुन्दर मन्दिरो का निर्माण हुआ तथा तीर्थ भी माने।

३. निःसन्देह वैदिक संस्कृति जहा क्रिया प्रधान है, तत्त्वज्ञान उसके लिए गौण है वहा श्रमण-संस्कृति तत्त्वज्ञान प्रधान है और क्रिया उसके लिए गौण है। यह भी प्रकट है कि यह संस्कृति क्षत्रियो की संस्कृति है, जो उनकी आत्मविद्या से निसृत हुई। सभी तीर्थंकर क्षत्रिय थे। अतः वैदिक संस्कृति मे जो आत्मविद्या का विचार उपनिषदो के माध्यम से आया और जिसने वेदान्त (वेदो के अन्त) का प्रचार किया वह निश्चय ही श्रमण (तीर्थंकर) संस्कृति का स्पष्ट प्रभाव है। और इसलिए भारतीय संस्कृति को आत्मविद्या की देन भी श्रमण संस्कृति की विशिष्ट एवं अनुपम देन है।

४. वेदो मे स्वर्ग से उत्तम अन्य स्थान नही है। अत. वैदिक संस्कृति में यज्ञादि करने वाले को स्वर्ग

प्राप्ति का निर्देश है । इसके विपरीत श्रमण संस्कृति में स्वर्ग को सुख का सर्वोच्च और शाश्वत स्थान मानकर मोक्ष को माना गया है। स्वर्ग एक प्रकार का ससार ही है, जहा से मनुष्य को वापिस आना पडता है । परन्तु मोक्ष शाश्वत और स्वाभाविक सुख का स्थान है । उसे प्राप्त कर लने पर मनुष्य परमात्मा हो जाता है और वहा से उसे लौटकर आना नही पडता । इस प्रकार मोक्ष या नि.श्रेयस की मान्यता श्रमण सस्कृति की है, जिसे उत्तरकाल में वैदिक सस्कृति मे भी अपना लिया गया है ।

५. श्रमणसस्कृति मे आत्मा को उपादेय और शरीर, इन्द्रिय तथा भोगो को हेय बतलाया गया है। ससार-बन्धन से मुक्ति पाने के लिए दया (अहिसा), दम (इन्द्रिय-निग्रह), त्याग (अपरिग्रह) और समाधि (ध्यान, योग) का निरूपण इस सस्कृति मे किया गया है । ये सब आत्म गुण ही है । प्रमाण और नय से तत्त्व (आत्मा) का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने का प्रतिपादन भी इसी सस्कृति मे है— **'दया-दम-त्याग-समाधिनिष्ठं नय-प्रमाणप्रकृताञ्जसार्थम् ।'** इससे प्रकट है कि अहिसा, इन्द्रियनिग्रह, अपरिग्रह, समाधि और तत्त्वज्ञान, जो वैदिक सस्कृति मे आरम्भ मे नही थे और न वेदो मे प्रतिपादित है, बाद मे वे उसमे समाहित हुए है, श्रमणसस्कृति की भारतीय सस्कृति को असाधारण देन है ।

यदि दोनो सस्कृतियो के मूल का अन्वेषण किया जाये तो ऐसे तथ्य उपलब्ध होगे जो यह सिद्ध करने मे सक्षम होगे कि **क्या किसकी** देन है ।

महावीर वाणी

जो मनुष्य स्वय प्राणियो की हिसा करता है, दूसरों से हिसा करवाता है और हिसा करने वालों का अनुमोदन करता है । वह ससार मे अपने लिए बैर को ही बढ़ाता है ।

—श्री सीवनकर

हमारा स्वर्णिम अतीत

—श्री प्रताप चन्द्र जैन
मन्त्री, जैन शिक्षा सगठन
आगरा

इतिहास और पुराणों के पृष्ठ इस प्रकार के सैकडों उदाहरणों से भरे पडे है जिनमे प्रकट होता है कि देश का पराभव तब ही हुआ जबकि यहां विभीषण जयचन्द एव मीरजाफर जैसे लोग उत्पन्न हुए और यहां के निवासी आपस में ही लडने लगे। किसी देश के उत्थान के लिये आवश्यक शर्त है पारस्परिक एकता और सहयोग भावना की। जाति की उन्नति के लिये भी इनका होना अत्यन्त आवश्यक है। जैन समाज की जो आज स्थिति है उसका भी एकमात्र कारण यह ही है कि उसमें ऐक्य और पारस्परिक सहयोग का नितान्त अभाव है। यदि हम देश के स्वर्णिम अतीत से प्रेरणा ले और समाज के विभिन्न सम्प्रदायों में ऐक्य और सहयोग के वातावरण का निर्माण करें और अपना चरित्र अनुकरणीय बनावें तो संदेह की गुंजाइश नहीं कि जैनधर्म अपने खोये स्थान को पुन: प्राप्त कर ले।

—सम्पादक

भगवान महावीर के काल तक बल्कि उसके कुछ समय बाद तक भी ज्ञान का आदान-प्रदान मौखिक ही होता रहा था। जब मानव की स्मरण शक्ति क्षीण होने लगी और उसका मस्तिष्क मौखिक ज्ञान को अपने पटल पर यथावत धारण किये रहने मे अशक्त होने लगा तो लेखन पाठन का प्रादुर्भाव हुआ। यही कारण है कि ढाई हजार वर्ष पूर्व का लिखा लेख हमे नहीं मिलता। पुराण उसके बाद की ही कृतियां हैं जो तत्कालीन स्मृतियो एव प्रचलित गाथाओ के आधार पर लिखे गये।

उन दिनो धार्मिक मान्यताओ को ही महत्व दिया जाता रहा क्योकि हमारे आचार्यों का समूचा ध्येय आध्यात्मिक विकास और मानव के आत्म-कल्याण की ओर ही रहा आया। उन्होने राजनीति और सामाजिक तथा ऐतिहासिक घटनाओ को महत्व नहीं दिया जो कि इतिहास के आधार होते हैं। पुराण भी जो लिखे गये उनके कथानको मे भी जीव की मुक्ति का मार्ग ही विशेष रूप से प्रशस्त

किया गया है। उनसे कतिपय महापुरुषों के जीवन का ज्ञान हमे अवश्य मिल जाता है परन्तु वे क्रमिक नही। वे ऐतिहासिक दृष्टि से नही लिखे गये अतः हम उन्हे इतिहास नही कह सकते।

यही कारण है कि भारत के अतीत का इतिहास हमे नही मिलता और यही कारण है कि इतिहास लेखक भी एक लम्बे काल तक जैन धर्म का उद्गम भगवान महावीर से ही मानते रहे। लेखन पाठन के प्रचलन के बाद से ही ताम्र पत्रो एव शिलालेखो आदि की परिपाटी चली और तभी से हमे ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध होने लगी है। हरप्पा और मोहेञ्जोदारो के अवशेषों तथा वहा से प्राप्त सामग्री से प्राचीन सिन्धु सभ्यता का कुछ महत्वपूर्ण पता अवश्य लगा है। यह भी पता लगा है कि सम्राट् चन्द्रगुप्त और अशोक का साम्राज्य वर्तमान ईरान की सरहद तक फैला था और अफगानिस्तान उसका एक प्रान्त था।

इतिहास तो चुप है ही। पुराण भी नही कहते कि भरत चक्रवर्ती के नाम से जुडे हुए इस देश पर कभी किसी विदेशी ने हमला करने की हिम्मत की हो। इस देश के महारथियो की दिग्विजय की गाथाए उनमे अवश्य है। इसी देश के महारथियो की आपसी भिडन्तो का उल्लेख भी मिलता है।

इतिहासकारो के अनुसार पहला हमला जो इस देश पर हुआ वह था ईसा से ३२६ वर्ष पूर्व यूनान के महान् सम्राट् सिकन्दर था। जो सिकन्दर पश्चिमी योरप से लेकर अफगानिस्तान और बलो-चिस्तान को रोदता चला आया था वह भी व्यास नदी को पार नही कर पाया। झेलम पार करके पजाब के राजा पौरव को उसने अवश्य जीत लिया था। वह भी तब जबकि तक्षशिला का राजा, देश के प्रति गद्दारी करके उससे जा मिला था। वहा से आगे बढ़कर उसने मगध पर चढ़ाई करने का इरादा किया परन्तु उसकी सेना ने जो पौरव के साथ सग्राम मे भारतीय शौर्य और रण कौशल का लोहा मान चुकी थी व्यास नदी को पार करने से साफ इकार कर दिया। यूनानी इतिहासकार लिखते है कि उस अलौकिक जगत विजता को वही से लौट जाना पडा।

सिकन्दर के लौट जाने पर यूनानी सेनापतियो सल्यूकस और अन्ति ओकस ने हमले किए लेकिन सम्राट् चन्द्रगुप्त ने न केवल सिकन्दर द्वारा जीते गये भारत के पजाब और बिलोचिस्तान प्रदेशो हो को वापिस ले लिया बल्कि उनको युद्ध मे हराकर काबुल और कन्धार तक का क्षेत्र भी अपने राज्य मे मिला लिया।

इससे पूर्व ईसा से ढाई हजार वर्ष पहले इस देश मे आर्यो ने अवश्य प्रवेश किया पर उसे हम इस देश पर हमला नही कहेगे क्योकि वे यही के बनकर रह गये और यहा की मिट्टी मे पूरी तरह घुल-मिल गये। हा, उनके आने के बाद और सिकन्दर के हमले से पहले सिन्धु नदी के इस ओर तक दो हमलो का थोडा बहुत विश्वस्त विवरण अवश्य मिलता है। इनमे पहला हमला था असीरिया की विश्व विख्यात सम्राज्ञी सोमिरामिस का। उसने ईसा से लगभग आठ सौ वर्ष पूर्व बिलोचिस्तान को पार कर भारत विजय का स्वप्न देखा था। यूनानी इतिहास लेखक नियारकस का लिखना है कि इस सम्राज्ञी को अपनी सेना के केवल बीस बचे हुए आदमियो के साथ सिन्धु नदी से जान बचाकर भागना पडा था। दूसरा हमला था फारस के मश-हूर और पराक्रमी राजा कुरु का। कुरु दारा का पितामह और विशाल ईरानी साम्राज्य का सस्थापक था जो काबुल से यूनान, तुर्की और मिश्र तक फैला हुवा था। उसे भी केवल सात बचे सैनिको के साथ

सिन्धु नदी से लौटना पड़ा था। यूनानी इतिहास लेखक मेगेस्थनीज ने साफ लिखा है कि सिकन्दर के आक्रमण से पहले तक भारतवासियों पर कभी कोई हमला करने वाला विजय प्राप्त नही कर पाया था। स्वय दारा के शिलालेख भी इसके प्रमाण हैं।

सिकन्दर के लौट जाने के बाद बहुत से यूनानी यहा की सस्कृति और यहा के दर्शन से प्रभावित होकर यहीं बस गये और घुल मिल गये। यूनान मे उनका कोई सम्बन्ध नही रह गया। शियालकोट (शाकल) के राजा मिलिन्द ने आचार्य अग्रसेन से बौद्धधर्म की दीक्षा ले ली थी। यूनानी राजदूत होलियोरस ने विदिशा जाकर वैष्णव धर्म स्वीकार कर लिया था।

अब सहज ही यह प्रश्न उठता है कि भारत में तब ऐसी कौन सी विशेषता थी कि वह अजेय रहा। यहा हम सन् ६३६ की एक घटना का उल्लेख करेंगे। उस साल आजकल के बम्बई के पास ताना नामक स्थान पर मुसलमानो की कुछ जल सेना देखी गई। वह सेना बहरायन (ईरान) के गवर्नर की आज्ञा से भेजी गई थी। लिखा है कि जब खलीफा उमर को इस बात का पता लगा तो वह बहरायन के गवर्नर पर नाराज हुआ। उसने हुकुम दिया कि सेना फौरन वापिस बुलाई जाय और आयन्दा हिन्दोस्तान पर चढाई की गई तो चढाई करने वालो को सख्त सजा दी जायगी।

यह घटना उस समय के भारत का एक सुनहरा चित्र हमारे सामने प्रस्तुत करती है और यह उस जमाने की बात है जबकि स्पेन से लेकर चीन की सरहद तक का क्षेत्र और उत्तरी अफ्रीका अरबो की हुकूमत मे आ चुके थे। इससे ज्ञात होता है कि उस जमाने मे विदेशो मे भारत का कैसा सम्मान था और कैसी थी इसकी ख्याति। उन दिनो यहां चन्द्रगुप्त, अशोक और खारवेल जैसे शौर्य और सत्य के धनी सम्राट् हुए थे, और नन्दि, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्द्धन और भद्रबाहु जैसे श्रुतकेवलज्ञानी मुनि। भारतीय शौर्य, दर्शन, ज्ञान और चारित्र का डका चारो दिशाओ मे बज रहा था। नालन्दा शिक्षा का विश्व विख्यात केन्द्र था। जहा सुदूर देशो के अनेक स्नातक ज्ञानार्जन के लिए आते थे। यहां से भी साधु सन्त विदेशो मे जाकर भारतीय दर्शन का प्रकाश फैलाते थे। इस महान् कार्य के लिए यहा से लौटते समय स्वयं सिकन्दर अपने साथ कल्याण मुनि को ले गया था। इतिहास के प्रकाण्ड विद्वान पडित सुन्दरलाल जी ने एक बार अपने व्याख्यान मे बताया था कि छठी शताब्दि पूर्व मिश्र की नील नदी के किनारे दिग. जैन मुनि विहार करते देखे गये थे।

जो भी विदेशो से यहा आया उसे हमने अपना दर्शन और ज्ञान दिया तथा उसे अपना बना लिया। हमने किसी के साथ घृणा नही की। सातवी सदी मे जो अरब सौदागर यहा आये उनमे अनेको पीर, फकीर और महात्मा भी थे। उन पर यहा के दर्शन का गहरा प्रभाव पडा और वे यही बस गये। शिया मुसलमानो के गुलात सम्प्रदाय के आचार्यों ने अवतारवाद और आवागमन के सिद्धान्त को स्वीकार किया और माना कि मनुष्य की आत्मा बढते-बढते खुदा बन जाती है। एक सम्प्रदाय ने एक से अधिक स्त्री के साथ विवाह और तलाक को नाजायज माना। ग्यारहवी सदी मे भी अलगिजाजी ने तप, योग और ध्यान का अभ्यास किया। अब्दुलाला, जिनकी दरगाह आगरे मे है, निरामिषभोजी थे। वे दूध, शहद और चमड़े के उपयोग को पाप मानते थे। उन्होने प्राणी मात्र के साथ दया का उपदेश दिया था। वे अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य को आत्मोन्नति के लिए आवश्यक मानने लगे और कहते थे कि अपनी आत्मा के सिवाय दूसरा रसूल कोई नही। विश्व विख्यात महात्मा मसूर ने भी भारत की यात्रा की थी। उन्होने 'अनल हक' का सिद्धान्त माना जिसका बिल्कुल वही अर्थ है जो "अह ब्रह्म" का

का है। इसके लिए उसे सूली तक पर चढना पडा। इससे पूर्व शान्ति की खोज मे महात्मा ईसा ने भी भारत की यात्रा की थी। उनके टैन कमाण्डमेण्ट्स बहुत कुछ भारतीय दर्शन से मिलते जुलते हैं। उल्लेखनीय है कि जैनागम में भी अहिंसा, सत्य, शौच आदि दश धर्मों का ही प्रतिपादन है। हम देखते हैं कि श्रमण सस्कृति की गहरी छाप पडी थी इन सब पर।

कोई भी दर्शन और ज्ञान तभी प्रभावकारी होता है जबकि उसके मानने वाले आचरण भी उसके अनुकूल करते है। यह बात तब यहा मुख्य रूप से थी। ज्ञान केवल पोथियो मे बद नही था। जीवन के हर क्षेत्र मे उस पर आचरण होता था। धर्माचरण पर केवल साधुओं, विद्वानो या उच्च वर्ण वालों का ही अधिकार नही था। प्रत्येक प्राणी का उस पर अधिकार था किसी भी जाति या वर्ण का वह क्यो न हो। वेश्या तक भी जो पतिता कही जाती है इसका अपवाद नही होती थी। यमपाल चाडाल और काग का माम त्यागने वाले भील की कथाएं सुविख्यात है। सत्याचरण की ऐसी ही एक कथा सम्राट् अशोक के शासन काल की है।

सम्राट् अशोक अपनी राजधानी पाटलिपुत्र मे गगा तट पर मत्रियो और प्रजाजनो के साथ, खड़े है। गगा प्रलय वेग से बढ़ रही है। लगता था कि पाटलिपुत्र को निगलने ही वाली है। सभी इस सम्भावित विनाश लीला से भयभीत और चिन्तित हैं। सम्राट् महामत्री से पूछते है, "क्या इस भीषण बाढ़ को रोक सकने वाला कोई नही है हमारे राज्य मे ?" महामत्री सिर झुका देते है और दबी आवाज मे कह देते है, "यह कार्य बडा दुष्कर है महाराज।"

तभी भीड मे से वेश्या विदुमती हाथ जोड कर बोल पड़ती है, "मैं गगा की इस बाढ को रोक सकती हूँ। केवल आज्ञा की देर है महाराज।" इतना कह कर अपने सत कर्म को दाव पर लगाकर मन वचन काय से एक हो वेश्या बिंदुमती प्रार्थना करती है, "यदि मै जीवन में सदा सत्य निष्ठा रही हूँ तो हे मा गगा। शान्त हो जाय।" उसके मुख से सत्य निष्ठा की सौगन्ध निकलते ही भयानक गर्जन के साथ गगा उतरने लगती है और भयभीत जन समुदाय के देखते देखते प्रलयकारी बाढ विलीन हो जाती है। सम्राट्, महामत्री और उपस्थित जन समुदाय के आश्चर्य का ठिकाना नही था।

मगध सम्राट भाव विभोर होकर बिन्दुमती के पास जाते है और पूछते है, "रूप बेचकर आजीवन घृणित काम करने वाली मे ऐसी शक्ति कहा से आई ? तू तो एक धूर्त अधम वेश्या है, वासना लोलुप और मूर्खों का धन हरण कर अपना पेट भरने वाली एक घिनौती औरत।"

"मैं वेश्या अवश्य हूँ, महाराज।" बिन्दुमती ने शान्त भाव से उत्तर दिया। "परन्तु अधम स्त्री होते हुए भी मैंने धर्म का पालन सदा पूरी सत्य निष्ठा के साथ किया है। मुझे पैसा देने वाला मेरे रूप का ग्राहक ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य या शूद्र कोई भी हो, वह अमीर हो चाहे गरीब, शिक्षित हो, अथवा अशिक्षित यह रूप सभी को आदरपूर्वक स्वीकारता रहा है। मैं किसी के प्रति पक्षपात या अवज्ञा का भाव नहीं बरतती। इस रूप को मैंने अपना कभी नही समझा। यही मेरी धर्म एव सत्य निष्ठा है, महाराज। जिसके बल पर मा गगा को मेरी बात माननी पडी है।" सम्राट् गद्गद् हो गये।

सिकन्दर का मगध विजय का स्वप्न तो पूरा नही हो पाया परन्तु देश के उत्तर पश्चिमी सरहदी भाग की एकता मे उस समय दरार जरूर पड़ चुकी थी। यही वह भाग था जो अब तक अभेद्य

रहा। ईसा की जन्म शती मे शक जाति ने धावा बोल दिया। वे विन्ध्या के आगे नही बढ़ पाये। लेकिन यहा कुशान साम्राज्य कायम हो गया जिसका सम्राट् था सुप्रसिद्ध कनिष्क। पेशावर (पुरुषपुर) उसकी राजधानी थी। उसी की यादगार मे शाका सवत् का प्रारम्भ हुआ उन्हे भी यहा की सम्यता ने घुलामिला लिया। सम्राट् ने बुद्ध धर्म अगीकार कर लिया। इसके बाद पाचवी शताब्दि में यहा हूण आये। इनका शासन मालवा तक फैल गया। यही वह जाति थी जिसके क्रूर कृत्यो से भयभीत होकर अपनी रक्षार्थ चीनियो ने सुप्रसिद्ध 'बडी दीवार' का निर्माण किया था। परन्तु उज्जयनी के यशस्वी राजा यशोवर्द्धन ने परास्त कर उनकी हुकूमत को भी मिटा दिया।

हम देखते है कि जब से देश का नैतिक ह्रास होने लगा, यहा की राष्ट्रीय भावना क्षीण होने लगी और देश गिरने लगा। राजनैतिक क्षेत्र के साथ-साथ धार्मिक क्षेत्र मे भी अवनति आने लगी। धार्मिक द्वेष फैल जाने से आपसी सघर्ष होने लगे। एक धर्म के अनुयाई दूसरे धर्म के अनुयाइयो को सताने और मौत के घाट उतारने लगे। बौद्ध धर्म को खदेड कर बाहर ही कर दिया। जैन धर्म जैसे तैसे बचा रहा। ज्ञान मार्ग का स्थान अन्ध विश्वास ने ले लिया। जो भारतीय दर्शन अतीत में देश को बल प्रदान करता था और विदेशो को प्रभावित करता रहता था वह पाश्चात्य धारा का शिकार होने लगा।

सातवी शताब्दि के उत्तरार्द्ध में सम्राट् हर्ष-वर्द्धन की सत्ता का अन्त होने पर देश की एकता छिन्न-भिन्न हो गई। वह टुकड़े-टुकड़े होकर अनेक छोटी-छोटी रियासतों मे बट गया जो आपस मे ही लड़ लडकर कमजोर होने लगीं। कोई ऐसी केन्द्रीय और प्रधान शक्ति नहीं रह गई थी जो उन्हें काबू मे रख कर पतन से बचाती। पराक्रम और साधना के धनी विषय वासनाओ मे भी लिप्त होने लगे। फलतः जिस देश पर आक्रमण तो क्या कोई उसकी ओर आंख उठा कर भी देखने तक की हिम्मत नही कर सकता था, उस पर बारहवी शताब्दि से तो लगातार विदेशी हमले होने लगे और वह पराधीनता की बेडियो से बधता चला गया।

महावीर वाणी

जो परोक्ष में किसी की निन्दा नही करता, प्रत्यक्ष मे में भी कलह वर्द्धक बातें नही बकता, पीड़ा पहुँचाने वाली एवं भयकारी भाषा भी नहीं बोलता, वही पूज्य है।

—श्री सीवनकर

ज्ञान-रवि फिर से उगाओ

(रचयिता—श्री नेमीचन्द जी जैन गोंदवाले, शिवपुरी)

अज्ञान तम निस्सीम बढता जा रहा है, इसलिये—
हे वीर ! तुम वह ज्ञान-रवि फिर से उगाओ।

आज मुझको तो चतुर्दिशि मे दिखाई दे रहा भीषण अधेरा,
और दानवता बिछाकर जाल अपना डालती चहुं ओर घेरा,
रात बढती जा रही कालो अमा-सी हो गया क्या ?
अब नही होता दिखाई दे रहा मुझको सबेरा,
प्रात बनकर सुप्त-जग को वीर तुम फिर से जगाओ !

अज्ञान-तम निस्सीम बढता जा रहा है, इसलिये—
हे वीर ! तुम वह ज्ञान-रवि फिर से उगाओ।

आज हिंसा के भयानक अस्त्र भी निर्माण प्रतिदिन हो रहे है
और यह भयभीत-मानव भी स्व जीवन बोझवत् ही ढो रहे है
आज दानवता विजेता-सी दिखाई दे रही है मनुजता पर,
और हिंसक वृत्तियो से पतित मानव आत्मबल निज खो रहे है
वह अहिंसक-ज्योति-ध्वज हे वीर तुम फिर से उडाओ।

अज्ञान-तम निस्सीम बढता जा रहा है, इसलिये
हे वीर ! तुम वह ज्ञान-रवि फिर से उगाओ।

आज सत्यम् शब्द भी सपूर्ण मिथ्या मे बदलता जा रहा है
अब न कोई भी किसी की बात का विश्वास मन पर ला रहा है
आज क्षण २ मे वचन को भग करते भी नही होती झिझक कुछ
कर रहे गभीर निर्णय नित नये परिणाम उनका
शून्य होता जा रहा है
वीर ! तुम सद्बुद्धि दो और सत्य का दीपक जलाओ।

अज्ञान-तम निस्सीम बढता जा रहा है, इसलिये—
हे वीर ! तुम वह ज्ञान-रवि फिर से उगाओ।

कविवर पार्श्वदास की दशधा-भक्ति

—डॉ० गंगाराम गर्ग
एम. ए. पी. एच. डी.
प्रवक्ता, राजकीय महाविद्यालय,
टोंक

भक्ति की महत्ता का वर्णन करते हुए स्वयं भगवान् कृष्ण ने गीता में कहा है-मैं बैकुण्ठ में नहीं रहता, योगियों के हृदय में भी नहीं रहता, मेरे भक्त जहां मेरा यशोगान करते हैं वहां ही मैं रहता हूं। भगवान् को भक्त के वश में बताया गया है। जैन भी इस क्षेत्र में पीछे नहीं रहे। सैंकड़ों जैन कवियों ने अपने उपास्य की भक्ति में तन्मय होकर विभिन्न राग-रागनियों में पद रचना कर हिन्दी की श्रीवृद्धि में योग दिया है। जयपुर के पार्श्वदास भी ऐसे ही एक कवि हैं जिन्होंने अपने उपास्य की भक्ति में ४०० के करीब सरस पदों की रचना की। हिन्दी के भक्ति साहित्य को जैनों का क्या योगदान रहा है इस दृष्टि से अभी बहुत कुछ गवेषण होना शेष है।

—सम्पादक

हिन्दी भक्ति साहित्य की श्रीवृद्धि मे बनारसीदास, द्यानतराय, जगतराय, जगजीवन, माणिकचन्द, जयचद, पार्श्वदास आदि अनेक जैन कवियो का बडा योगदान है। इन्होने विभिन्न राग-रागिनियो मे विपुल साहित्य का निर्माण किया है। श्री पार्श्वदास इनमे सर्वाधिक यशस्वी भक्त कवि थे। उन्होंने भगवान् पार्श्वनाथ की एकनिष्ठता स्वीकारते हुए उनकी भक्ति मे ३० राग-रागनियो मे ४०० से अधिक पदो की रचना की है। महाकवि पार्श्वदास का जन्म जयपुर मे तथा समाधिमरण सवत् १९३६ मे सेठ मूलचन्द सोनी की नशिया, अजमेर मे हुआ।

पार्श्वदास की रचनाओ का सग्रह 'पारस विलास' सम्पूर्ण स्थिति मे मुझे केवल अमीर गज मन्दिर, टोंक में उपलब्ध हुआ है।[1] पार्श्वदास के पदो के अतिरिक्त अन्य ३६ रचनाओ में भी उनकी छन्द-बहुज्ञता, संगीत-ज्ञान तथा अपूर्व काव्य-क्षमता का परिचय मिलता है।[2] हिन्दी भक्ति काव्य का

अध्ययन रागानुगा भक्ति, वैधी-भक्ति, नवधा भक्ति, प्रपत्ति आदि विविध दृष्टियो से किया गया है। जैन पद साहित्य मे उक्त भक्ति रूपो के अतिरिक्त दशधा भक्ति के भी दर्शन होते है :—

दशधा भक्ति :

जैनाचार्यों ने भक्ति के बारह भेद माने है:- सिद्ध भक्ति, श्रुतभक्ति, चारित्र भक्ति, योग भक्ति, आचार्य भक्ति, पचगुरु भक्ति, तीर्थंकर भक्ति, शान्ति भक्ति, समाधि भक्ति, निर्वाण भक्ति, नन्दीश्वर भक्ति और चैत्य भक्ति। उक्त भक्तियो मे से तीर्थंकर भक्ति और समाधि भक्ति को अन्य भक्तियो मे अन्तर्भूत मान लेने के कारण भक्ति के दस ही भेदो की व्यापक मान्यता है। डा. प्रेमसागर जैन ने जैन भक्ति काव्य की पृष्ठभूमि मे आचार्य कुन्दकुन्द, आचार्य पूज्यपाद, आचार्य समन्तभद्र, श्री योगीन्दु, आचार्य सोमदेव आदि जैनाचार्यों के काव्य मे उपलब्ध दशधा भक्ति का उल्लेख किया है। सिद्ध भक्ति और नदीश्वर भक्ति के अतिरिक्त दशधा भक्ति के अन्य सभी भेद जैन पद साहित्य मे विद्यमान है। पार्श्वदास की पदावली मे दशधा भक्ति के कुछ पद द्रष्टव्य है —

श्रुत भक्ति :

जैन पद साहित्य मे श्रुतभक्ति श्रुतदेवी अथवा श्रुतधरो की वदना की अपेक्षा जैन शास्त्रो के प्रति पूज्य भाव के रूप मे ही दृष्टिगोचर होती है। प्राचीनकाल से ही जैनो मे भगवान् जिनेन्द्र की मूर्ति के समान शास्त्रो की भी प्रतिष्ठा होने लग गई थी। मध्यकाल मे प्रादुर्भूत तारण पथ नामक आम्नाय ने तो अर्हन्त की मूर्ति को न पूज कर शास्त्रो की पूजा मे ही विश्वास किया। तेरहपथ आम्नाय मे अर्हन्त और शास्त्रो की भक्ति समानान्तर होकर चली। द्यानतराय, जयचन्द आदि कवियो की तरह महाकवि पार्श्वदास ने अपने कई पदो मे मिथ्यात्व का निवारण और मोक्ष मार्ग का प्रदर्शन करने वाली जिनवाणी की वन्दना की है—

> वदू जिनवाणी परमानद निधानी।
> अरथ समग्र धारि जिन मुख ते
> गणधर गूथि बखानी।
> स्यादवाद निरवाधित पर ते,
> नय परमाण जुतानी।
> स्यो मारग की राह बतावे,
> सप्त तत्त्व दरसानी।

चारित्र भक्ति :

चारित्र की महिमा का वर्णन करना, चारित्र भक्ति है। महाकवि पार्श्वदास ने 'चारित्र जयमाल' शीर्षक से लिखे अपने २६ पदो मे चारित्र के विभिन्न अगो सम्यक् दर्शन, शील, ज्ञान, सवेग, तप आदि की महत्ता प्रतिपादित करते हुए उनके आचरण को मुक्तिदाता कहा है—

> सम्यक दर्शन शुद्धता शिव की दातार।
> याही ते पावै सही, निज ब्रह्म विचार।
> या विन पर परणति भई, भरमे ससार।
> कारी नागिन समान हे, सब विषय विकार।
> ताय बुझावण मेघ है, आताप निवार।

योगी-भक्ति :

आत्मस्वरूप मे अवस्थित होना योग है। डा प्रेमसागर जैन ने 'जैन भक्ति काव्य की पृष्ठभूमि' मे 'समाधि' और 'ध्यान' तथा 'योगी' और 'ध्यानी' की एकता प्रतिपादित करते हुए 'धनञ्जय नाममाला' के आधार पर ऋषि, मुनि, यति, भिक्षु, तापस, सशिल, व्रती, तपस्वी, सयमी, वर्णी और साधु को योगी के ही पर्यायवाची शब्द होने का उल्लेख किया है। इनके प्रति किया गया भक्ति निवेदन अथवा महिमा-गान योगी भक्ति है। आचार्य कुन्दकुन्द और आचार्य पूज्यपाद ने प्राकृत और सस्कृत भाषा मे लिखी गई अपनी 'योगी-भक्ति'

मे क्रमशः योगियो की महिमा और उनके द्वारा किए गए विविध तपो का वर्णन किया है। जैन पद साहित्य में मुनियो की महिमा और कष्टकारी तप दोनो का ही वर्णन मिलता है। महाकवि पार्श्वदास मुनि-चरणो के वन्दन मे बडा आत्म सुख अनुभव करते है—

मुनिवर वदन जावू, जावू रैं तिहूँ वेला।
मुनिवर वंदत सब दु.ख भजत,
आत्मीक सुख पावू।
अनादिकाल ते कवु न लख्यो कोवू,
सो सुखमय दरसावू।
'पारस' अभुवन वदत मुनि पद,
पाय न जग भरमावू।

आचार्य भक्ति :

आचार्य कुन्दकुन्द ने ज्ञानी, सयमी, सुवीतरागी तथा साधारण मुनियो के शिक्षक आचार्यो को जिनेन्द्र देव के सदृश माना है। इन आचार्यों मे शुद्ध भाव से अनुराग रखना आचार्य-भक्ति कही गई है। आचार्य कुन्दकुन्द, आचार्य पूज्यपाद और श्री यति वृषभ ने आचार्यों के विशद गुणो का वर्णन करते हुए उनके प्रति श्रद्धा प्रकट की है। पार्श्वदास ने आचार्य की महिमा गाते हुए उनके दर्शन, गुण-गान और उपदेश श्रवण मे अपनी अभिलाषा प्रकट की है—

श्री आचार्य भक्ति मे भाव कबू नहि कीनो,
अब करि भायी।
एक बार मन बच तन कीया,
फिर न भ्रमें निठ मिल्यौ दाव।
श्री आचार्य प्रत्यक्ष न दीसै,
तौ धरि उनके बचन मे चाव।
आचारिज गुण कौ न कहि सकै,
वेग हि करै मुक्ति को राव।
'पारस' जग मे आचारिज वच,
को करतो कुगति बचाव।

पंच-परमेष्ठी-भक्ति :

अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और लोक के सर्व-साधु पचपरमेष्ठी कहलाते हैं। जैनो के प्रसिद्ध 'णमोकार मत्र' मे पचपरमेष्ठी को ही नमस्कार किया गया है। जैन पद साहित्य मे णमोकार मन्त्र द्वारा तारे गए प्राणियो की चर्चा करते हुए उसकी महत्ता प्रतिपादित की गई है। इस 'णमोकार मन्त्र' के अनवरत स्मरण मे ही पचपरमेष्ठी की भक्ति समाहित है। पार्श्वदास कहते है—

सुमरि सुमरि मन श्री नौकार।
जिन सुमरे तिन ही सुख ही पायो
उतरे भवदधि पार।
अ जन अ जन सुमरत भयो तिरज,
स्वान, सिंघ मजार।
और सुनै आगमैं बहु जिय
सुमरण ही अधार।
बिन सुमरणे भरमण ही करिहै,
रुलि है भवदधिलार।
'पारस' सुमरण सार एक है
या ससार मझार।

तीर्थंकर भक्ति :

डॉ. प्रेमसागर जैन ने धनञ्जय, आचार्य श्रुत-सागर, योगीन्दु आदि कई जैनाचार्यों की तीर्थंकर सम्बन्धी परिभाषाओ पर विचार करते हुए ससार के आवागमन से मुक्त कराने वाले निमित्त के विधाता को तीर्थंकर कहा है। [3] जैन परम्परा के अनुसार भूत, भविष्य और वर्त्तमान तीन कालो मे से प्रत्येक मे २४ तीर्थंकर होते है। भारत की वर्तमान काल की चौबीसी मे से अपेक्षाकृत भगवान् आदिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर के चरणो मे जैन भक्तो की अधिक श्रद्धा रही है। जैन पद रचयिताओं में महाकवि पार्श्वदास ही किसी एक

तीर्थंकर के एक निष्ठ भक्त रहे है। उनका सर्वाधिक पद साहित्य भगवान पार्श्वनाथ के महिमा गान तथा उनके प्रति भक्ति निवेदन मे समर्पित हुआ है।

जिनदजी विरद सुन्यो थाको बाको
उपकार करो क्यू ना म्हाको। टेक ॥
अजन से तुम अधम उधारे,
कीनो सब अध साको।
चाडाल दह माय पर्या को,
अतिसय प्रगट्यो वाको।
रघुपति रानी परी अग्नि विच,
नाम लेय इक थाको।
अग्निकु ड सब जलि डार्यो,
जस प्रगटायो ताको।
त्यारे बहुत सुनी आगम में,
कहता अन्त न जाको।
'पारसदास' कहाय कोण पै,
जाय कहावू काको।

शान्ति भक्ति

शान्ति भक्ति, शान्ति प्राप्त करने के लिए की गई भक्ति है। २४ तीर्थंकरो मे से सोलहवे तीर्थंकर भगवान् शान्तिनाथ विशिष्ट रूप से शान्ति प्रदायक माने गए है। अत. शान्ति भक्ति परक पद भगवान् शान्तिनाथ की स्तुति मे ही अधिक कहे गए है। पार्श्वदास भगवान् शान्तिनाथ की महिमा का गान करते हुए कहते है—

श्री सातिनाथ महाराज के पद पूजो रे भाई।
सातिनाथ को नाम लेत अघ
सात होत जगमाही।

समाधि-भक्ति :

समाधिपूर्वक प्राणो का विसर्जन करना अर्थात् समाधि मरण की याचना करना समाधि-भक्ति कहलाती है। आचार्य कुन्दकुन्द, आचार्य पूज्यपाद, शिवार्यकोटि ने अपनी रचनाओ मे विशुद्ध समाधि-मरण चाहा है। जैन पद साहित्य में समाधि-भक्ति सम्बन्धी सर्वाधिक पद पार्श्वदास पदावली मे ही है। महाकवि पार्श्वदास ने अपनी इच्छानुसार अजमेर निवासी सेठ मूलचन्द सोनी के यहा समाधि-मरण लिया था। उनकी दृष्टि मे समाधि अशुभ का विनाश कर जन्म-मरण से छुटकारा दिलाने का महत्वपूर्ण साधन है। अतः वह समाधि-मरण के लिए कृत सकल्प है:—

अन्त समय निज पद मय ह्वं
सब तजि मरना अति भारी है।
मरे अनतवार गाफिल ह्वं,
या तो भूलि हमारी है।
मरना है अवश्य न रहैगे,
गाफिल रहना रव्वारी है।
'पारस' प्रभु सेवा फल जो कछु,
धरी धरोहर म्हारी है।
अन्त समम पडित मृति चाहू,
अब कै मदत तुमारी है।

निर्वाण भक्ति :

तीर्थंकरो तथा उत्तम कोटि के वीतरागियो का निधन 'निर्वाण' कहलाता है। जैन शास्त्रो मे 'निर्वाण' मोक्ष 'शिवत्व' पर्यायवाची शब्द ही है। मोक्ष-प्राप्त वीतरागियो एव उनके मोक्ष-स्थलो की स्तुति करना अथवा मोक्ष-प्राप्ति की इच्छा करना निर्वाण-भक्ति है। जैन पद साहित्य मे मोक्ष-स्थलो अथवा तीर्थों की अधिक चर्चा नही हुई किन्तु मोक्ष के प्रति जिनेद्र भगवान् के समान ही श्रद्धा अभि-व्यक्ति की गई है। महाकवि पार्श्वदास शिव-मार्ग को पाने के लिए बड़े अधीर हैं:—

ऊजरो पथ है शिव गोरी को,
जिन गोरी को।
पांच पाप का त्याग जास में,
सग्रह समता गोरी को।

समिति गुप्त सू प्रीति बढावै ।
तज्यो असजम थोरी को ।
दुल्लभ मिल्यो तजू नहि 'पारस'
ज्यो चिन्तामणि जोहरी को ।

चैत्य भक्ति :

डा. प्रेमसागर जैन के अनुसार चैत्य वृक्ष, चैत्य सदन, प्रतिमा, बिम्ब और मंदिरो की पूजा-अर्चा चैत्य भक्ति कहलाती है।[४] चैत्य भक्ति का प्रारम्भ गौतम गणधर के 'जयति भगवान्' से माना जाता है।[५]

आचार्य कुन्दकुन्द, आचार्य पूज्यपाद, श्री मच्छान्तिसूरि, श्री देवेन्दसूरि आदि सभी जैनाचार्यों ने कृत्रिम और अकृत्रिम चैत्यालयो एव जिन प्रतिमाओ की वदना की है।

जैन पद साहित्य मे चैत्य सदन, प्रतिमा, विम्ब अथवा चैत्य वृक्ष की अपेक्षा मन्दिरो की भक्ति से सम्बन्धित पद ही अधिक है। मध्ययुग मे अध्यात्म शैली के वीतरागी गृहस्थ मन्दिरो मे एकत्र होकर ज्ञान-चर्चा तथा साहित्य रचना किया करते थे, अत. जिन मन्दिर भी उनके लिए आराध्य बन गये। पार्श्वदास को तेरहपथी मन्दिर जयपुर के अतिरिक्त चिमत्कार मदिर सवाईमाधोपुर बडा भाया, अतः उनकी स्तुति मे उन्होने सस्कृत में भी स्तोत्र लिखे। जिन मन्दिरों की महिमा उन्होंने इन शब्दो मे प्रकट की है—

जिन मदिर चलि सुभ उपजावै,
अघ विनसावै ।
छ सूना के पाप मिटावै,
खोटा विकलप टलि जावै ।
आवस्यक षट् कर्म सधै जहा,
बहु श्रुति सग मिलि जावै ।
कलह हास्य कौतक निद्रा सब,
अपू आप ही रुकि जावै ।
'पारस' निज हित सहज बनत जहा,
ज्ञान ध्यान दृग बढि जावै ।

पार्श्वदास की पदावली मे उपलब्ध दशधा भक्ति के उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि पार्श्वदास ने जैनाचार्यों द्वारा प्रतिपादित दशधा भक्ति का पूर्ण निर्वाह किया है। सस्कृत ,प्राकृत और अपभ्रंश की भक्ति परक रचनाओ मे उपलब्ध दशधा भक्ति का स्वरूप लगभग अपने मौलिक स्वरूप मे ही हिदी पद साहित्य मे व्यापक रूप मे उपलब्ध है।

---

१. यदि कोई प्रतिलिपि अन्यत्र उपलब्ध हो, तो विद्वान् महानुभाव मुझे सूचित करने की कृपा करें।
२. विशेष परिचय के लिए द्रष्टव्य है वीर वाणी, द्विदशांक स्मारिका मे प्रकाशित-'पार्श्वदास और उनका काव्य'
३. जैन भक्ति काव्य की पृष्ठभूमि, पृ० १०६
४ जैन भक्ति काव्य की पृष्ठभूमि पृ० १३८
५. जैन भक्ति काव्य की पृष्ठभूमि, पृ० १३८

महावीर संदेश

श्रद्धेय पं० चैनसुखदास जी न्या० ती०

प्राणो में था ओतप्रोत, तमस्तोम का भेदन कर।
तुमने विवेक के नयन खोल, जग को जीवन पथ बतलाया।

कैसे जीना कैसे मरना, कैसे रहना इस दुनिया में।
तूफानो पर शासन करना, कैसे तुमने यह समझाया।

स्वात्मानुभूति के वारिद से, बरसाया ज्ञानामृत अपार ।।
निर्द्वन्द्व किया सब सत्व वर्ग, मानव मानस का हर विकार।

औ जन्म विरोधी जीवो को, एकात्मतत्व का पाठ पढा।
ताप हीन कर वसुधा को, लाया मानव धर्म सार।।

नारी के बन्धन खोल दिये, शूद्रो को सन्मति दे बोले।
तुम भी निवृत्ति पा सकते हो, पर शोधो अपने को पहले।

उन्मुक्त द्वार है उन्नति का, रोके कोई कैसे भाई ?
मेरे जैसे हो तुम सब ही, हे सबने मानवता पाई ।।

सारे धर्मों का जीवन क्या ? है एक अहिंसा परम तत्त्व।
उसका प्रेरक है किन्तु सत्य, जो जीवन निष्ठा का महत्व।

है किन्तु समन्वय मे रहता, है निगमागम का निखिल मर्म।
लडते धर्मों को बतलाया, तुमने सक्षम स्याद्वाद तत्त्व ।।

तुम सबकी भाषा मे बोले, मगलमय, पावन, प्राणदान।
मूको को देकर, अमर हुए, तब तेरी महिमा का वितान।

फैला जग के कण-कण में है, भागे निशिचर माया के तब।
औ' खुला सत्य का रुद्ध द्वार, गाया सबने आनन्द गान।।

प्रियप्राण धर्म को तुमने ही, दी मृत्युञ्जय औषधि महान।
कर निर्विकार उसकी काया, चिर जीवन का दे उसे दान।

पाखण्डो में है धर्म कहा ? वह तो केवल आत्माश्रित है।
यह दिव्य घोष—फैला जग में, तेरा हे वीर दयानिधान।।

अजैन साहित्य में जैन उल्लेख और सांप्रदायिक संकीर्णता से उनका लोप

—सिद्धान्ताचार्य पं० मिलापचंद कटारिया
केकड़ी (अजमेर)

अमरकोष के कर्ता अमरसिंह किस धर्म के मानने वाले थे यह आज भी निश्चय रूप से नहीं कहा जा सकता, यद्यपि ऐतिहासिकों का बहुमत उन्हें बौद्ध मानता है। स्व. रावजी सखाराम दोशी के अनुसार 'यस्य ज्ञान · ' वाले श्लोक से पूर्व दो श्लोक प्राचीन प्रतियों में '१. जिनस्य लोक त्रयवन्दितस्य· २. नम श्री शान्तिनाथाय · ' और थे जिन्हें धार्मिक असहिष्णुता के कारण निकाल दिया गया। इनमें से श्लोक संख्या १ तो गद्य चिन्तामणि का मंगलाचरण है किन्तु २ का श्लोक कहां का है अभी भी शायद अज्ञात ही है। इस ही प्रकार 'सर्वज्ञोवीतरागो ·' वाला श्लोक भी मुद्रित प्रतियों में नहीं है जबकि हस्तलिखित कई प्रतियों में वह मिलता है, कोषकार ने जिनेन्द्र वाची नाम अपने कोष में न दिये हों यह बात मानी नहीं जा सकती। निष्पक्ष ऐतिहासिकों को इस संबंध में और भी अनुसंधान कर सचाई प्रस्तुत करनी चाहिये।

—सम्पादक

अमर कोष

अमरकोष संस्कृत का एक जगद्विख्यात प्राचीन कोश ग्रन्थ है। इसके कर्त्ता अमरसिंह हैं जैसाकि तीनो कांडो के अन्त मे दिये "इत्यमरसिंह कृतौ नामलिंगानुशासने" श्लोक द्वारा प्रकट है। ग्रन्थकार ने ग्रन्थ के आरम्भ मे देवनामो मे प्रथम अपना नाम 'अमर' दिया है। इसी तरह ग्रन्थ के आदि मंगलश्लोक मे भी "अमृताय च" के रूप मे 'अमर' नाम द्योतित किया है।

ग्रन्थ का नाम पूर्वोक्त श्लोकानुसार "नामलिंगानुशासन" है (जिसमे नाम और लिंग दोनो एक साथ बताये गये हैं जो इसकी अन्य कोशो से खास विशेषता है, किन्तु ग्रन्थकार के नाम पर इसका नाम अमरकोष प्रसिद्ध हो गया है और आज यह कोष संस्कृत जगत् मे वास्तव मे ही अमर हो गया है। इसमे ३ काड होने से "त्रिकांड कोश और देवभाषा-संस्कृत मे होने से देव कोश भी इसके नाम हैं। इस पर संस्कृत की निम्नांकित टीकायें हैं:-१. व्याख्या प्रदीप, २. काशिका ३. अमर

कोषोद्‌घाटन ४. कौमुदी ५. पदार्थ कौमुदी ६ शब्दार्थ संदीपिका ७. अमर पजिका ८. अमर दीपिका ९. सुबोधिनी १० व्याख्या सुधा ११. शारदा सुन्दरी १२. विद्वन्मनोहरा १३. अमरविवेक १४ मधु-माधवी १५ पद चन्द्रिका १६. त्रिकांड चिन्ता-मणि १७ त्रिकाड विवेक १८ प्रदीप मजरी १९. पीयूष २०. वैषम्य कौमुदी २१ पद विवृत्ति २२ पदमजरी २३ व्याख्यामृत २४ सन्देह भजिका २५ टीका सर्वस्व २६. अमरकोष टीका (आशाधर कृत) २७ त्रिकाड रहस्य २८. अमर चद्रिका आदि।

इनके अतिरिक्त-कनडी, काश्मीरी, चीनी, फारसी, तिब्बती, तेलगु, मराठी, ब्राह्मी, श्यामी, सिहली, अग्रेजी, हिन्दी, गुजराती, उर्दू, आदि भाषाओ मे भी अमरकोष पर टीकायें बनी हैं। "कवि काव्यकाल कल्पना" नाम के बृहद् ग्रन्थ मे अमरकोष की ६६ टीकाओ का विवरण दिया है।

विविध प्राचीन ग्रन्थो की सस्कृत टीकाओ मे इस कोष के अनेक जगह प्रमाण दिये गये है। इसका पठन पाठन सस्कृत की प्राय: सभी पाठ-शालाओ मे अद्यावधि चला आ रहा है। यह सब इस कोश की महान् लोकप्रियता का द्योतक है। इसी से-कवियो ने ये उद्‌घोष किये है-"अमरोऽय सनातनः"। "अमरकोषो जगत्पिता"।

अमरकोष मे बौद्ध और वैदिक धर्म के अवतारी पुरुषो के नाम है किन्तु जैन तीर्थंकरो के कोई नाम नही है। ग्रन्थकार बहुत उदार रहे है। (उन्होने मगलाचरण मे भी किसी धर्माराध्य का नाम नही दिया है) फिर उन्होने जैन महापुरुषो के नाम नही देकर अपने कोष को अपूर्ण क्यो रखा? यह प्रश्न प्रत्येक निष्पक्ष विचारक और जैन धर्मानुयायी के मस्तिष्क मे सहज उठता है। इसके लिए जब हमने अमरकोष की कुछ सस्कृत टीकाओ को देखा तो मालूम हुआ कि बुद्ध के नामों के आगे जिन देव के भी नाम अवश्य मूल ग्रन्थकार ने दिये है किन्तु वह श्लोक सप्रदायाभिनिवेश के कारण मूल से निकाल दिया गया है और धीरे धीरे उसका लोप कर दिया गया है देखिये—

(१) ओरियटल बुक एजेंसी पूना से सन् १९४१ मे प्रकाशित क्षीरस्वामि कृत (ईस्वी ११वी शती) टीका पृष्ठ ७ प्रथम काड श्लोक १५ की टीका के आगे-

(सर्वज्ञो वीतरागोऽर्हन्, केवली तीर्थ-
कृज्जिनस्त्रिकाल विदाद्या ऊह्या)

(२) निर्णय सागर प्रेस मुम्बई से सन् १९१५ मे प्रकाशित-व्याख्या सुधा पृष्ठ ८

"यद्यपि वेद विरुद्धार्थानुष्ठातृत्वा
ज्जिनशाक्यौ नरकवर्गे वक्तुमुचितौ।

तथापि देवविरोधित्वेन बुद्ध्युपारोहादत्रैवोक्तौ।"

(अर्थ-यद्यपि वेद विरोधी होने से जिनेन्द्र और बुद्ध के नाम नरक वर्ग मे देने चाहिये तो भी यहा इसलिये दिये गये है कि उनका देव विरोधित्व साथ साथ बुद्धि मे आ जाये)

इसी पर टिप्पणी १ लगाकर लिखा है:- क्वचित्पुस्तके इत उत्तरम्- "सर्वज्ञोवीतरागोऽर्हन् केवली तीर्थकृज्जिन। जिन देवता नामानि षट्। इत्यधिकम्॥

(३) आज से ११२ वर्ष पूर्व विक्रम सं १९१६ मे प्रकाशित देवदत्त त्रिपाठी कृत हिन्दी टीका पृ० ३ पर लिखा है - "सर्वज्ञ, वीतराग, अर्हन्, केवली, तीर्थकृत्, जिन. ये ६ नास्तिक के देवताओ के नाम है।" (मूल मे श्लोक नही दिया है, जब हमने पूरे श्लोक के लिये अमरकोष की हस्तलिखित प्रतियो की खोज की तो बघेरा, टौक, निवाई आदि के जैन भडारो की प्रतियो मे वह पूरा श्लोक इस प्रकार उपलब्ध हुआ—

"सर्वज्ञो वीतरागोऽर्हन्केवली तीर्थकृज्जिनः ।
स्याद्वादवादी निर्ह्रीक· निर्ग्रन्थाधिप इत्यपि ॥"

अनेक जैन विद्यालयो के सस्कृत कोर्स (पाठ्य-क्रम) मे अमरकोष नियत है । अधिकारियो का कर्त्तव्य है कि-वे यह श्लोक विद्यार्थियो को अमर कोष मे पढ़ाने का प्रबन्ध करावें जिससे इसका प्रचार हो । साथ ही जैन प्रकाशन सस्थाओ का भी कर्त्तव्य है कि-वे भी अमरकोष में बुद्ध के नामो के आगे यह श्लोक मोटे टाइप मे प्रकाशित कर अमरकोष के विविध सस्करण निकालें जिससे दीर्घकाल से चली आ रही क्षति की कुछ पूर्त्ति हो ।

इसी की .टाइप (नकल) का श्लोक धनजय नाममाला मे इस प्रकार है -

सर्वज्ञो वीतरागोऽर्हन्केवली धर्मचक्रभृत् ॥११६॥

इससे भी अमरकोष मे उक्त श्लोक वर्तमान रहना प्रमाणित होता है ।

जिन देव के नाम वाले श्लोक के सिवा अमरकोष के द्वितीय काड के ब्रह्म वर्ग मे श्लोक ६ के बाद आठ दार्शनिको मे जैनदर्शन के भी दो नाम दिये है देखिये-स्यात्स्याद्वादिक आर्हत· ॥ पूरे आठ दर्शनो के दो-दो नाम इस प्रकार दिये हैः-

मीमासको जैमिनीये, वेदाती ब्रह्मवादिनी ।
वैशेषिके स्यादौलूक्य·, सौगतः शून्यवादिनि ॥१॥
नैयायिकस्त्वक्षपादः स्यात्स्याद्वादिक आर्हतः ।
चार्वाक लौकायतिकौ, सत्कार्ये सांख्य कापिलो ॥२॥

इनमे सभी भारतीय (श्रमण वैदिक) दर्शन आ गये हैं अतः ये श्लोक बहुत महत्वपूर्ण है फिर भी अनेक सस्करणो मे इन्हें क्षेपक रूप मे प्रदर्शित किया है और अनेक मे बिल्कुल निकाल ही दिया है । संभवतः यह सब बौद्ध और जैन इन दो श्रमण-धर्मों से विरोध के कारण किया गया है* अन्यथा ये श्लोक मूल ग्रन्थकार कृत है; क्योकि हेमचन्द्राचार्य ने भी (१२वीं शती में) इसी की स्टाइल पर निम्नांकित श्लोक "अभिधान चिन्तामणि" के मर्त्यकाड ३ में इस प्रकार बनाये हैः-

स्याद्वाद वाद्यार्हत· स्यात् ,
शून्यवादी तु सौगतः ॥५२५॥
नैयायिकस्त्वक्षपादो यौग·
साख्यस्तु कापिलः ।
वैशेषिकः स्यादौलूक्य·,
बार्हस्पत्यस्तु नास्तिकः ॥५२६॥
चार्वाक लौकायतिकश्चैते
षडपि तार्किकाः ।

(इनमे षड् दर्शनो के ही नाम दिये है शेष दो मीमासा और वेदात के नाम देवकाड २ के श्लोक १६४-६५ मे दिये है)

अतः जैन ग्रन्थ-प्रकाशको को चाहिये कि वे इन दो "मीमासको जैमिनीये·····" श्लोको को भी अमरकोष काड २ के ब्रह्मवर्ग मे श्लोक ६ के बाद मोटे टाइप मे प्रकाशित करने का प्रक्रम करें जिससे साप्रदायिको का प्रयत्न विफल हो और ग्रन्थ अक्षुण्ण बनें†

अमरसिंह किस सप्रदाय-विशेष के थे यह उन्होने कहीं नही लिखा है किन्तु अमरकोष के सूक्ष्म अध्ययन और अन्य प्रमाणो से इसका निर्णय किया जा सकता है वही नीचे देखियेः-अमरदीपिका टीका मे अमरकोष के मगलाचरण को बुद्ध वाची बताया है । इसी तरह क्षीर स्वामी (वैदिक) टीका मे भी मगलाचरण को जिन (बुद्ध) वाची ही बताया है । तथा वामनाचार्य-दुर्गा प्रसाद, काशीनाथ, शिवदत्त, एन. जी. देसाई, शीलस्कध, बेबर आदि वैदिक, बौद्ध, अग्रेज विद्वानो ने अपने प्रस्तावना-निबधों मे अमरकोष कार को बौद्ध ही माना है इसके लिये इन्होने निम्नांकित ३ युक्तिया दी हैः-

(१) अमरसिंह ने देव विशेष के नामो मे सर्व प्रथम भगवान् बुद्ध और उनके अवांतर भेदो के नाम दिये हैं फिर वैदिक देवो-देवताओ के नाम दिये है।

(२) काड ३ नानार्थ वर्ग ३ के श्लोक ३१ मे "धर्मराजौ जिनयमौ" पाठ दिया है इसमे जिन (बुद्ध) को प्रथम दिया है और यम (वैदिक श्राद्ध देव) को बाद मे। अगर ग्रन्थकार चाहते तो 'यम जिनौ' पाठ भी दे सकते थे इसमे छदो भग की भी आपत्ति नही थी किन्तु उनके तो जिन (बुद्ध) आराध्य थे अतः पहिले उन्हे स्थान दिया।

(३) यह लोकोक्ति प्रसिद्ध है कि-अमरसिहो हि पापीयान् सर्वभाष्यमचूचुरत् अर्थात्- पापी अमरसिंह ने सारा भाष्य (पातजल महाभाष्य) चुरा लिया। अगर अमरसिह वैदिक होते तो वैदिक विद्वान् कभी उनको पापी और भाष्य की चोरी करने वाला नही बताते।

इनसे स्पष्ट है कि-अमरसिंह बौद्ध विद्वान् थे। इसके बावजूद भी कुछ जैन विद्वान् अमरसिह को जैनधर्मानुयायी बताते है और अमरकोष को जैन कोष। इसके लिये उनकी युक्तिया निम्नाकित है:-

(१) किसी जैन ग्रन्थकार ने एक कथा दी है कि अमरसिह नाममालाकार धनजय कवि के साले थे।

(२) जैन शास्त्र भडारो मे अमरकोष की अनेक प्रतिया मिलती है।

(३) अमरकोष पर जैन विद्वान् आशाधर (वि १३वी शती) ने टीका बनाई है।

(४) शाकटायन (जैन व्याकरण) की स्वोपज्ञ अमोघवृत्ति (वि.स. ९वी शती) मे अमरकोष का उल्लेख है।

(५) "जैन बोधक" वर्ष ४३ अक ५ (फरवरी १९३३) मे एक हस्तलिखित प्रति के अनुसार अमर कोष मे १२५ जैन श्लोक दिये है और अमरसिह को जैन सिद्ध किया है एव उनको बौद्ध माने जाने का निरसन किया है।

नीचे क्रमश. सक्षेप मे इनकी समीक्षा की जाती है:-

(१) यह कथा किसी ने यो ही गढ डाली है इसमे अनेक ऊलजलूलताये है अत. यह बिल्कुल अप्रामाणिक है। इसमे अमरसिह को धनजय का साला बताया है जो निराधार है क्योकि धनजय ८-९ विक्रम शती के है जबकि अमरसिह इनसे कम से कम चार-पाच सौ वर्ष पूर्व हुए है जैसा कि इतिहास से प्रमाणित है-

(i) ७वी ८वी विक्रम शती मे बौद्ध विद्वान् जिनेन्द्र बुद्धि ने काशिका विवरण पजिका मे अमरकोष का "तत्र प्रधाने सिद्धाते" ॥१८५॥ (नानार्थ वर्ग, काड ३) श्लोक उद्धृत किया है।

(ii) उज्जयिनी के गुणरात् ने ईसा की ६ठी शती मे अमरकोष का चीनी अनुवाद किया है।

(iii) क्षीर स्वामी (शिवोपासक, ईस्वी ११वी शती) ने अमरकोषोद्घाटन मे लिखा है कि अमरसिह चन्द्रव्याकरणकार चन्द्र गोमिन् से पूर्व हुए है। चन्द्रगोमिन् वसुरात् के गुरु और ४५० ईस्वी मे होने वाले बगाली, बौद्ध विद्वान् हैं।

(iv) धन्वन्तरि. क्षपणकामरसिंह शकु वेताल
भट्ट घटकर्पर कालिदासाः।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपते. सभाया
रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य ॥

इस प्रसिद्ध श्लोक मे अमरसिंह को विक्रमादित्य की सभा के नवरत्नो मे से एक रत्न बताया है।

ऐसी हालत मे अमरसिंह को धनजय का साला बताना कितना मनघढत है यह पाठक सहज जान सकते हैं।

(२) जैन भडारो मे अमरकोष की प्रतिया मिलने से उसे जैन कोष बताना यह अद्‌भुत युक्ति है। इस तरह तो जैन भडारो मे मिलने वाले अनेक वैदिक ग्रन्थ यथा-भर्तृहरि कृत शतकत्रय, कालिदास कृत मेघदूत, रघुवश आदि भी जैन ग्रन्थ हो जायेंगे। और वैदिक भडारो मे मिलने वाले जैन ग्रन्थ वैदिक हो जायेंगे अत' यह युक्ति निस्सार ही नही बल्कि काफी आपत्तिजनक है। वास्तविकता यह है कि ग्रन्थ भडारो मे विरुद्ध धर्मों के ग्रन्थो का सग्रह उनका परस्पर अध्ययन समीक्षण करने की दृष्टि से किया जाता है।

(३) आशाधर ने तो रुद्रट के काव्यालकार और वाग्भट के अष्टाग हृदय आदि वैदिक ग्रन्थो पर भी टीका बनाई है अतः किसी जैन विद्वान् के द्वारा जैनेतर ग्रन्थ पर टीका बनाने से वह ग्रन्थ जैन नही हो जाता। जैसे जिनसेनाचार्य ने कालिदास के मेघदूत को अपने पार्श्वाभ्युदय मे वेष्टित कर लिया है इससे मेघदूत जैनग्रन्थ नही हो जाता। अमरकोष पर तो पचासो वैदिक विद्वानो ने टीकायें लिखी है इससे वह वैदिक ग्रन्थ नहीं हो गया। स्वय अनेक वैदिक विद्वानो ने युक्तिपूर्वक अमरकोष को बौद्ध ग्रन्थ सिद्ध किया है जैसा कि पूर्व मे बताया जा चुका है।

(४) जैन ग्रन्थो में किसी ग्रन्थ का उल्लेख मात्र होने से ही वह जैन ग्रन्थ नही हो जाता। जैन ग्रन्थो मे तो अनेक जैनेतर ग्रन्थो के उल्लेख हैं इस तरह तो वे भी सब जैन ग्रन्थ हो जायेंगे अतः यह युक्तिवाद भी लचर है। जैनेतर ग्रन्थो मे भी अनेक जैनग्रन्थो के उल्लेख हैं इससे जैनग्रन्थ जैनेतर नही बन जाते। सही बात यह है कि-परस्पर विद्वान् एक दूसरे धर्म के लोकप्रिय ग्रन्थो का प्रमाण रूप मे या समीक्षादि के रूप मे उल्लेख करते आये हैं।

(५) जैन बोधक अङ्क ५ मे जो १२५ श्लोक दिये है उनमे मगलाचरण का एक श्लोक "श्रियः पति पुष्यतु वः समीहित ..." बताया है। किन्तु यह श्लोक तो मूलतः वादीभसिह कृत गद्य चिन्तामणि का है। इसी तरह की हालत कुछ अन्य श्लोको की भी है। ऐसा प्रतीत होता है कि-जब अमरकोष को जैन बनाने के लिये कथा गढ़ डाली गई तो किसी जैन विद्वान् ने अमरकोष को स्पष्ट जैन बनाने को दृष्टि से या उसमे जैन कथनो के अभाव की पूर्ति करने की दृष्टि से यह प्रयत्न किया है। इस वक्त उक्त अ क हमारे पास नही होने से हम उसकी पूरी समीक्षा नही कर रहे है। कोई भी विज्ञ पाठक थोड़े से विचार से ही उसकी निस्सारता-युक्ति हीनता अच्छी तरह हृदयगम कर सकता है।

अब मैं नीचे ऐसे दो नये प्रमाण प्रस्तुत करता हूँ जिनसे सहज जाना जा सकेगा कि अमरकोष जैन कोष नही हैः-

(१) अमरकोष के टीकाकार प. आशाधरजी ने अनगारधर्मामृत अध्याय १ श्लोक २४ के स्वोपज्ञ भाष्य मे पृष्ठ २९ पर-

लोके यथा-"स्याद्धर्ममस्त्रिया पुण्य श्रेयसी सुकृत वृष-इति"। लिखा है यह अमरकोष के काड १ काल वर्ग ४ का २४वा श्लोक है। इसी के बाद-

"शास्त्रे यथा-" करके आत्मानुशासन गुणभद्र कृत का एक श्लोक और नीतिवाक्यामृत (सोमदेव कृत) का एक सूत्र दिया है।

इससे साफ प्रकट है कि आशाधर ने अमरकोष को लौकिक ग्रन्थ बताया है, जैन ग्रन्थ नही।

(२) अमरकोष की अनेक प्रतियो मे प्राप्त-"सर्वज्ञो वीतरागोऽर्हन् ..." श्लोक जो पूर्व मे उद्धृत

किया गया है उसमे जिनेन्द्र का एक नाम 'निर्ह्रीक' भी बताया है। जिसका अर्थ-लज्जाहीन (नग्न) है। ऐसा नाम कभी कोई जैन अपने आराध्य-देव के प्रति नहीं दे सकता।

धनजय कृत नाममाला और हेमचन्द्र कृत अभिधान चिन्तामणि जो प्रसिद्ध प्राचीन जैन कोष है उनमें कही भी यह नाम या इसके अर्थ का कोई पर्यायवाची नही है। हाँ शिवोपासक क्षीर स्वामी ने जरूर अमरकोष टीका मे पृष्ठ १७३ पर ब्रह्म वर्ग मे बुद्ध और जैनादि के नाम देते हुए दिगम्बर जैन के इस प्रकार नाम उद्धृत किये है:-

क्षपणाधि दिगम्बरः। नग्नाट. श्रावको ह्रीको, निर्ग्रंथो जीवजीवकौ॥' इसमे एक नाम 'अह्रीक' है जिसका भी अर्थ लज्जाहीन (नग्न) ही है। यह साफ अमरकोष के 'निर्ह्रीक' का पर्यायवाची है।

अतः स्पष्ट है कि अमरकोष जैन कोष नही है। अमरकोष मे २४ तीर्थकरो के नाम, जैन सैद्धातिक-प्ररूपण, जैन पारिभाषिक शब्द आदि कुछ भी तो जैनत्व सूचक कथन नही पाये जाते। उल्टा, काड ३ विशेष्यनिघ्न वर्ग प्रत्यक्ष स्यादैन्द्रिय-कमप्रत्यक्षमतीन्द्रिय ॥७६॥ मे ऐन्द्रियक ज्ञान को प्रत्यक्ष और अतीन्द्रिय ज्ञान को अप्रत्यक्ष बताया है जो तत्वार्थ सूत्र (जैन सिद्धात ग्रन्थ) के "आद्ये परोक्ष" "प्रत्यक्षमन्यत्" सूत्रो के विरुद्ध पडता है।

ऐसी हालत मे अमरकोष को जैन बताना मिथ्या मोह मात्र है। निष्पक्ष दृष्टि से यह बौद्ध ही है-सत्य का अनुरोध भी यही है।

अमरकोष के ब्रह्मवर्ग मे जो ब्राह्मण धर्मीय कथन है उससे कोई इसे वैदिक मानें तो यह ठीक नहीं है। अमरकोष के पहिले भी कात्य, वाचस्पति, व्यादि, भागुरि आदि के वैदिक कोष ग्रन्थ थे उन्ही से ब्रह्म वर्ग के अपने विषयानुसार सामग्री ली गई है जो विषय की पूर्णता की दृष्टि से आवश्यक थी। इसी को ग्रन्थकार ने ग्रन्थारभ मे "समाहृत्यान्य तंत्राणि सक्षिप्तै. प्रतिसस्कृतैः" ॥२॥ श्लोक से व्यक्त किया है। श्वे जैन हेमचन्द्राचार्य ने भी यह सब ब्राह्मण धर्मीय कथन अपने "अभिधान चिन्तामणि" कोष मे दिया है।

कोष, व्याकरण, गणित, आयुर्वेद आदि विषय ऐसे है जो किसी सप्रदाय विशेष से सम्बद्ध नही होते। अगर कोई ऐसा करता है तो वह अपूर्णता को ही प्राप्त होता है उसे लोकप्रियता नही मिलती।

अत. पूर्णता की दृष्टि से अमरसिंह ने बौद्ध होते हुए भी अमरकोष मे बौद्ध जैन वैदिक सभी भारतीय धर्मों का परिचायक आवश्यक लोक प्रसिद्ध कथन बडी उदारता के साथ सग्रह किया है।

कहाँ तो ग्रन्थकार की महान् उदारता और कहा व्याख्या सुधाकार का यह लिखना कि-"वेद विरोधी होने से बुद्ध और जिनेन्द्र के नाम नरक वर्ग मे देने चाहिये थे"। यह कथन कितना सकीर्ण और गौरव विहीन है पाठक स्वय विचार करें।

-शृंगार शतक-

(मोक्ष मार्ग प्रकाशक) के ५वे अधिकार मे "अन्यमतो से जैनमत की तुलना" प्रकरण के अन्तर्गत प. टोडरमलजी सा. ने भर्तृहरि कृत वैराग्य शतक नाम के प्राचीन वैदिक ग्रन्थ से एक श्लोक दिया है जो इस प्रकार है:-

एको रागिषु राजते प्रियतमा देहार्धधारी हरो।
नीरागेषु जिनो विमुक्तललनासगो न यस्मात्परः॥
दुर्वारस्मर बाण पन्नग विष व्यासक्त मुग्धो जनः।
शेष कामविडबितो हि विषयान्
भोक्तु न मोक्तु क्षमः॥

अर्थात्-रागियो मे तो एक महादेव हैं जिन्होने अपनी प्रियतमा (पार्वती) के आधे शरीर को धारण

कर रखा है। और वीतरागियों मे एक जिनदेव हैं जिनसे बढ़कर स्त्री-त्यागी कोई दूसरा नही है। शेष लोग तो दुर्निवार कामदेव के बाण रूपी सर्प विष से ऐसे गाफिल हैं कि जो विषयो को न तो भली-भांति भोग ही सकते हैं और न छोड ही सकते हैं-इस तरह वे सिर्फ काम विडबना से पीडित हैं।

इस श्लोक मे योगिराट् भर्तृहरि ने सरागियो मे महादेव को और वीतरागियो मे जिनदेव को प्रधान बताया है।

सस्ती ग्रन्थमाला दिल्ली से प्रकाशित मोक्ष मार्ग प्रकाशक मे पृ २०१ पर इस श्लोक को शृगार शतक का ६७वा श्लोक बताया है और मथुरा के सस्करण मे पृ १२६ पर इसे शृगार शतक का ७१वा श्लोक बताया है। किन्तु हमने भर्तृहरि के अनेक मुद्रित शतकत्रयो को देखा-बहुत सो मे तो-"न रहेगा बास न बजेगी बासुरी" यह सोचकर इस श्लोक को बिल्कुल निकाल ही दिया है देखो-ज्ञानसागर प्रेस बम्बई से सन् १६०२ मे प्रकाशित "भर्तृहरि शतकम्" (सस्कृत हिन्दी टीका युक्त) तथा सन् १६२० से १६२३ मे हरिदास एण्ड कम्पनी मथुरा से प्रकाशित-विस्तृत हिन्दी टीका युक्त) प्रसिद्ध,सचित्र सस्करण।

कुछ सस्करणो मे यह श्लोक देने की तो कृपा की है किन्तु उसे इस तरह बदल कर रख दिया है:-

एको रागिषु राजते प्रियतमादेहार्धहारी हरो।
नीरागेष्वपि यो विमुक्तललनासगो न यस्मात्पर ॥
दुर्वारस्मर बाण पन्नग विष ज्वालावलीढो जन.।
शेषः काम विडबितो हि विषयान्
भोक्तु च मोक्तु क्षम.॥८३॥

देखो-सन् १६१६ में निर्णयसागर प्रेस मुबई से प्रकाशित कृष्ण शास्त्रि कृत सस्कृत टीका सहित 'शृंगार शतक' का चतुर्थ संस्करण।

इसमे खास परिवर्तन-"नीरागेषु जिनो" की जगह "नीरागेष्वपि यो" किया गया है। इस तरह मूल ग्रन्थ कार ने जो जिनेन्द्र को वीतरागियो मे प्रधान बताया था उस विशेषता का सर्वथा ही लोप कर दिया है। और मन. कल्पित पाठ परिवर्तन कर अर्थ यह दिया गया है कि-सरागियो और वीत-रागियो दोनो मे ही एक महादेव ही प्रधान हैं किंतु यह अर्थ शृगार शतक के ही प्रथम-श्लोक के विरुद्ध है जिसमे स्पष्ट बताया है कि-"उस विचित्र चरित्र कामदेव को नमस्कार हो जिसने महादेव ब्रह्मा और विष्णु को भी मृगनयनी गृहिणियो का दास बना दिया है।"

दूसरी बात यह है कि-"न यस्यात्परः" पद के साथ कृष्ण शास्त्रीजी का पूर्वोक्त अर्थ जमता ही नही है। इसके सिवा इस पद के 'न' को श्लोक के अन्तिम पद के साथ जोडकर अर्थ किया गया है उससे महान् दूरान्वय दोष उत्पन्न हो गया है। तथा 'भोक्तु न मोक्तु क्षम." इस अन्तिम पद के 'न' की जगह 'च'-कर दिया गया हे इससे भी बडा बेतुकापन हो गया है।

सही बात है-सम्प्रदायाभिनिवेश न ग्रन्थ के गौरव को देखता है और न अर्थ की वास्तविकता को (उसे तो दोनो की मिट्टी पलीद करने से काम)

कहाँ तो मूल ग्रन्थकार की निष्पक्ष उदात्त भावना और कहा सकीर्णतावश उसका लोप और विपर्यास। दोनो पर विज्ञ पाठक विचार करे।

-वैशम्पायन सहस्रनाम-

'मोक्षमार्ग प्रकाशक' के उक्त प्रकरण मे ही आगे वैशम्पायन सहस्रनाम का यह श्लोक दिया गया है:-'कालनेमिर्महावीर. शूरः शौरि जिनेश्वरः'॥ यह श्लोक महाभारत के अनुशासन पर्व, अध्याय १४६ का ८२वा श्लोक है। जहा वैशम्पायनजी ने विष्णु के सहस्रनाम का प्ररूपण किया है। इसमें

विष्णु का एक नाम 'जिनेश्वर' दिया है। (सभवत. इसीसे हेमचन्द्राचार्य ने 'अनेकार्थ सग्रह' कांड २ श्लोक २६६ मे लिखा है-'जिनोऽर्हद् बुद्ध विष्णुपु'।)

परन्तु साम्प्रदायिकता को यह भी सहन नही हुआ है और किसी ने इसको इस प्रकार बदल दिया हैः–कालनेमिनिहा वीरः शौरिः शूरजनेश्वरः। देखो–श्रीपाद दामोदर सातवेलकर, औंध (सितारा) से सन् १६३१ में प्रकाशित महाभारत। तथा गीता प्रेस गोरखपुर से प्रकाशित महाभारत पृ ६०४३ (सन् १६५८)।

मूलग्रन्थकार की उदारता का हनन कर अप्रमाणिकता को प्रश्रय देने की पद्धति कहा तक शोभनीय है इस पर विज्ञ पाठक विचार करें।

–मनुस्मृति, यजुर्वेद–

आगे 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' मे निम्नाकित ३ श्लोक मनुस्मृति से और १ मत्र भाग यजुर्वेद से उद्धृत किया है–

कुलादि बीज सर्वेषा प्रथमो विमलवाहनः।
चक्षुष्मान् यशस्वी नाभि
चन्द्रोऽथप्रसेन जित् ॥१॥
मरुदेवी च नाभिश्च भरते कुल सत्तमाः।
अष्टमो मरुदेव्यां तु नाभेर्जात उरुक्रमः ॥२॥
दर्शयन्वर्त्म वीराणा सुरासुर नमस्कृतः।
नीति त्रितय कर्त्ता यो
युगादौ प्रथमो जिनः ॥३॥

ॐ नमोऽर्हतो ऋषभो ॐ ऋषभ पवित्र पुरुहूत मध्वर यज्ञेषु नग्न परममाहसस्तु त वर शत्रुजयत पशुरिन्द्रमाहुति रिति स्वाहा। ॐ त्रातारमिंद्रं ऋषभ वदति अमृतारमिन्द्र हवे सुगत सुपार्श्वमिन्द्र हवे शक्रमजित तद्वर्धमान पुरुहूत मिन्द्रमाहुरिति स्वाहा।"

आज ये दोनो कथन भी मनुस्मृति और यजुर्वेद मे नही पाये जाते। प. टोडरमलजी के बाद २०० वर्षों मे ही सांप्रदायिको ने साहित्य का कितना अगभग और उसमे कितना रद्दोबदल कर दिया है यह इन प्रमाणो से अच्छी तरह जाना जा सकता है। 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' मे प टोडरमलजी ने और भी विविध वैदिक ग्रन्थो से जैन उल्लेख उद्धृत किये है शायद उनमे से कुछ और की भी यही हालत हुई हो।

इस प्रकार जैन उल्लेखो के निष्कासन और विपर्यास की यह छोटी सी कहानी है। अब एक दो उदाहरण ऐसे भी नीचे प्रस्तुत किये जाते हैं जिनमे एतद् विषयक बडा ही अर्थ का अनर्थ किया गया हैः–

'सत्यार्थ प्रकाश' द्वि. सस्करण सन् १८८४ के पृष्ठ ४४७ पर लिखा है–

न भुक्ते केवली न स्त्री मोक्ष मेति दिगबराः।
प्रादुरेषामयं भेदो महान् श्वेताबरैः सह ॥

इसका अर्थ स्वामी दयानन्दजी सा ने इस प्रकार किया है–"दिगबरो का श्वेताम्बरो के साथ इतना ही भेद है कि–दि लोग स्त्री का ससर्ग नही करते और श्वे करते हैं इत्यादि बातो से मोक्ष को प्राप्त होते है। यह इनके साधुओ का भेद है"। उर्दू सस्करण मे भी लिखा है–दि श्वे मे इतना ही इखतलाफ है कि–दि. औरत के नजदीक नही जाते और श्वे जाते है।"§

यह श्लोक वास्तव मे सायण माधवाचार्यकृत "सर्वदर्शनसग्रह" (१३०० ईस्वी सन्) का है। खेमराज श्री कृष्णदास बम्बई से वि. स १६६२ मे प्रकाशित सस्करण मे पृष्ठ ७३ पर यह ६२वा श्लोक दिया है। उदयनारायणसिंहजी ने इसका अर्थ इस प्रकार किया हैः–"अकेला न भोजन करते

न स्त्री को भोगते ऐसा दिगम्बर मोक्ष को पाते हैं यह बडा भेद श्वेताम्बरो के साथ कहा है।''

ये सब अर्थ कितने असत्य और शालीनता से बाहर हैं यह जैनधर्म से थोडा भी परिचय रखने वाले अच्छी तरह जान सकते हैं।

इसी प्रकार के गलत हिन्दी अनुवाद इस 'सर्वदर्शनसग्रह' मे पद पद पर है-उदाहरणत. पृष्ठ ७२ पर देखिये-'अष्टादश दोषा न यस्य च ॥८३॥' इसका अर्थ किया है-''ये ही १८ नयदोष हैं।'' जबकि इसका सही अर्थ यह है कि-''जिसके १८ दोष नहीं है'' (ऐसे जिनेन्द्र हैं)। इसी तरह पृ. ७३ पर देखिए-

लुंचिताः पिच्छकाहस्ता. पाणिपात्रा दिगबराः।
ऊर्ध्वाशिनो ग्रहे दातु द्वितीयास्यु जिनर्षय ॥६१॥

इसमे तीसरे चरण का अर्थ इस प्रकार किया है-''दिगबर लोग दाता के घर भी भोजन नही करते हैं।'' जबकि सही अर्थ यह है कि-'दाता के घर मे खड़े भोजन करने वाले दि. हैं।'

निष्पक्ष उदार विद्वानो से प्रार्थना है कि-वे साम्प्रदायिक सकीर्णता की पर्याप्त निंदा करें और जो इस प्रकार के कार्य हुए हों उन्हे वापिस सुधारें जिससे श्रमण ब्राह्मण धर्म मे परस्पर भ्रातृभाव की और भी वृद्धि हो।

''शत्रोरपि गुणा वाच्या'' के रूप मे कहो चाहे सहज रूप मे कहो पूर्वकालीन अनेक वैदिक विद्वानो ने जैनधर्म के प्रति वात्सल्य भाव प्रदर्शित किया है जो उनकी उदात्त भावना का द्योतक है। इसकी जड उन्होने इतनी गहरी डाली थी कि-जैनो के भगवान् ऋषभदेव को ८वें ऋषभावतार के रूप में मान्य किया था। आज के सांप्रदायिको को उस ओर ध्यान देना चाहिये एवं पूर्वजो के गुणानुराग का अनुसरण करना चाहिये। इसी मे भारतीय एकता है जो आज के युग की खास आवश्यकता है।

---

*श्लोक १ के चौथे चरण मे बौद्ध के और श्लोक २ के दूसरे चरण मे जैन के नाम है अगर इन नामो को हटाकर सिर्फ वैदिक दर्शन के ही नाम रहने देते तो दोनो श्लोक अधूरे हो जाते अतः विवश हो दोनो श्लोको को ही मूल से निकाल दिया है।

†बघेरा, उदयपुर, टोंक आदि के जैन भडारो मे प्राप्त अमरकोष की प्रतियो के अन्त मे लेखको ने भिन्न भिन्न प्रशस्तियां दी हैं पाठको के उपयोगार्थ समुच्चय रूप से नीचे उन्हे भी प्रस्तुत किया जाता है, इनमें प्रथम जैन और द्वितीय शैव है:-

—अन्त्य प्रशस्ति—

१- कृतावमरसिंहस्य, नामलिंगानुशासने।
काण्डस्तृतीयः सामान्यः, सांग एव समर्थितः ॥
इत्युक्तं व्यवहार्थं, नामलिंगानुशासनम्।
शब्दानां न गतौअन्तं, तावपीन्द्रबृहस्पती ॥

पद्मानि बोधयत्यर्क , काव्यानि कुरुते कवि ।
तत्सौरभ नभस्वतः, सन्तस्तन्वन्तु तद्गुणान् ॥ (वायुरित्यर्थं)
यदक्षर पद भ्रष्ट, स्वर व्यजन वर्जित ।
तत्सर्वं क्षम्यतां देवि, प्रसीद परमेश्वरि ॥
यावत्पृथ्वी रविर्यावत् , यावच्चन्द्र हिमाचलौ ।
पठ्यमाना बुधै स्ताव, देषा नन्दतु पुस्तिका ॥
यावच्छी वीतरागस्य, धर्मो जयति भूतले ।
विद्वद्भि र्वांच्यमानोऽय ग्रन्थस्तावद्विनन्दतु ॥

यावच्चन्द्र दिवाकरौ ग्रहपती क्षोरणी समुद्रा ग्रपि ।
यावद् व्योम वितान सन्निभतया दिक् चक्र माक्रामति ॥
यावद् देहनिवासिनी पशुपतेः गौरी मुख चुम्बति ।
ताव न्निष्ठतु कोष एष सुधियां कठेषु रत्नोपम ॥

नानाकवीना भुवि नाम कोषा ।
सन्त्येव शब्दार्थविदा प्रबधा ।
तथापि सूक्तेऽमरसिंह नाम्न ।
कवे रतीव प्रसृत मनो मे ॥

§बाद के सस्करणो मे इस ग्रथ मे थोडा परिवर्तन कर दिया है फिर भी सही ग्रर्थ नही हो पाया है । पूरा सही ग्रर्थ इस प्रकार है'-"केवली (ग्रर्हन्त) भोजन नही करते ग्रौर स्त्री मोक्ष नही प्राप्त करती ऐसा दिगम्बर कहते है यही श्वेताम्बरो के साथ इनका महान् भद है ।' सत्यार्थ प्रकाश म जो जैन धम की ग्रालोचना के लिये एक लम्बा चौडा समुद्देश लिखा है इस एक नमूने मे हो उसकी भी ग्रसत्यता ग्रौर ग्रप्रमाणिकता का ग्रच्छी तरह परिचय मिल जाता है ।

क्या मंत्र-तंत्र-स्तोत्र आदि का विधि-विधान सार्थक है ?

—वैद्य प्रकाशचन्द्र पांड्या
अनिल-भवन, भोपाल गंज,
भीलवाडा (राज०)

शायद ही कोई ऐसा वर्ष निकलता हो जिसमें प्रतिष्ठा आदि कार्यों में हमारी समाज का करोड़ों रुपया व्यय न होता हो । खेद है किसी साधु अथवा धनपति का ध्यान इस ओर नहीं गया कि वह अपने प्रभाव तथा द्रव्य से एक ऐसी अनुसंधानशाला की स्थापना करा दे जिसमें भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित तत्त्वों, पदार्थों आदि पर वैज्ञानिक ढग से अनुसंधान होकर उसके फल जनता के सामने रखे जा सकें । धर्म की प्रभावना का वर्तमान वैज्ञानिक और तर्क प्रधान युग में और कोई मार्ग नहीं हो सकता । क्या मन्त्र तन्त्र आदि का मनोवैज्ञानिक प्रभाव के अतिरिक्त अन्य प्रभाव पड़ता है निश्चय ही यह भी एक गवेषण का विषय है लेकिन वैज्ञानिक उपकरणों एवं अन्य साधनों के अभाव में यह हो कैसे ।

—सम्पादक

भारत मे विभिन्न धर्म है और प्रायः सभी धर्मों मे मत्र-तत्र-स्तोत्र, पाठ, आदि का विधि-विधान है और उनकी बडी महिमा गाई गई है। धर्म भक्त इन विधि-विधानो को अपने धर्म के अनुसार बडे ही भक्ति भाव से दैनिक-कार्य मे प्रयुक्त कर कृत-कृत्य होते हैं ।

आज के उत्कर्ष विकासशील युग मे धार्मिक मत्र-तंत्र-स्तोत्र, पूजा-पाठ आदि विधि-विधान को चली आ रही परम्परा के आधार पर स्वीकार किया जाना असभव है। प्रत्येक व्यक्ति आज यह सोचता है कि वह क्यो मत्र स्तोत्र-पूजा-पाठ आदि करने मे १-२ घंटे खर्च करे ? वह इस बात को सोचने में बाध्य होता है कि क्या इससे कुछ शारीरिक लाभ है ? यदि है तो कितना ? कैसा और किस प्रकार का और क्यो कर है ? जब तक आज के विकासशील व्यक्ति के मस्तिष्क मे इन बातो का समाधान नही बन जाता तब तक इनका

धार्मिक झुकाव उस ओर नही बढ़ सकता बल्कि दिन प्रतिदिन क्षीण होता जावेगा और हो रहा है।

प्रत्येक विषय को आज तर्क की कसौटी पर कस कर तथा वैज्ञानिक दृष्टि से अन्वेषण होने पर ही सर्वमान्य समझा जाता है। अत. स्तोत्र, मंत्र, तंत्र, पाठ आदि विधि-विधान पर आज तक भी किसी भारतीय या पाश्चात्य विद्वान या वैज्ञानिक ने अन्वेषण नही किया और न कभी करने का प्रयत्न किया। इसीलिए 'सरिता' १ सितम्बर १९७० के अंक मे 'शारीरिक रोगो के कर्मकांडीय इलाज' शीर्षक से श्री सुदर्शन चोपडा जी ने इस विषय पर भारतीय-समाज पर गहरा व्यंग किया है। अतः इस विषय पर मैंने कुछ वैज्ञानिक दृष्टि-कोण से इस लेख मे प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है। आशा है कि पाठक इस पर मनन करेंगे और कुछ सोचेंगे!

आज डा० खुराना की शोध से यह सिद्ध हो गया है कि मनुष्य के शरीर की बुनियादी इकाई कोशिकाए हैं। प्रत्येक कोशिका के भीतर एक केन्द्रक (न्यूक्लियस) और उसके चारो ओर 'साइटोप्लाज्म' नामक तरल द्रव होता है और इसमे आनुवंशिक सूचनाए होती हैं। इन सूचनाओ को आर. एन. ए. नामक अणु द्वारा पहुँचाई जाती हैं और यह बताती है कि कोशिकाओ को क्या करना है? डी. एन. ए. अणु ही शरीर के विकास एव परिवर्तन के लिए आवश्यक सामान के निर्माण का नियन्त्रण रखता है।

इस प्रकार मानव प्रवृत्तिया तन्त्रिका-कोशिकाओ द्वारा प्राप्त की जाती है। शरीर मे विभिन्न कार्य करने के लिए पृथक-पृथक कोशिकाए या समूह होते है। इनमे बाहर से अन्दर अथवा अन्दर से बाहर रासायनिक पदार्थों का परिवहन और इसके साथ-अच्छे या बुरे संवेदनाओं का आदान-प्रदान होता है। इससे प्राणी बाह्य परिस्थिति को जानते हुए अपने आपको अनुकूल बनाते है।

इसीलिए यदि मनुष्य अच्छा कार्य और पुरुषार्थ करता है तो अच्छे भावो के चक्र बनाता है और उसके शरीर पर अच्छा असर होता है और सुखी होता है क्योकि भाव बुनियादी रूपवाली शक्तिया होती हैं और सूक्ष्म 'मेटल-मोलीक्यूल' (Mental-Molecules) निहित होते है। जब बुनियादी भाव अच्छे और स्वभाव मूलक होते है तब बाह्य चक्र भी समतापरक होते है। इसके विपरीत यदि मानव अन्तर्मुखी नही बनता तो वह वाह्य-प्रभावो के सम्बन्धो के प्रभावो से उत्तेजित होकर खराब भावो और विचारो का शिकार होकर खराब मानस-चक्र बनाता है जिससे विषमता बढ़ती है। अत· स्तोत्र, मन्त्र-तन्त्र, पूजा, पाठ आदि द्वारा शारीरिक अणु संघो पर अच्छा प्रभाव डालन की संभावना रहती है। इस समय भी भारत मे अनेक धर्मो मे ऐसे-ऐसे मंत्र-स्तोत्र आदि है जिनके द्वारा शारीरिक अनुसंघो पर अच्छा प्रभाव डाला जाकर विभिन्न रोगो से शरीर को मुक्त किया जाता है। मन्त्रो से झाड-फूक कर इलाज करने वाले बहुत से गावो और शहरो मे मिलते भी है। उनकी प्रक्रिया मे चाहे कुछ भी हो किन्तु, यह मानना ही पडेगा कि उनके मन्त्र-तंत्र से कुछ शारीरिक लाभ अवश्य होता है। यह तब ही संभव है जब मंत्र-तंत्र से शारीरिक अणु संघो पर प्रभाव पडता हो। जब शारीरिक अणुसंघो पर प्रभाव पडेगा तब सूक्ष्म अणुसंघो द्वारा शरीर की कोशिकाओ मे अच्छी संवेदनाओं का आदान-प्रदान भी अवश्य होगा और शारीरिक स्वास्थ पर भी अच्छा असर पड़ेगा! क्योकि प्रत्येक अणु का स्वभाव पूरण और गलन है। मन्त्र-तन्त्र, स्तोत्र, पूजा पाठ आदि से शरीर के आर. एन. ए. अणु मे रासायनिक परिवर्तन होकर परिवहन द्वारा अच्छे संवेदनाओ को कोशिकाओ को देकर शारीरिक रोग को नष्ट कर रोग मुक्त हो जाता है।

प्राचीन भारतीय ऋषिगण तप ध्यान मे निरत

होकर ऐसे यौगिक कार्य से अन्तिम परिणामो पर पहुँचते रहे हैं कि जिनको पढकर आश्चर्य होता है। एक स्थान पर बैठे ही बैठे दूर देश के समाचार बता देना, शरीर की गध ऐसी स्वास्थ्य-वर्द्धक कर लेना कि उनसे छुआ-पवन जहा २ तक उसे ले जावे वहां वहां तक के लोगो को आधि-व्याधि और रोग अपनी शक्ति से मुक्त कर देना। इन सब बातो मे चाहे अतिशयोक्ति रही हो फिर भी इनमे किंचित सत्यता भी हो सकती है। क्योकि, दूर स्थित एक मन का दूसरे प्राणी के मन पर प्रभाव पडता है। टेलीपेथी मे एक प्राणी की अपनी मस्तिष्क प्रक्रियाए ही कार्य नही करती है, अन्य व्यक्ति जो अपने विचार दूर से ही देता है उसकी ज्ञानेन्द्रिया और अपनी विचार-शक्ति मिलकर एक प्राणी जैसा ही तत्रिका-तत्र बनाते है और अपने आप कार्य हो जाने लगता है।

अत. इन सब बातो को दृष्टि मे रखते हुए इस बात के शोध की आवश्यकता है कि मंत्र-तत्र, स्तोत्र आदि के पूजा-पाठ विधि विधान से शारीरिक 'डी. एन. ए.' मे कैसा परिवर्तन होता है? और वे शारीरिक तन्तुओ को बदल कर कितनी शारीरिक-चिकित्सा मे सफल होते है। इसकी पूर्ण शोध-खोज किया जाना अत्यन्त आवश्यक है। क्योकि भारतीय सदा से धार्मिक रहे हैं और स्तोत्र-मंत्र-तत्र आदि के पूजा-पाठ विधि-विधान को बडी श्रद्धा से करते आये हैं। साथ ही भारतीयो की यह भी मान्यता रही है कि धार्मिक विधि-विधान से शारीरिक आत्मा भी शुद्ध होती है। यदि डा० खुराना की शोध-खोज के आधार पर मत्र-तत्र-स्तोत्र आदि द्वारा शरीर की कोशिकाओ और अणुसघो पर कितना और कैसा प्रभाव होता है? पूर्ण अन्वेषण कर लिया जाय तब ही नव-पीढ़ी इन धार्मिक विधि-विधानों पर विश्वास कर सकती है और उनकी आस्था भी बढ़ सकती है, अन्यथा नही।

डा० खुराना ने यह तो स्पष्ट अन्वेषण कर ही दिया है कि आनुवंशिक मधुमेह, कैंसर आदि भंयकर रोगो की डी. एन. ए. द्वारा शारीरिक तन्तुओ को बदल कर पूर्ण चिकित्सा हो सकती है। इसलिए यह भी सभव है कि इन धार्मिक मत्र-तत्र-जप आदि द्वारा डी. एन. ए. मे परिवर्तन हो जाता हो अथवा डी. एन. ए. में निहित यूक्लियक-एसिड को परस्पर सबद्ध इकाइयों मे परिवर्तन होकर शरीर मे लाभ-कारी असर डाल देता हो? इस सबध मे मेरा वैज्ञानिकों से निवेदन है कि वे इस विषय पर पूर्ण अन्वेषण करें।

●

जीयो और जीने दो

विपिन जारोली
सम्पादक—काव्यांजलि वार्षिकी
एव अन्य कई पत्रो के सम्पादक व लेखक
कानोड

आज की भौतिकवादी सभ्यता के युग मे,
विषमताओ की उपलब्धियो का अम्बार लग रहा है।
कहीं कही समानता की राग भी—
अलापी जा रही है।
किन्तु विनाशकारी ज्वालाओ की बढ़ती हुई आग के—
शमन के लिए,
शान्ति के शीतल-सौम्यवारि के—
आविष्कार की बात तो दूर,
कोई सोच तक भी नही रहा है।
सर्वत्र ही अहर्निश—
दो गुटो का निर्माण किया जा रहा है।
'वसुधैव कुटुम्बकम्' की नीव का पत्थर
धीरे से खिसकाया जा रहा है।
निर्माण की बढ़ती हुई गति से—
अमन का राग नही,
सिसकियों का स्वर प्रस्फुटित हो रहा है।

आज आइन्स्टीन अपनी ही मृत्यु की मजार पर
दो बूंद आंसू बहा रहा है।
"ध्येय तो मेरा निर्माण था, विनाश नही"
किन्तु............
आइन्स्टीन भूलो नहीं!
'हर वस्तु के दो पहलू होते हैं'
तुमने तो केवल एक पक्ष—
निर्माण ही देखा,
और इन्सान के हाथों अपनी उपलब्धि की धरोहर
सौंपकर निश्चिन्त हो गये।
तुम्हें क्या पता है कि
आज के इन्सान को प्रतिस्पर्धा की दौड प्यारी है,
सौम्यता का प्रगति-पथ हर्गिज स्वीकार नहीं।
उसने तुम्हारे प्रथम पहलू निर्माण को भुला कर,
विनाश का ही दूसरा पहलू स्वीकार कर लिया है।
हिरोशिमा और नागासाकी की ज्वाला—
पुनः धधकना चाहती है।
आज मानवता पुनः महानाश के कगार पर
खड़ी कर दी गई है
प्रलयकर ज्वालाएँ पुनः धधकना चाह रही हैं।
आइन्स्टीन! क्या सोच रहे हो अपनी करनी पर?
पश्चाताप की ज्वाला में जलने से अब क्या हो सकता है?
व्यर्थ ही अपने आंसू बहा रहे हो!
हिम्मत से काम लो।
वह देखो दूर-बहुत दूर,

भारत की धरती पर,

कालचक्र की स्वच्छन्द गति को—

रोकने के लिए

अमन के श्लोक रचे जा रहे है ।

उसके कण-कण में मुझे स्पष्ट सुनाई दे रहा है—

"भारत की तुम्हें अपेक्षा है न आइन्स्टिन !

तो लो यह उस पावन धरती के एकमात्र सुपुत्र—

वीर वर्द्धमान का प्रिय उद्घोष

"जीयो और जीने दो"

इस उद्घोष मे वह शक्ति है,

जो इन्सान को द्वन्द के बदले—

शान्ति से जीना सिखायेगा ।

समानता, क्षमता, और सौम्यता का

अजस्र प्रवाह बहायेगा ।
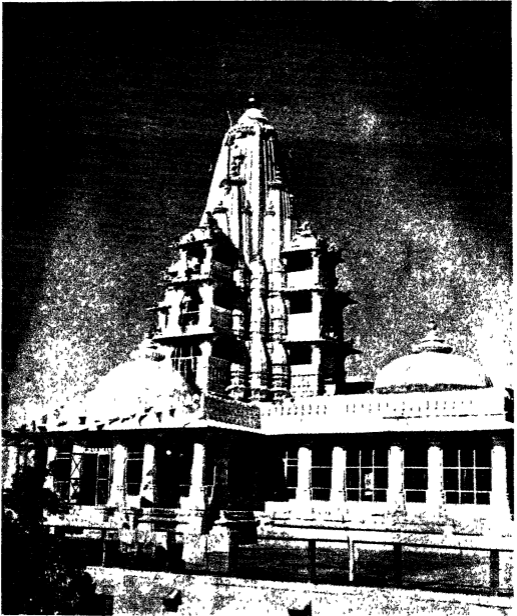
राजस्थान में सबसे ऊँचे शिखर वाला जैन मंदिर-कापरडा

मूर्ति विज्ञान का एक नवीन अध्याय

देवगढ़ की उपाध्याय मूर्ति

—डॉ० भागचंद्र जैन 'भागेन्दु'
एम. ए. पी-एच डी, शास्त्री
काव्यतीर्थ, साहित्यरत्न, सीहोर

पच परमेष्ठियों में उपाध्याय अर्थात् मुनि संघ के शिक्षक का भी स्थान है। सारे भारत में शायद देवगढ़ ही वह स्थान है जहां जैन निर्ग्रन्थ उपाध्याय की प्रतिमाए प्राप्त हुई है। इसका महत्त्व इस कारण से और भी है कि इनमें से एक पर सम्वत् १३३३ का लेख भी है। लीजिये ऐसी अनूठी और अद्वितीय प्रतिमा की जानकारी प्राप्त कीजिये विद्वान् लेखक की इन रोचक पंक्तियों से —

—सम्पादक

सामान्य परिचय

देवगढ उत्तर प्रदेश मे झासी मण्डल की ललितपुर तहसील में बेतवा नदी के किनारे, २४°२२ अक्षांश ७८°१५ देशान्तर पर स्थित है। मध्यरैलवे के देहली बम्बई मार्ग के ललितपुर स्टेशन से यह दक्षिण-पश्चिम मे ३३ कि. मी. की एक पक्की सडक से जुडा है।

प्राचीन देवगढ विंध्याचल के पश्चिमी छोर की एक शाखा पर गिरि-दुर्ग के मध्य स्थित था। जबकि आज वह उसकी पश्चिमी उपत्यका मे बसा है। वर्तमान में यहां ५४ घरों मे ३९९ मनुष्य निवास करते हैं। एक विशाल जैन धर्मशाला और शासकीय विश्रामगृह भी यहा हैं। ग्राम के उत्तर मे सुप्रसिद्ध 'दशावतार मन्दिर' तथा शासकीय सग्रहालय और पूर्व में जैन संग्रहालय एवं पहाडी पर उसके दक्षिणी पश्चिमी कोने पर जैन स्मारको का समूह है। इस पहाडी की अधित्यका को घेरे हुए एक विशाल प्राचीर है, जिसके पश्चिम मे कुजद्वार और पूर्व में हाथी दरवाजा है। इसके मध्य एक प्राचीर

ओर है जिसे 'दूसरा कोट' कहते हैं। इसी के भीतर जैन-स्मारक-समूह है। 'दूसरे कोट' के मध्य मे भी एक छोटा सा प्राचीर था, जिसके अवशेष अब भी दिखाई देते हैं। इसके भी मध्य एक प्राचीर सदृश दीवार सन् १६३० में आगरा निवासी स्व० सेठ पदमचन्द्र बैनाड़ा के द्रव्य से बनायी गयी, जिसमे दोनो ओर बहुत सी खडित मूर्तिया जडी हुई हैं। विशाल प्राचीर के दक्षिण-पश्चिम मे वराह-मन्दिर के ध्वसावशेष और दक्षिण मे बेतवा नदी के किनारे नाहर घाटी और राजघाटी हैं।

युग युगों में देवगढ़ :

विभिन्न शताब्दियो मे देवगढ के विभिन्न नामकरण किये गये। देवगढ का प्राचीन नाम-'लुअच्छगिरि' था। यह नाम दशमी शताब्दी तक प्रचलित रहा। क्योकि देवगढ मे ही उपलब्ध विक्रमाब्द ६१६ के गुर्जर प्रतिहार वशी राजा भोज के अभिलेख मे इस स्थान का नाम 'लुअच्छगिरि' अकित है। इसके पश्चात् किन्तु ग्यारहवी शती के अन्त तक यह स्थान 'कीर्तिगिरि' के नाम से प्रसिद्ध हो चुका था, इस नाम का उल्लेख देवगढ मे ही राजघाटी मे चन्देलवशी शासक कीर्तिवर्मा के मन्त्री वत्सराज द्वारा उत्कीर्ण कराये गये अभिलेख मे मिलता है। अतएव निर्विवाद रूप से यह कहा जा सकता है कि १२ वी शती के अन्त या १३ वी शती के प्रारम्भ से यह स्थान "देवगढ़" नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस नामकरण का आधार, मेरी सम्मति मे, दुर्ग (=गढ) के अन्दर 'देव' मूर्तियो की प्रचुरता होना है।

देवगढ़ मे सम्प्रति उपलब्ध पुरातत्त्व और कलावैभव इस तथ्य का पोषक है कि वह स्थान प्राचीन काल से ईस्वी १४ वी शती तक मुख्य रूप से और १८ वी शती तक गौण रूप से राजनैतिक, धार्मिक, कलात्मक, सांस्कृतिक गतिविधियों का केन्द्र रहा।

यद्यपि वहा के बहुसख्यक स्मारक धराशायी और मूर्तिया खडित हो गयी हैं, पुनरपि भारतीय-पुरातत्त्वज्ञो एव समाज-सेवियो आदि के प्रयत्नो से जो सामग्री सुरक्षित है या जीर्णोद्धार आदि के माध्यम से सामने है, वह भी बहुत है। देवगढ़ के इन स्मारको और कलावशेषो मे अखिल भारतीय कला और सस्कृति के अनेक भव्य और विरल नमूने सुरक्षित है। मैं अपने इस निबन्ध मे आपको ऐसी ही एक मूर्ति से परिचित करा रहा हू जो अखिल भारतीय मूर्तिकला के इतिहास मे बेजोड–अनुपम और सर्वथा नवीन तो है ही, पुरातत्त्वज्ञो और मूर्तिशास्त्रविशेषज्ञो की दृष्टि से भी अब तक ओझल रही है।

भव्य उपाध्याय मूर्ति

आइए, ऐसी भव्य .... और दिलचस्प मूर्ति के निकट पहुंचे —

जी हा, यह देवगढ ग्राम की जैन धर्मशाला है। आप इसकी दूसरी मजिल मे निर्मित दि० जैन चैत्यालय मे पहुचिए। चैत्यालय के तीन गर्भगृहो मे से अपने दायी ओर के गर्भगृह को निहारिए। देखा आपने, उसमे अवस्थित, भूरे देशी पाषाण से निर्मित, सर्वांगसुन्दर प्रतिमा को। उत्थित पद्मासन मे आसीन, प्रसन्नमुख यह मूर्ति शान्ति, सौम्यता और गम्भीरता को आत्मसात् किए हुए सा प्रतीत हो रही है न।

और देखिए, मूर्ति का दाया हाथ हृदय की ओर उपदेशमुद्रा मे वक्ष तक ऊपर उठा है तथा बायी जघा पर रखा है, उसकी खुली हथेली पर ताडपत्रीय ग्रन्थ रखा है, जिसे तर्जनी दबाए हुए है। अगुलियो एव अगुष्ठो के पोर (पर्व), नाखून तथा अन्य रेखाकृतिया बहुत सुघडता के साथ उभरी हुई हैं। ग्रीवा मे त्रिवली का सुस्पष्ट अकन है। श्रोत्र पर्याप्त लम्बे होकर कन्धो का स्पर्श कर रहे हैं।

मूर्ति के दायें पार्श्व में पीछी और कमण्डलु का भव्य निदर्शन हुआ है। पादपीठ के समतल पर दोनो ओर एक-एक श्राविका विनयपूर्वक अञ्जलि-बद्ध मुद्रा मे बैठी हुई हैं।

पहचानिए आप, यह किसकी मूर्ति है ? (प्रसन्नता से) अरे, यह तो जैनदर्शन के पचपरमेष्ठी मे से उपाध्याय-परमेष्ठी की प्रतीत होती है।

(२) 'दिशन्ति द्वादशागादिशास्त्र लाभादिवर्जिता ।
स्वय शुद्धव्रतोपेता उपाध्यास्तु ते मताः ।।'
—त्रिकालवर्त्ती महापुरुष, पृ० २२५

(३) 'जो रयणत्तयजुत्तो णिच्चो
धम्मोवएसणे णिरदो।
सो उवझाओ अप्पा जदि वर
वसहो णमो तस्स ।।

आप ठीक सोचते है। दार्शनिक ग्रन्थो मे इन्ही उपाध्याय परमेष्ठी का स्वरूप इस प्रकार से प्रस्तुत किया गया है:—

(१) 'उपेत्य यस्मादधीयते इत्युपाध्यायः। विनयोपेत्य यस्माद् व्रतशील भावना-धिष्ठानादागम श्रुताख्यमधीयते स उपाध्यायः'
—आ० अकलकदेव: तत्त्वार्थवार्तिक (राजवार्तिक), द्वि० भा०, पृष्ठ ६२३

—आ० नेमिचन्द्र सि० च० द्रव्य सग्रह, गा० ५३

उपाध्याय एक ऐसा तपोनिष्ठ व्यक्ति होता है जो सदैव दूसरों को सत्पथ (कल्याण मार्ग) का निर्देश करने मे व्यस्त रहता है। यह समीचीन श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र का धारक होता है।

शिल्प चातुरी और कला मर्मज्ञता की परिचायक यह उपाध्याय प्रतिमा एक फुट दश इन्च लम्बे तथा दश इंच चौड़े पादपीठ पर निर्मित, दो

फुट डेढ़ इंच ऊंची और एक फुट छह इंच चौड़ी है। इस प्रतिमा के निकट पहुंचते ही ऐसा प्रतीत होता हैं मानो वह त्रस्त, और उद्विग्न मानवता को अपनी चिरन्तन साधना और अविनश्वर उपलब्धि का शाश्वत सन्देश प्रदान कर रही है।

पादपीठ के नीचे सम्वत् १३३३ का पाच पंक्तियों का एक महत्वपूर्ण अभिलेख भी उत्कीर्ण है। अंकित सम्वत् प्रतिमा के निर्माण काल का ज्ञापक है। अभिलेख मे नन्दिसघीय बलात्कारगण के आचार्य श्री कनकचन्द्र देव, उनके शिष्य लक्ष्मीचन्द्र देव और उनके भी शिष्य हेमचन्द्र देव तथा कुछ अन्य नाम अभिलिखित है।

यह तथ्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि समस्त भारतवर्ष मे केवल देवगढ ही एक ऐसा स्थान है जहा पच-परमेष्ठी का सामस्त्येन मूर्त्यङ्कन हुआ है। उपाध्याय परमेष्ठी की ऐसी भव्य मूर्ति तो अन्यत्र अलभ्य ही है। देवगढ के जैन शिल्पी ने उपाध्याय परमेष्ठी की इस अनुपम मूर्ति निर्माण के द्वारा भारतीय मूर्तिकला को अभूतपूर्व उपहार प्रदान कर मूर्ति-विज्ञान के इतिहास मे और मूर्ति-शास्त्र मे एक सर्वथा नवीन अध्याय जोडा है। देवगढ मे ही उपाध्याय परमेष्ठी की अन्य उल्लेखनीय मूर्तिया जैन सग्रहालय, अनेक मानस्तम्भो, मन्दिर सख्या एक के दक्षिण मे पहले के ध्वस्त मन्दिर के अधिष्ठान, तीर्थकर के परिकर तथा पाठशाला-द्वयो (म० स० एक एव चार), मदिर स० १२ तथा दूसरे कोट के प्रवेशद्वार के तोरण पर देखी जा सकती हैं, किन्तु उक्त मूर्ति अपनी शैली और कला की 'एकमेवाद्वितीय' है।

यद्यपि सर्व श्री अलेक्जेंडर कनिघम, फुहरर, जांन मार्शल, हारग्रीव्ज, पूर्णचन्द्र मुकर्जी, दयाराम साहनी आदि अनेक पुरातत्ववेत्ताओ ने देवगढ़ की यात्रा की तथा वहां विद्यमान कुछ प्रमुख कलाकृतियो के विवरण भी दिये है, किन्तु उपर्युक्त उपाध्याय-मूर्ति उन सभी की दृष्टियो से ओझल रही। ओझल रहने का कारण भी है—वर्तमान मन्दिर सख्या १२ के गर्भगृह मे मूलनायक की मूर्ति के सामने जीर्णोद्धार कराने वाले—लोक निर्माण विभाग के द्वारा एक दीवार मन्दिर-शिखर के भारवाहक किन्तु टूटे हुए उष्णीष (सहतीर) को सम्हालने हेतु श्री कनिघम की देवगढ यात्रा (१८७४-७६ ई०) के पूर्व तैयार करायी गयी थी। श्री दयाराम साहनी ने भारतीय पुरातत्त्व विभाग की ओर से देवगढ के जैन स्मारको का सर्वेक्षण करने जब (१९१७—१८ ई०) देवगढ मे कुछ माह तक निवास किया तब भी यह दीवार मौजूद थी। मूलनायक की मूर्ति तक पहुचने के लिए उसी दीवार मे एक फुट नौ इन्च चौडी एक छोटी सी खिडकी मात्र थी। इसी (लोक निर्माण विभाग द्वारा निर्माणित) दीवार मे साधारण पत्थर की तरह यह मूर्ति भी एक प्रस्तर खण्ड का कार्य कर रही थी। ध्यान रहे इस दीवार के निर्माण मे सभी सामग्री अधिकतर धराशायी मन्दिरो के अश या मूर्तिया थी। दीवार निर्माताओ को, कदाचित् उससे सस्ता पत्थर मुफ्त कहां मिलता?

श्री परमानन्द बरया देवगढ के अनन्य अनुरागी और भक्त पुरुष है। वे लगभग ४० वर्ष से वहा की सेवा मे जुटे है। उन्होने बहुत ही साहस, निष्ठा और चातुर्य के साथ वहा के अनेक स्मारको को व्यवस्थित और सुरक्षित कराया है। मन्दिर सख्या १२ मे मूलनायक के दर्शन मे बाधा तथा अन्धकार होने के कारण श्री बरया ने बडी चतुराई से उक्त दीवार हटवाकर एक लोहे के गार्डर को खड़ा करवाकर दीवार का उद्देश्य पूरा करा दिया था। इसी दीवार की सामग्री मे उपाध्याय-मूर्ति प्राप्त हुई. जो भारतीय मूर्तिविज्ञान की सर्वथा अनूठी और अनोखी कृति है।

❁

जयपुर के १२वीं शताब्दी के प्राचीनतम दिगम्बर जैन लेख

—श्री रामवल्लभ सोमानी
पुरातत्व एव सग्रहालय विभाग
जयपुर (राज०)

भारतीय इतिहास का अधिकांश भाग अभी भी अज्ञात ही है। यदि जैन ग्रन्थों की प्रशस्ति, जैनमूर्तियों के पादलेख, जैन मन्दिरों के शिलालेख आदि का अध्ययन किया जावे तो भारतीय इतिहास की यह रिक्तता बहुत कुछ भरी जा सकती है। आवश्यकता है भारत के छोटे छोटे गांवों में जाने और परिश्रमपूर्वक इनकी छान बीन की क्योंकि भारत आज भी गावों में बसता है और इन ग्रामों में अनदेखा ऐतिहासिक महत्व का खजाना भरा पड़ा है।

—सम्पादक

जयपुर के पुराने घाट के पास भामडोली मे वि०स० १२१२ का एक विस्तृत शिलालेख लग रहा है। इस लेख के अतिरिक्त एक प्रशस्ति शिला भी लग रही है। इसमे भी कई जैन साधुओ के नाम हैं। ये लेख अब तक अप्रकाशित है। सामान्यत. यह विश्वास किया जाता है कि जयपुर क्षेत्र मे दिगम्बर जैन धर्म का प्रचलन १५ वी शताब्दी के बाद ही अधिक हुआ था किन्तु इन शिलालेखो के मिल जाने से यह मान्यता समाप्त हो जाती है। दिगम्बर जैन सम्प्रदाय के सेन परम्परा के साधुओ का यहां आना जाना होता रहा था। अर्थूणा के ११६५ वि० के शिलालेख मे छत्रसेन नामक साधु का उल्लेख है किन्तु अब तक इनकी गुरु परम्परा का उल्लेख कही भी नहीं मिलता है।

सेन परम्परा के साधुओ का विस्तार से उल्लेख पट्टावलियो मे उपलब्ध है। प्रस्तुत वि० स० १२१२ के लेख में भट्टारक सागरसेन, छत्रसेन, अंबरसेन आदि साधुओ के नाम है। लेख के पहले २ पादु-

काएं बनी हुई हैं । यह झामडोली के हनुमानजी के मन्दिर के ऊपर स्थित शिव मन्दिर के उत्तरी पूर्वी छबने पर लग रहा है । लेख मे अक्षर २ इच लम्बे हैं और शिला की खराबी के कारण कुछ भाग स्पष्ट नही हो सका है । मदिर पूर्व मध्यकालीन है । स्तम्भो पर घट्टपल्लव का सुन्दर अकन होने से अनुमान किया जाता है कि यह मन्दिर ११ वी शताब्दी के पहले का है । यह शिलालेख मूल रूप से इसी मन्दिर का भाग रहा होगा । इसमे गौष्ठिको के नाम भी हैं । अत यह निश्चित है कि ये लोग इस मन्दिर की व्यवस्था मे सक्रिय भाग लेते रहे होंगे ।

दूसरा लेख भी इसी मन्दिर के सभामण्डप के ऊपर छबने पर लग रहा है । इस लेख मे अमृत सूरि, सयम सेन सूरि, ब्रह्मसेन, योगसेन, निष्कलक और अकलक नामक विद्वानो के नाम है । ये सब सेन परम्परा के है । पहले लेख मे ब्रह्मसेन का नाम प्रथम पक्ति मे पढ़ा जाता है किन्तु अस्पष्ट सा है । इन दोनो लेखो का पारस्परिक क्या सम्बन्ध रहा है स्पष्ट नही है । सभवतः दूसरा लेख बाद का है और १२ वी शताब्दी के उत्तरार्ध का है । इन लेखो पर आशा है कि विद्वान् लोग और प्रकाश डालेंगे—

लेख सं० १

(१) ई० ।। स्वस्ति श्री सवत् १२१२ मार्गसिर वुदि ११ देव श्री चद्रप्रभ चैत्यालये आचार्य श्री भट्टारकः सागरसेन । तस्य शिष्य मय-मडलाचार्य धुर्य ब्रह्म (सेन) VVV

(२) वा श्री छत्रसेनदेव पादार (?) तस्य धर्म्म भ्राता पडित अबरसेन तस्य भ्राता श्री VVVVV सर्व्व सघ सेनाम्नाय प्रणमति नित्य · ·· ·—

(३) ण मेधर । पउप्र खेमधर साचदेव घोलण श्रीधर । समस्त गोष्ठि कारापित ।।

लेख सं० २

(१) ॐ साश्चार्थं प्रतिबिंबिता. शुभतरा जन्मान्तर श्रीक्षणा । भास्वाद्दोर्न्नखदर्प्पणेपु नितरा तारावतारादशा । दिक्पालाश्च तथानता क्रमनखो–

(२) द्यच्चद्र रूपान्तरा । यस्य ध्यानमितो सभवत श्री नाभिभूत प्रभुः ।।१।। रेजे यस्य शरीर दीप्तिरनघा सतप्त हेमोज्व (ज्ज्व) ला । मूर्द्ध स्थे· द्धजटाकल—

(३) प विलसद्ध मद्धि रेखाकिता । कर्म्मारातिरति प्रभो प्रदहतो ध्यानानलार्च्चिर्यथा। देयात्केवल सपद जिनवरो सौयेपि मोनश्वरी ।।२।। अमृत

(४) सेन बुधो जनि सयतो यति समाज जन स्तुत पदु युग ।। अमृतसूरि वचा सुतपोनिधि सकल शास्त्र पयोनिधि पारग ।।३।। वादी सयम सेन सू

(५) रि रजनि क्षेत्राधिपेय सुधी । स्याद्वादामृत वारधिर्गुण निधि श्री ब्रह्मसेनस्तत· । श्री सघावर शीत-गुरुगुणी VV ण योगीग्रणी ।। रोद्वाराति तुरुष्क वंदित पद

(६) श्री योगसेनो गुणी ।।४।। निष्कलकाकलका· ख्यौ सेनातौ विदुषा विदौ । [—] पुष्कर जातीयौ सोदर्यौ विश्रुतौ भुवि ।।५।। पडित निष्कलक सेनस्य कृतिरियम् ।।

वीर प्रभु की सेवा में

(पं० नाथूराम डोंगरीय जैन न्यायतीर्थ, इन्दौर)

(१)

धर्म की लेकर ओट असंख्य,
मूक पशुओं पर जबकि महान,
किया जाता था अत्याचार,
यज्ञ में कर उनका बलिदान।

(२)

ज्ञान रवि कुटिल मनुज का निरख
धर्म का यह कुत्सित व्यवहार–
अस्त हो गया, विश्व मे पूर्ण–
छा गया तम अज्ञान अपार।

(३)

न दिखता था तब सत्पथ देव!
जनों को पाखंडों के बीच।
विश्व का प्रायः जन समुदाय
फंसा था पाप मलिन सर कीच।

(४)

पाप का करने को संहार,
बचाने उन पशुओं की जान,
ज्ञान का करने दिव्य प्रकाश,
विश्व का करने पुनरुत्थान।

(५)

यथा प्राची में प्रातःकाल,
उदित होता है सूर्य ललाम
मातु त्रिसला से तैसे वीर!
प्रकट तुम हुए दिव्यगुणधाम।

(६)

देख दुर्दशा विश्व की वाह!
त्याग कर भूमंडल का राज
ब्रह्म-व्रत धारण किया अखंड,
सजाया आत्मोन्नति का साज।

(७)

अहिंसा का वर लेकर शस्त्र
कवच संयम का पहिन संभार–
सत्य गज पर होकर 'आरूढ
किया पापो से युद्ध अपार।

(८)

मिली तब विजय आपको नाथ!
हुआ पापों का सत्यानाश।
ज्ञान-रवि उदित हुआ, शुद्धातम–
प्रेम का फैला विमल प्रकाश।

(९)

आपने सार्व धर्म की सुखद–
छेड़कर मधुर रसीली तान–
किया था मुग्ध जनों का चित्त
सुना कर विश्व प्रेम का गान।

(१०)

अंत में सज कर परम समाधि
बन गये मुक्ति रमा के कांत–
सर्वथा दोषो से उन्मुक्त
सहज गंभीर सिंधु सम शांत।

(११)

विभो! फिर अखिल विश्व में आह!
स्वार्थवश क्या क्या अत्याचार–
हो रहे दीन जनों पर आज
नहीं है जिनका पारावार।

(१२)

शांति-सुख हुए विलय को प्राप्त
आज जीवन में स्वप्न समान।
दुष्टता का छाया साम्राज्य
सर चढ़ा मानव के शैतान।

(१३)

कर रहा मनुज मनुज पर वार
दीन पशुओ की फिर क्या बात?
अहिंसा - सत्य - शील सर्वत्र
रो रहे धुन मस्तक दिन रात।

(१४)

हो रहा भू पर जो कुछ आज–
देव! क्यों देख रहे बन मौन?
तुम्हारे बिना धर्म की लाज–
बताओ और बचाए कौन?

(१५)

अतः करिये फिर ले अवतार–
पाप पाखंडों का सहार–
हृदय मे अखिल विश्व के प्रेम–
तथा नव जीवन का सचार।

(१६)

मुक्ति से प्रत्यावर्तन किन्तु–
न तव सभव दिखता है आज।
हमें ही दे सुबुद्धि निदान–
बचा लो मानवता की लाज।

महावीर और दयानन्द

—डॉ॰ सुधीर कुमार गुप्त
एम. ए., पी-एच. डी., शास्त्री, प्रभाकर, स्वर्णपदकी
प्रवाचक संस्कृत विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय,
एवं आदरी निदेशक भारती मंदिर अनुसन्धानशाला,
जयपुर

लोक कल्याण की तीव्र भावना को लेकर जितने महापुरुष इस भारत वर्ष में उत्पन्न हुए उतने ससार के किसी भी अन्य भाग में नहीं। इस दृष्टि से भारत वसुधरा बड़ी ही उर्वरा रही है। अपने समय में फैले हुए अनाचारों का प्रतीकार करना इन महापुरुषों का प्रधान लक्ष्य रहा है। भ. महावीर और महर्षि दयानन्द ऐसी ही महान् आत्माओं में से थे। उनका तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है इन पंक्तियों में बहुश्रुत विद्वान लेखक ने जो निश्चय ही पाठकों की ज्ञानवृद्धि करेगा।

—सम्पादक

१. भगवान् कृष्ण ने गीता मे लिखा है कि जब-जब भी जगत् में धर्म का ह्रास और पाप की वृद्धि हो जाती है तो कोई न कोई कर्मठ, शान्त, वीतरागी और तेजस्वी महापुरुष या नेता उत्पन्न हो कर इस भूमि पर धर्म का संस्थापन कर आध्यात्मिक सुख और समृद्धि का मार्ग दिखाता है।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।[१]
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मान सृजाम्यहम् ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय सभवामि युगे युगे ॥ गीता ४.७-८

यद्यपि इस श्लोक मे अवतारवाद की गन्ध अनिवार्य है, तथापि यह वाद सभी धर्मों में किसी न किसी रूप मे मिलता है। ईसाई ईसा को ईश्वर का पुत्र, मुसलमान मुहम्मद को ईश्वर का सन्देश-वाहक, बौद्ध बोधिसत्वो के रूप मे बुद्ध के और जैन भी महावीर को २६ या ३३ भवो वाला मानते हैं। दयानन्द ने[२] उपर्युक्त गीता के श्लोक पर टीका की और माना कि धर्मादि संस्थापन के निमित्त महान्

परोपकारी आत्मा लोक कल्याण के लिए युग-युग में जगत् मे आने की कामना कर सकती है अत. अवतारवाद के औचित्य और अनौचित्य का विचार न कर इतना निर्विवाद रूप से माना जा सकता है कि समय-समय पर देश में जन-कल्याण की भावना से प्रेरित हो कर कुछ व्यक्ति अपने लौकिक सुखों का बलिदान कर, अनेक कष्ट सहन कर, अपने को उन्नत बना और अध्यात्म स्थिति मे स्थित हो कर लोककल्याण के लिए अपने आप को आहुत कर देते है। महावीर और दयानन्द ऐसी ही दो विभूतिया हैं।

२. ये दोनो महापुरुष धार्मिक और सामाजिक सुधारक हुए हैं। दोनो पर अपने-अपने काल की परिस्थितियो का प्रभाव पडा है और तदनुरूप ही इनकी विचारधारा, लक्ष्य, आत्मसाधना और कार्य प्रणाली स्थिर हुए हैं। महावीर के जन्म के समय वैदिक धर्म का घोर पतन हो चुका था। वामाचार का बोलबाला था। वामाचार तन्त्र की एक पद्धति है जिसमे ऐन्द्रियता को प्रतीक मान कर ऊपर उठने का प्रयत्न अपेक्षित है। परन्तु सामान्य जनता न प्रतीक को याद रखती और मानती है, न उसके अज्ञान और स्थूल अर्थ से व्यक्त होने वाले विषम परिणामो को समझती है, उसकी गति स्थूल की ओर होती है। वह सूक्ष्म की ओर से विमुख रहती है। वामाचार का भी यही परिणाम हुआ। अतः महावीर के समय मे यज्ञो मे मास आदि की आहुतिया दी जाने लगी। पशुओ का वध साधारण सी बात हो गई। दया नाम की वस्तु लुप्त हो चुकी थी। वर्ण व्यवस्था जन्मगत हो चुकी थी। गणराज्य भी उसके चगुल से न बच सके। पूजीवादी या साहूकारो ने सम्भवत सामान्य जनता को बहुत सुखी नही रक्खा हुआ था।[3] अन. महावीर ने इन सब के विरुद्ध अपना आन्दोलन चालू कर दिया। आपने अहिंसा और सयम मूलक अध्यात्मवाद, व्यक्तिवाद और समाजवाद आदि का रूप सामने प्रस्तुत कर जनता को सुख का श्वास दिया।

३. दयानन्द के काल मे भी वैदिक धर्म परम हीन दशा को प्राप्त हो चुका था। इस युग मे भी तन्त्रो के वाह्याचार प्रधान, देश मे अनाचार फैलाने वाले तथा हिंसाप्रधान सम्प्रदाय प्रचलित थे। धर्म-प्रधान दार्शनिक विचार जडवाद की ओर ले जा रहे थे। देवतावाद ईसाइयो के कटाक्षो, आक्षेपो और आक्रमणो को सहने मे असमर्थ था। हिन्दुओ की छूआछूत और नारियो का तिरस्कार इस समाज को जर्जरित कर रहे थे। शकर का मायावादी वेदान्त देशवासियो के पौरुष और कर्मण्यता को मायात्मक कर चुका था। पौरुष और अपौरुष, कर्मण्यता और अकर्मण्यता, वीरता और कायरता तथा ज्ञान और अज्ञान की अद्वैत भावना या तादात्म्य बहुत दूर तक पहुँच चुका था। जैनधर्म का द्वैतवाद इस तादात्म्य की बाढ के सामने निश्चेष्ट-सा, अकर्मण्य-सा, किकर्तव्यमूढ-सा और विफल-सा सिद्ध हो चुका था। यहा भी सयम और सदाचार की स्थिति बहुत उन्नत न थी। इनकी अहिंसा तान्त्रिको की हिंसा से टक्कर न ले सकी। जैन देवियो आदि के रूप मे इन पर भी तन्त्र ने अपना प्रभाव जमा लिया था। दयानन्द ने इस स्थिति का अवलोकन, अध्ययन और विश्लेषण किया और अपना मार्ग स्थिर किया। उन्होने जैनो के अहिंसावाद को अकर्मठ से क्रियाशील बना दिया। शत्रु को यावच्छक्य सहन करो, परन्तु अपने पर वश न पाने दो। उन्होने राष्ट्र के शत्रु का उच्छेद कर देश मे चक्रवर्ती राज्य की स्थापना का लक्ष्य निर्धारित किया। उनकी अहिंसा हिसा से भिन्न परन्तु हिंसा के सदृश कर्म थी। वस्तुत. अहिंसा में हिंसा निहित ही है। किसी आततायी को सरक्षण देना उसके हिंसा कर्म को बढाना है। बिच्छू या सर्प को जीवित छोड देना किसी के लिए दुःख या प्राणों का सशय उत्पन्न कर

सकता है। जैसे जाना क्रिया मे ग्राना भी है, मिलाना क्रिया मे ग्रलग करना क्रिया भी निहित है, योग मे वियोग है, केन्द्रीभूत प्रेम मे उपेक्षा या घृणा के बीज विद्यमान है, राग मे द्वेष है, उसी प्रकार हिंसा और अहिंसा का भी अविनाभाव सम्बन्ध है, केवल उनकी मात्रा और प्राधान्य से एक का अस्तित्व और दूसरे का तिरोभाव लक्षित होता है। अत. दयानन्द ने अपनी-अपनी सीमाओ मे दोनो के प्रयोग का सन्देश दे कर हिन्दू जाति मे नव जागृति उत्पन्न की। अहिंसा को अप्राण से सप्राण बना दिया।[४] साथ ही हिन्दुओ के विभिन्न सम्प्रदायो की धर्म के नाम पर की जाने वाली हिंसाओ का उग्र खण्डन किया और उन को उच्छिन्न प्रायः कर दिया। आज उस काल की सी हिंसाए विरल है।

४. महावीर स्वामी ने अहिंसा प्रधान द्वैतवादी अपने मत को प्राचीन आचार्यों की शिक्षाओ से अनुप्राणित बताया और अपने से पूर्व के आचार्यों या तीर्थङ्करो का प्रमाण दिया। इनमे से कुछ के नाम वैदिक साहित्य मे उपलब्ध बताए जाते है। इसके फलस्वरूप जैनो मे दो प्रवृत्तिया कालान्तर मे पनपी–२ जैन धर्म वैदिक धर्म से भिन्न है २. जैन मत वैदिक धर्म से प्राचीनतर है। इन दोनो भावनाओ के कारण जैनो और हिन्दुओ मे चिरकाल तक विरोध, सघर्ष और हिंसावृत्ति चलती रही। यदा-कदा आज भी इस प्रवृत्ति की कही-कही झलक मिल जाती है। दयानन्द ने जैनो की इन दोनो ही बातो को नही माना। उनके मत मे वैदिक धर्म ही ससार मे प्राचीनतम और आदिभूत है। ससार के सब धर्म उससे ही विकसित हुए है और उस का विकार हैं। दयानन्द ने बौद्ध और जैनो मे अभेद भी माना और इस प्रकार दोनो को अवरकालीन माना। पारसी, ईसाई और इस्लाम धर्म भी देश काल जन्य विकारों से ओतप्रोत वैदिक धर्म ही हैं। इस मान्यता के फलस्वरूप दयानन्द ने वैदिक धर्म के पुनरुद्धार का उद्घोष किया, वेद को परम और अन्तिम प्रमाण माना और उनके अपनी दृष्टि से निरुक्त आदि से अनुप्राणित प्राचीन शैली से अनुगत भाष्य प्रस्तुत कर उनमे अपनी मान्यताओ की सत्ता खोजी या प्रतिबिम्बित देखी।

५. महावीरजी का अध्यात्मवाद सयमप्रधान है। जैन मत मे ईश्वर और जीव मे तात्त्विक भेद नही है। डा. नरेन्द्र भानवत ने लिखा है कि "महावीर ने ईश्वर को इतना व्यापक बना दिया कि कोई भी आत्म-साधक ईश्वर को प्राप्त ही नही करे वरन् स्वय ही ईश्वर बन जाए।" ··· ··· साधक भी वही है और साध्य भी वही है। ज्यो-ज्यो साधक तप, संयम अहिंसा को आत्मसात् करता जायगा त्यो-त्यो वह साध्य के रूप मे परिवर्तित होता जायगा।······· वह तो स्वय मे स्वतन्त्र, मुक्त, निर्लेप और निर्विकार है।"[५] केवल ज्ञानी ईश्वर ही है। प्रत्येक व्यक्ति इस पद को प्राप्त कर ईश्वर बन सकता है। यह ईश्वरत्व एक जीव आत्मा मे स्थिति विशेष ही है, और अन्यो के सर्व-व्यापक और एक ईश्वर के भाव से भिन्न है इस लिए यहा अनेको ईश्वर होते है। प्रत्येक जिन ईश्वर है। इस प्रकार यहा जीव और ईश्वर मे अभेद या तादात्म्य है। कर्म के बन्धन के कारण ही अपने मूल और चरम रूप मे अनन्त चेतना, अनन्त ज्ञान, अनन्त शक्ति और अनन्त शान्ति से युक्त चरम और सनातन सत्ता तथा शाश्वत तत्त्व आत्मा इस ससार मे शरीर, मन और इन्द्रियो के बन्धन मे पड सीमित शक्ति, ज्ञान और शान्ति वाली हो जाती है।[६]

६. दयानन्द ने जैनो के आत्माओ के इस अद्वैत को द्वैत में बदल दिया और जीव से भिन्न परमशक्ति सम्पन्न, ज्ञान के एक मात्र स्रोत, आनन्दमय, सृष्टि के कर्त्ता, धर्त्ता और संहर्ता, अनन्त, शाश्वत, सनातन, अनादि और सदा एक रूप, बन्धन आदि से रहित, माया और कर्म फलो से अपरामृष्ट परमेश्वर का प्रतिपादन किया जिस को ज्ञान, सयम और सदा-

चार के द्वारा जाना और अनुभव किया जा सकता है, परन्तु उसके साथ तादात्म्य या एकरूपता सभव नहीं। दयानन्द के मत में मुक्त आत्मा सदा सर्वदा के लिए आवागमन से नही छूटती है। महा कल्प पर्यन्त मोक्ष का सुख प्राप्त कर वह फिर इस लोक मे जन्म लेती है।[७] यह अनन्तता की परिधि मे बाष्पित नही होती है। इस कारण जीवात्मा को सतत अपने और दूसरो के हितचिन्तन और हित-साधन में लगे रहना आवश्यक है। शकर के अद्वैत का जो प्रभाव भारतीय जनमानस पर हुआ उसी के सदृश जैन आत्माद्वैत का प्रभाव रहा। शकर और जैनो के मत मे बन्धन के कारण और सख्या ही भिन्न है, अन्यथा लक्ष्य या भावना दोनो मे समान है। दयानन्द ने अपनी इस शिक्षा से इस प्रभाव को उच्छिन्न करने का भरसक प्रयास किया और कुछ सीमित सफलता प्राप्त भी की। जैसे महावीर ने आत्मशुद्धि पर बल दिया है, दयानन्द ने भी आत्म-शुद्धि को चरम महत्त्व दिया है। परन्तु दयानन्द आत्मशुद्धि के उपायो मे मध्यमवादी ही कहे जा सकते हैं और महावीर उग्रवादी। दयानन्द ने जैनो के समान घोर उपवास, वस्तु त्याग और निवृत्ति पर बल नही दिया है, वे प्रवृत्ति और निवृत्ति, भोग और त्याग मे सन्तुलन की शिक्षा देते है। सन्यास धर्म का तो वे एक प्रकार से निषेध-सा करते है, क्योकि उनकी कसौटी पर खरे उतरने वाले जितेन्द्रिय और संयमी सन्यास के अधिकारी जन विरले ही मिल सकते है। तथापि दयानन्द व्यष्टि को समष्टि से तादात्म्य करने पर बल देते है और समाज के कल्याण मे रत न रहने वाले के जीवन को हेय और निरर्थक मानते हैं। उनका व्यक्तिवाद व्यक्तिप्रधान न होकर समष्टि के अधीन उसकी कीली के चारो ओर घूमने वाला है।

६. महावीर और दयानन्द दोनो ने ही त्याग और अपरिग्रह की शिक्षा दी और समाज के आसक्ति और परिग्रह प्रधान आर्थिक ढाचे को बदलने का प्रयास किया। दोनो के प्रयासो के फलस्वरूप दोनो के अनुयायियो ने विशाल धार्मिक भवन तो बनाए परन्तु अर्थलिप्सा और आसक्ति का त्याग नही किया। उत्तरोत्तर यह लिप्सा और आसक्ति बढ़ती ही गई और बढती जा रही है। फलतः अनेको सस्था, धर्म और व्यक्तियो से सम्बद्ध आर्थिक झगड़े देखने को मिलते हैं। साम्यवाद और समाजवाद का मूल भी त्याग है जिसे समवितरण अथवा समुचित वितरण का नाम दिया गया है। इस त्याग को मानव स्वय स्वेच्छा से करे, यह धर्म और धार्मिक नेता कहते है, और शक्ति और दण्डे तथा राज्य-व्यवस्था से सम्पन्न किया या कराया जाए यह साम्यवादी और समाजवादी कहते है। धार्मिको की धारा सतत, शाश्वत और अविच्छिन्न वाहिनी है, फल चाहे जितना धीमा और सीमित हो। साम्यवाद और समाजवाद की धारा कालविशेष की परिधि मे ही प्रवाहित रहने वाली है। शक्ति का ह्रास या कल्पना बदलते ही इस की इतिश्री हो जाती है—हो जानी अवश्यम्भावी और स्वाभाविक है। नश्वर सत्ता और क्षीयमाण शक्ति के बल पर न कोई व्यवस्था भूत मे स्थायी रही है और न भविष्य मे रह सकती है। अत. महावीर और दयानन्द के अपरिग्रह और त्याग की शिक्षाए ही मानव का शाश्वत त्राण कही जा सकती है। इन्हीसे वित्तैषणा, लोकैषणा और पुत्रैषणा मर्यादित हो सकती है।

८ हिन्दू समाज मे वर्णव्यवस्था एक ऐसी कीली है जिसकी बहुत ऊहापोह की गई है। इसे जितना ही उखाडने का प्रयास किया गया है यह उतनी ही दृढ़ होती गई है। यद्यपि आज बड़े-बड़े नेता और शिक्षाशास्त्री जातिभावना की मुक्तकण्ठ बुराई करते है, उसको तोडने का उद्घोष करते है और अपने को उस से ऊपर उठा हुआ समदर्शी घोषित करते है, परन्तु वे अपनी जाति मे इतने ही

लिप्त हैं जितना गोबर का कीडा गोबर मे लिप्त रहता है। उन्होंने जातिवाद को बढाया है और जमाया है। उनमे और उनके जातिवाद में अविनाभाव या समवाय सम्बन्ध सा स्थापित हो गया है और वे इसकी परिधि से ऊपर उठने मे महाक्षयरोग से पीडित रोगी के समान सर्वथा असमर्थ से मालूम पडते हैं। इसी लिए स्वतन्त्र भारत मे न केवल पुराना जातिवाद कुछ अल्प से परिवर्तनो से बढ़ा है। प्रत्युत नई जातिया भी पैदा हुई है।

९. महावीर और दयानन्द दोनो ने ही इस पक्ष पर ध्यान दिया है। "महावीर ने बड़ी दृढ़ता और निश्चितता के साथ शूद्रो और नारी जाति को अपने धर्म मे दीक्षित किया और यह घोषणा की कि जन्म से कोई ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रादि नही होता, कर्म से'ही सब होता है।"[८] दयानन्द ने नया मत या धर्म प्रवृत्त नही किया था, इस लिए उसको किसी को अपने मत या धर्म मे दीक्षित करने का प्रसग उपस्थित नही हुआ। उसने सभी हिन्दू सम्प्रदायो के अनुयायियो को जातिवाद के मूलभाव—गुण कर्म और स्वभाव के आधार पर जाति के निर्णय का स्मरण दिलाया, सब जातियो मे समानता का भाव प्रतिपादित किया और उच्च-नीच भाव को हेय बताया। उन्होने जाति परिवर्तन का क्रियात्मक रूप भी प्रस्तुत किया। उनकी स्थापित आर्यसमाज ने जातपात तोडक मण्डल आदि की स्थापना की, अन्तर्जातीय विवाह सम्बन्ध कराए, कुछ व्यक्तियो के वर्णों मे भेद भी किया या माना, परन्तु इस दिशा मे सीमित उदार मानसिक चिन्तन के अतिरिक्त कोई असाधारण सफलता दोनो ही आचार्यों महावीर और दयानन्द को नहीं मिली। जैन समाज भी जातिवाद की सकीर्णता मे जकड़ा हुआ है।

१०. महावीर स्वामी के युग मे देश मे स्वतन्त्र राज्य थे, पराधीनता की सत्ता नहीं थी। अतः उन को इस दृष्टि से कुछ कहने की आवश्यकता नही पडी। दयानन्द के युग मे देश पराधीन था। अतः उन्होने इस दिशा में भी वैदिक विचारों को प्रस्तुत किया। राष्ट्र के निर्माण, सुरक्षा, समृद्धि और विस्तार आदि का आह्वान वेदमन्त्रो के भाष्यों और व्याख्यानो आदि मे किया, देशी राजाओ मे स्वतन्त्रता और देश प्रेम का बीज बोया, सब को स्वदेशी और स्वराज्य का लक्ष्य प्रदान किया, मनु आदि के आधार पर राज्य-व्यवस्था का चित्र प्रस्तुत किया तथा प्राचीन इतिहास की झाकी द्वारा भारतीय जनमानस को आत्मगौरव प्रदान किया। दयानन्द ने अपनी राजनीति को धर्म से अनुप्राणित किया, महावीर ने भी अपने काल के शासकों को धर्माचरण का उपदेश दिया और अपना अनुयायी बनाया। उनके जीवन काल के बाद भी अनेको जैन शासक इस देश मे हुए है।

११. वस्तुत. महावीर और दयानन्द दोनो युग निर्माता महापुरुष हुए हैं। दोनो की देश और जाति को महान् और स्थायी देन है। दोनो की मूल शिक्षाए परोपकार प्रधान अपनी-अपनी परिधि मे समष्टि की ओर उन्मुख अध्यात्म से अनुप्राणित व्यक्तिवाद से ओतप्रोत हैं। जिसने आत्मकल्याण कर लोककल्याण नही किया, उसका इस ससार मे आना ही व्यर्थ है। भर्तृहरि ने ठीक ही कहा है—

"स जातो येन जातेन याति वशः समुन्नतिम्।
परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते ॥"

जो अपने मित्र का कल्याण नही करता, वह मित्र मित्र ही नही है—

'न स सखा यो न ददाति सख्ये
सचाभुवे सचमानाय पित्वः ॥' (ऋग्वेद १०।११७।४)

●

(१) अहम् मे अ, ह और म् का योग है। अ के ब्रह्मा, विष्णु, ईश, सुख, अनिल, अनल, सूर्य,

प्राण, यम, काल, सुखी, रण; ज्ञान और भूमि आदि, ह के हरि, हस, शकर भासुर, रण और म् के शभु, धातु, शिर्, बन्धन, सोम आदि अर्थ कोषो मे पाए जाते है। इन तीनो के मेल से बना यह पद ऊपर मूल मे दिए गए भावो का व्यञ्जक है। यह सज्ञा पद है, सर्वनाम नही है। इस के साथ उत्तम पुरुष की क्रिया का प्रयोग शैलीमात्र है। वेदलावण्यम् ५४।१ मे अहम् पर लेख भी देखें।

(२) सत्यार्थ प्रकाश, कलकत्ता, १९८१ वि., पृ० १२३, कालम १

(३) आर्थिक दुःखमय स्थितियो के विरुद्ध विभिन्न समयो पर विभिन्न प्रकार के विद्रोह हुए है। १८७५ ई. मे महाराष्ट्र मे साहूकारो के विरुद्ध विद्रोह सशस्त्र था और १९७१ में इन्दिरा के दल को प्राप्त बहुमत मे भी इस आर्थिक विद्रोह की स्पष्ट झाकी है।

(४) जैन मत भी श्रावको के लिए सप्राण अहिंसा का विधायक है। देखो अहिंसा तत्त्व दर्शन, मुनि नथमल, [१९६०] पृ० २३; ३७; ४०, ८०-८१।

(५) महावीर जयन्ती स्मारिका १९७०, पृ० २०

(६) स. क. गुप्त, भारतीय दर्शन के सम्प्रदाय, ४.१७, पृ० २३

(७) देखो सत्यार्थ प्रकाश, कलकत्ता [१९८९ वि.], पृ० १५६-१५७

(८) महावीर जयन्ती स्मारिका, पृ० २१, कालम १

महावीर वाणी

शरीर को नाव कहा है, जीवों को नाविक कहा है और ससार को समुद्र बतलाया है। इसी संसार समुद्र को महर्षि जन पार करते है।

—श्री सीवनकर

वीर वैराग्य

(लेखक—श्री घासीराम जैन 'चंद्र', शिवपुरी)

वन परवत सरवर सरिता तट,
गिरि गुह कंदर की अवली।
पाटल पुंज पलास कुंज प्रिय,
पीत प्रियंगु पुनीत कली।
केहरि अरु गजराज शासक,
साभर मृग गण की केलि थली।
पावन मन भावन मलयानिल,
मंद मनोग्य वयार चली॥
निर्भय हुवे मूंक पशु जग के,
टूट गई बलिकी फांसी,
शांति सुधा के घन बरसे जब,
मोद मनाते बनवासी।
चले ज्ञान रथ मिले सुकृतपथ,
दरशायो पथ अविनाशी।
तीस बरस की अरुण तरुण वय
बने वीर जब संन्यासी॥१

कनक रतन मणि राज मुकुट पर,
मन मानस ना ललचाया।
बल वैभव सम्पति सुख साधन—
पर कुछ मोह नही आया।
यौवन क्षणिक क्षणिक जीवन है,
क्षणिक अथिर काया माया।
केवल पथ केवल सुखदायक,
मुक्ति पथ मन में भाया॥
शुद्ध भाव निर्भय निश्चल तन
अविकल अतुलित गुण रासी,
पदवंदल सुरराज लोक पति
गुण गरिमा के अभिलाषी।
क्या मथुरा द्वारिका अयोध्या,
निर्जन बन जिनको काशी।
तीस बरस की तरुण अरुणवय
बने वीर जब संन्यासी॥२

चूर हुवे मन्मथ के दुर्गम-दुर्ग—
शील के बाणो से ।
गूंज उठा—आकाश क्षमा के—
शाति सुधामय गानो से ।
अनेकांत रस की वरषा हो उठी—
पुनीत प्रमाणो से ।
विश्व सुसज्जित हुवा—
अहिंसा धर्म ध्वजा परिधानो से ।
युग युग अमर हो गई वाणी
जो जिन सन्मति ने भाषी ।
ऋणी रहेंगे प्राणिमात्र प्रभु—
कीर्ति रहे बनकर दासी ।
दूर हुवे भ्रम भाव भूल भय
सुखी बने भव के वासी ।
तीस बरस की अरुण तरुण वय
बने वीर जब संन्यासी ।।३

भगवान महावीर युगीन राजतंत्र और शासन

—डॉ० पवन कुमार जैन
एम. ए. पी-एच डी.,
१८, राजपुताना, रुडकी

भगवान् महावीर के काल के संबध में अति प्राचीनकाल से विवाद चला आ रहा है। तिलोयपण्णति में भी इस सबधी उल्लेख मिलते हैं। यद्यपि वर्तमान में जो महावीर जन्म का २५६९वां वर्ष माना जाता है वह प्राय: सर्व सम्मत है किन्तु अधिकाश ऐतिहासिक विद्वान् इससे सहमत न होकर इस काल को इससे भी पूर्व २००० वर्ष के लगभग तक खैंच ले जाते हैं। भडौंच के पास प्राप्त गुफाओं ने इस प्रश्न पर गम्भीरता से पुनर्विचार करने को और भी आवश्यक कर दिया है। भगवान् महावीर के उपासक होने के नाते हम जैनों का इस दृष्टि से खोज करने का नैतिक दायित्व है।

—सम्पादक

मतदान केन्द्रों को बम से उडाने का नकसली षड्यंत्र, चुनाव दंगों मे ३ मरे ५० घायल, चुनाव अधिकारी को कमरे मे बन्द कर दिया, दिलीपकुमार की कार पर पथराव, प. बंगाल में दो उम्मीदवारों की हत्या का विफल प्रयास। आज का समाचार पत्र इस प्रकार के समाचारो से भरा था। जैसे-जैसे चुनाव का समय निकट आता जा रहा था, इस प्रकार के शीर्षकों की सख्या बढ़ती ही जा रही थी। मन उद्दीप्त हो उठा। समाचार पत्र उठाकर एक ओर रख दिया। सिर कुर्सी के सहारे टिका कर, मैं आंखें बन्द कर सोचने लगा हमारे देश की राजनीति मे यह कैसा विष भरता जा रहा है? यह राजनीति के मखमली आवरण मे लिपटी गुंडागर्दी नहीं है तो, क्या है? प्रश्न चिन्हो से मस्तिष्क भरता जा रहा था। मैं स्वयं से प्रश्न करता और स्वयं ही उत्तर देता। किन्तु एक का भी ठीक उत्तर नही दे पा रहा था। कवि दिनकर की ये पंक्तियां स्मृति पट पर उभरने लगी:-

'देवी ! दुखद है वर्तमान की
यह असीम पीड़ा सहना,
कहीं सुखद इससे सस्मृति मे
है अतीत में रत रहना।'

इन पंक्तियों ने मुझे पलायनवादी बना दिया। और मेरा अनजाना मन स्मृति पखो पर चढ भारत के अतीत की रग-भूमि मे उड चला।

वियोगी हरि ने भगवान् महावीर को उपनिषद काल का माना है। प्रभुदयाल मित्तल के अनुसार वैदिक साहित्य में यक्षो के लिए 'ब्रह्म' शब्द का प्रयोग मिलता है। परवर्ती साहित्य मे उन्हे 'वीर' कहा गया है। दीपावली का पूजन मूलत. यक्षो की जन्म रात्रि के उत्सव के रूप मे आरम्भ हुआ था, किन्तु कालातर मे उसके साथ और भी कई परम्पराए तथा मान्यताए जुड़ती गई है।[२] मित्तल जी ने इसी स्थान पर लिखा है-"जैन धर्म के अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर के सम्बन्ध मे डा. वासुदेव शरणजी का मत है वे भी मूल रूप मे यक्ष ही थे। 'वीर' के रूप मे उनकी पिंडि का पूजन पूर्वी जिलो मे अभी तक होता है दीपावली ही महावीर का जन्म है।[3] किन्तु एक अन्य विद्वान का मत है कि जैन धर्मावलबियो मे प्राचीनकाल से ही दीपावली का उत्सव मनाया जाता रहा है। इस धर्म के प्रतिष्ठापक महावीर स्वामी का निर्वाण कार्तिकी अमावस को हुआ था। कल्प सूत्र मे लिखा है, महावीर का महाप्रयाण होने पर जब लिच्छिवि, मल्ल आदि १८ राज प्रमुख उनके प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करने को एकत्र हुए, तब उन्होने अनुभव किया कि ज्ञान का प्रकाश तो गया। अत. दीपको के भौतिक प्रकाश से ही भविष्य मे इस दिन की स्मृति को कायम रखा जाय। तभी से कार्तिकी अमावस को दीपावली के रूप मे मनाया जाने लगा।[४] इस सम्बन्ध मे मजूमदार का मत है-

"The event is said to have happened 215 Years before the Mauryas and 470 years before Vikrama. This is usually taken to refer to 528 B.C. But 468 B. C is preferred by some modern scholars who rely on a tradition recorded by the Jaina monk Hemachandra the interval betwe n Mahavir's death and the accession of Chandragupta Maurya was 155, and not 215 years [५]

सत्य भूतकाल के काले आवरण मे लिपटा हुआ है। किन्तु आज के युग मे समस्त भारत भगवान महावीर का जन्म चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को और निर्वाण कार्तिक बदी अमावस्या को मानता है। अत. महावीर का जन्म ईसा के ५६६ वर्ष पूर्व तथा आज से २५६६ वर्ष पहले हुआ था। मोक्ष ७० वर्ष की अवस्था मे हुआ।

भगवान महावीर की इस काल सीमा को स्वीकार करने पर स्पष्ट है कि बुद्ध, पाणिनि और नन्द आदि महावीर युगीन है। भगवान महावीर और बुद्ध को समकालीन मानते हुए वियोगी हरि ने लिखा है-'बुद्ध महावीर के समकालीन थे। सिंहली परम्परा के अनुसार बुद्ध का जन्म ई ५६२५ मे हुआ और निर्वाण ई ५५४४ ई. मे। दोनो का विहार क्षेत्र भी प्राय एक ही था। राजगृह और वैशाली दोनो के ही प्रमुख केन्द्र थे। अनुयायियो मे परस्पर छीटा कशी भी चलती रहती थी। किन्तु ऐसे निर्देश नही मिलते जहा स्वय महावीर ने बुद्ध के विरुद्ध या स्वय बुद्ध ने महावीर के विरुद्ध कुछ कहा हो।[६] जैसा कि आज के युग मे राजनैतिक स्वार्थों की सिद्धि के लिये नेतागण एक दूसरे के सम्मान की होली, आधारहीन तथ्यो के आधार पर जलाने हैं। प जवाहरलाल नेहरू,[७] तथा आचार्य बलदेव उपाध्याय ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है।

किन्तु ७ अक्तूबर सन् १९६६ को टाइम्स आफ इण्डिया तथा ८ अक्तूबर १९६६ के नवभारत

टाइम्स के तीसरे पृष्ठ पर प्रकाशित विचार प्रवाह स्तम्भ मे ईसा से लगभग २००० वर्ष पूर्व की सात बुद्ध गुफाओ की उपलब्धि का समाचार प्रकाशित हुआ था। इसकी पुष्टि देश के अन्य समाचार पत्रो ने भी की थी। इससे सिद्ध होता है कि बुद्ध ईसा पूर्व लगभग २००० वर्ष पूर्व जीवित थे। ये गुफाए भडोच जिले के भगडिय तालुका मे भाजीपुर गाव के पास कडिया पहाडियो मे प्राप्त हुई हैं। श्री पी. एन. ओक के अनुसार गौतम बुद्ध का जन्म ईसा से लगभग उन्नीस सौ साल पूर्व लिच्छवि शाखा (लक्ष्मण वश) मे हुआ था।

श्री पी. एम. ओक की मान्यता है कि भगवान बुद्ध के समय के काल-निर्धारण मे १३०० वर्षों से अधिक का अन्तर है।[८] इसके कारण पर प्रकाश डालते हुए उन्होने लिखा है।[९] भारत लगभग १५० वर्षों नक अग्रेजो के शासनाधीन रहने और समस्त भारतीय शिक्षा सम्बन्धी ढाचा उनके द्वारा आच्छा-दित रहने के कारण उनकी मान्य तिथियां ही भारतीय इतिहास मे जिस-तिस प्रकार समाविष्ट होती गयी।[१०] बुद्ध के काल निर्धारण मे भी विदेशी इतिहासकारो ने पुराणो एव सामुद्रिक-तिथियो की उपेक्षा की और समकालीन यूनानी इतिहासकारो को अधिक विश्वस्त साधन मान कर सिकन्दर के आक्रमण को केन्द्र माना और बुद्ध के काल का निर्धारण कर दिया।

भारतीय पुराणो को ढोग की संज्ञा देना या ऐसा समझते हुए एथेन्स, कैण्डी, लदन या टोक्यो से प्राचीन भारतीय ऐतिहासिक कालक्रम को निश्चित करने का यत्न करना, अधिक से अधिक भारतीय इतिहास के प्रति भेगापन ही कहा जा सकता है।[११]

भगवान गौतम बुद्ध के काल निर्धारण मे विद्वानों में मतभेद हो सकता है तथा यही स्थिति भगवान महावीर के सम्बन्ध में भी हो सकती है किंतु यह तथ्य प्राय. निर्विवाद है कि भगवान महावीर और बुद्ध समकालीन थे। श्री पाठक ने ५परिणति को सातवीं शती ई. पू. के अन्तिम चरण में महावीर के जन्म से कुछ ही पूर्व रखा है।[१२]

प्राय. विद्वानो का मत है कि जैन ग्रन्थो का उद्देश्य धर्म-निरूपण रहा है। राजनैतिक घटनाओ का वर्णन करना नही।[१३] इस प्रकार की धारणाओ के कारण बहुत से महत्वपूर्ण तथ्यो की उपेक्षा हो गई है। महावीर युगीन बिम्बिसार और अजात शत्रु को जैन ग्रन्थो मे जैन धर्म का अनुयायी माना गया है। माता त्रिशला उस लिच्छवि 'राजा' चेटक की भगिनी थी जिसकी कन्या चेल्लना राजा बिम्बिसार की रानी थी। इतना होने पर भी जयशकर प्रसाद जी ने अपने नाटक 'अजातशत्रु' में भगवान महावीर या जैन धर्म का कही उल्लेख नहीं किया।

भगवान महावीर और उनके समकालीन महापुरुषों से सम्बन्धित साहित्य पर दृष्टि डालने से ज्ञात होता है कि इस युग का राजतत्र एव शासन बडा सुदृढ़ तथा वैज्ञानिक था।

एक राज प्रणाली–

भोज्य ब्राह्मण की एक शासन पद्धति थी जिसमे गणराज्य की स्थापना मान्य थी। और वैदिक युग मे गणतन्त्र तथा राज्यतन्त्र दोनो प्रकार के शासन विधान के दृष्टान्त मिलते है।[१४]

पाणिनि के अनुसार इस युग मे भी दो प्रकार के शासन तत्र प्रचलित थे राज्य तन्त्र और सघ तत्र। राजा जिस तत्र मे अधिपति होता था उसे राज्य तंत्र तथा दूसरे को सघ तत्र कहा जाता था। तीन प्रकार की परिषद् होती थी। सामाजिक परिषद , चरणो के अन्तर्गत विद्या सम्बन्धी परिषद् तथा राजनैतिक मंत्रिपरिषद्। परिषद् का सदस्य परिषद् या परिषध कहलाता था। राजनीति से

सम्बन्धित परिषद् मन्त्रिपरिषद् होती थी। जो राजा इसके साथ मिलकर शासन चलाता था उसे परिषद्वलो राजा जैसे सम्मानित शब्दो से पुकारा था। महावीर कालीन जैन साहित्य मे इस प्रकार की परिषद् का उल्लेख प्राप्त होता है।

कोई भी राजा परिषद्वल कहलाने का अधिकारी तभी तक होता था जब तक वह परिषद् के मुख्यमन्त्री के साथ अपनी सधि का पालन करता था। पालन न करने पर परिषद् उसे पदच्युत कर सकती थी। इससे स्पष्ट है कि मन्त्रि परिषद् राजा की निरकुश इच्छा का खिलवाड़ नही थी। राजा शपथ ग्रहण करता था-'जिस रात्रि को मेरा जन्म हुआ है, और जिस रात्रि को मेरी मृत्यु होगी, उन दोनो के बीच मे मेरी सतति, धन, आयुष्य और यश है वह सब नष्ट हो जाए यदि मैं प्रजाओ से द्रोह करू।' वास्तव मे यह शपथ ही इस युग मे सविधान की कुजी थी। इस युग मे कही-कही मुख्यमन्त्री के लिये ब्राह्मण शब्द का भी प्रयोग हुआ है क्योकि इस युग की परम्परा थी कि त्यागी विद्वान् तथा राजाशास्त्रवेत्ता ही मुख्यमन्त्री होता था तथा उसकी पदवी ब्राह्मण होती थी। महावीर युग मे राजा के नाम के साथ उसके महामत्री के नाम का उल्लेख होता था। यह इस युग की विशिष्ट प्रथा थी।

मन्त्रिपरिषद् के अतिरिक्त एक बडी सभा होती थी जिसे राजसभा कहा जाता था। अनुश्रुति परिचलित है कि बिन्दुसार की राजसभा मे पाच सौ सदस्य थे। डा वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार राजसभा के दो अर्थ थे, एक सभासदो का समूह और दूसरे वह भवन जहा सभा होती थी। वैदिक कालीन सभा खम्भो के आधार पर टिकी होती थी। महावीर युगीन सभा भवन भी खम्भो पर आधारित थे।

मन्त्रणा आरभ करने के लिये सदस्यो की एक निश्चित सख्या आवश्यक थी परन्तु इस कोरम मे विजयधर (प्रधान) की ठाणना नही होती थी। ज्ञाप्ति की स्थापना के साथ सभा प्रारम्भ होती थी। ज्ञाप्ति (प्रस्ताव) सम्बन्धी वार्ता ही वहा हो सकती थी। प्रस्ताव के एक पाठ और कभी-कभी तीन पाठ होते थे। प्रस्ताव पर सदस्यो का मौन स्वीकृति समझी जाती थी। विरोध होने पर शलाकाओ (ये लकडी की बनी होती थी) द्वारा वोटिंग होता था।

सभ्य, पुरोहित, महिषी, युवराज, राजकुमार, राजकुल के प्रतीहारी तथा परिचारक, अगरक्षक, दोवारिक, स्वागतिक अधिकारी, सौखशय्यिक तथा राजापुइवा आदि राजतत्र के अन्य महत्वपूर्ण कल-पुर्जे थे। पाणिनि के अनुसार इस युग मे अगरक्षक का दायित्व तथा सम्मानित पद राजकुमारो को सौपा जाता था। सौखशय्यिक का कार्य राजा के लिये सुखशय्या बनाना था। बौद्ध साहित्य मे चार प्रकार की शय्याओ का उल्लेख मिलता है। बुद्ध ने चौथी शय्या तथागत को रागद्वेष रहित होने के कारण सच्ची सुखशय्या माना था। यही स्थिति जैन साहित्य मे है।

आलोच्य काल मे राजाओ का पारस्परिक सघर्ष उतना ही तीव्र था जितना कि राजाधीन और गणाधीन जनपदो का। जहा उपनिषदो मे और जातको मे काशी एक बलवान स्वतन्त्रराज्य के रूप मे हमारे सामने आती है, महावीर के समय मे वह कौशल के साम्राज्य का एक अग बन चुकी थी। ऐसे ही बिम्बिसार के समय मे मगध ने अग जनपद को बलपूर्वक आत्मसात् कर दिया। शाक्यगण कौशल की अधीनता स्वीकार करता था तब भी विडूडभ ने उस पर साघातिक आक्रमण किया और अजातशत्रु ने लिच्छवियो से संग्राम ठाना।[१६]

शासन—

शासन का सबसे महत्वपूर्ण अधिकारी अध्यक्ष होता था। खेत्तरक्खक का कार्य जौ और धान के

खेतो की रक्षा करना था। खेतो की नाप जोख करने वाले अधिकारी क्षेत्रकर कहलाते थे। मापने की रस्सी मे दो खूटिया होती थी। रज्जुग्राहक अपने सिरे की खू टी गाड देता था तथा दूसरा सिरा खेत का स्वामी पकड कर यथा स्थान गाड़ता था। इस प्रकार नाप होती थी।

लोक मे जो बहुत तरह के लाभभाग थे, उनका समर्थन किसी राजा से नही, बल्कि रिवाज के कारण होता था। किसी माल पर कितनी चु गी लेंगे यह भी पुराने बन्धेज की बात थी। हाट बाजार लगाने के लिये दुकानो पर कितनी वसूली की जाय इत्यादि शौल्कशालिक और आपरिणक के रूप मे उगाही की जाती थी। उन सब के मूल मे आचार या रिवाज को ही प्रधानता दी जाती थी। इसी प्रकार समाज मे भिन्न-भिन्न स्तरो पर कार्य करने वाले लोगो को कितना परिश्रमिक दिया जाय, अथवा महिषी प्रजावती पुरोहित आदि राज्य के विशिष्ट अधिकारी या समानित व्यक्तियो को कितना पूजा वेतन दिया जाय अथवा प्रलेपिका, विलेपिका, अनुलेपिका मरिणपाली आदि परिचारिकाओ को उनकी सेवा के बदले मे कितना नेग दिया जाय इन सबका निर्णय लोकाचार या समयाचार या रिवाज के अनुसार होता था।

पारिणनि ने कुछ विशेष करो का भी उल्लेख किया है। ये कर भारत के पूर्वी भाग मे लगाये जाते थे। इन्हे कर के स्थान पर कार और इन्हें वसूल करने वालों को कारकर कहा जाता था।

जैन धर्म के साधुओं के आचार नियमो को सामाचारिक कहा जाता था। डा. वासुदेव शरण अग्रवाल का अनुमान है कि यह शब्द सम्भवतः राजसभा उत्सव आदि के कार्यों के सम्पादन की उचित विधि के लिये प्रयुक्त होता था।

न्याय व्यवस्था–

इस युग मे परम्परा प्राप्त आचार या विधि का अस्खलन या अनिकाराकरण न्याय था। न्याय के अनुकूल कर्म न्याय कहलाता था। वादी अथवा अभियोक्ता के लिये परिवादी या परिवादक कहकर पुकारा जाता था। गवाह साक्षी कहलाते थे। उनके प्रमाण्य का आधार घटना का साक्षात दर्शन था। जो मनुष्य जिस घटना का साक्ष्य ज्ञान रखता था, वह उसी नाम से अभिहित होता था। साक्षी को नियमानुसार शपथ दिलाने की प्रथा भी थी। इस युग मे दो प्रकार के संवित् थे समूहकृत और राजकृत वर्तमान न्यायालयो का आधार भी ऐसा ही है।

सेना–

इस युग मे जो सैनिक जिस हथियार का प्रयोग करता था उसका नामकरण उसी के नाम पर होता था।

पारिणनि ने ताल धनुष का उल्लेख किया है। इसका एक सिरा पैर से साध कर तथा एक हाथ से धनुष की मूठ पकड कर, दूसरे हाथ से बाण छोडा जाता था। युद्धों का नामकरण दो प्रकार से होता था। युद्ध मे भाग लेने वाले योद्धा के नाम पर तथा युद्ध प्रयोजन के नाम पर।

जनपद–

पारिणनि ने अपने युग की तीन महती संस्थाओ की ओर विशेष ध्यान दिया था-शिक्षा के क्षेत्र मे चरण, सामाजिक क्षेत्र मे गोत्र और राजनैतिक क्षेत्र मे जनपद। संस्कृत, जैन तथा बौद्ध साहित्य इनसे संबन्धित सामग्री से भरे पड़े हैं। केवल भगवान महावीर युगीन जनपद का अध्ययन करने के लिये पृथक् से शोध की आवश्यकता है।

महावीर युग में जनपदो का तांता सारे देश मे फैला हुआ था। ये राजनैतिक, सांस्कृतिक और

आर्थिक जीवन की इकाई बन गए थे। इस युग को महाजनपद युग कहा जा सकता है। पचाल इस युग का प्रसिद्ध जनपद था। यह क्षत्रियो का स्थान था। जनपद के दो प्रकारो का प्रचलन था १. राज तथा २. गणाधीन। दोनो मे ही सभा तथा परिषद् का स्थान महत्वपूर्ण था। इस युग मे सत्ता अधिकतर क्षत्रियो के हाथ मे थी। प्रत्येक जनपद की जनता अपनी-अपनी विधि से पूजा करती थी।

कैकय नरेश अश्वपति के शब्दो मे जनपद का उद्देश्य स्पष्ट झलकता है-

न मे स्तेनो जनपदे
न कदर्यो न मद्यप.।
जाना हिताग्निर्ना विद्वान्
न स्वैरीस्वैरिणी कुतः॥ (छान्दोग्य ५/११/५)
अर्थात्-जनपद मे कोई चोर नही मेरे,
मद्यप और कदर्य नही है हेरे।
आहिताग्नि विद्वान सभी सुविचारी,
आचारहीन नर नही कहा नारी॥

हमारे आलोच्य काल मे इस उद्देश्य की पूर्ति कहा तक हुई इस विषय पर शोध की अपेक्षा है। पाणिनि के सूत्रानुसार कम्बोज, गान्धारि, मद्र साल्वेय, साल्व कलकूट, कुरु, प्रत्यग्रथ कोसल, अजाद, कुन्ति, अवन्ति, अश्मक, काशी, मगध, कलिग, सूरमस, सौवीर तथा अम्बष्ठ जनपद इस काल मे थे।

इस काल के जनपद परस्पर सघर्ष मे निरत थे और उनकी स्थिति परिवर्तनशील थी। सुदूर उत्तर पश्चिम मे शाखामनीषी साम्राज्य का प्रसार महत्वशाली घटना थी यद्यपि इस प्रसार को देशगत-और काल गत के विषय मे अथवा इस के तत्कालीन ऐतिहासिक, सास्कृतिक प्रभाव के विषय मे निर्विवाद रूप से कुछ कहना कठिन है।[१८] श्री गोविन्द चन्द्र पाण्डेय ने कोशल, मगध आदि जनपदो की स्थिति पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—कोशल, मगध आदि जनपदो मे भी राजा और उनके रजात क्षत्रिय थे। यद्यपि अजातशत्रु व विडूडभ सरीखे नये राजाओ का बल उनके अमात्यो की कूटनीति, सेना की शक्ति तथा व्यक्तिगत योग्यता पर अधिक निर्भर था, उनकी मूर्धाभिषिक्ता पर कर्म धर्म और अर्थ की विभिन्न दृष्टियो से राजकीय आदर्श दो रूपो मे प्रकट होता था। धर्म की दृष्टि राजा के कर्त्तव्यो पर जोर देती थी, अर्थ की दृष्टि राजा की शक्ति पर धर्म विषयक धारणा भी ब्राह्मणो की ओर थी, बौद्ध तथा जैनो की ओर।[१९]

संघ या गण-

इस युग मे सघ राज्यो का स्थान भी महत्वपूर्ण था। राजनीति के अतिरिक्त परिषद्, गोत्र, जाति, पचायत, आर्थिक सस्थाये तथा शिक्षा सस्थाये भी सघ के आदर्श से प्रभावित थी। आजकल के समान इस युग मे भी दल का नाम नेता के नाम पर पडता था, संघ सभा के अधिवेशन मे मतदान शलाका द्वारा होता था। सघ के निश्चय जो मतदान से लिये जाते थे छन्दस्य कहलाते थे। सदस्यो का महत्व भी नेता से किसी प्रकार कम नही था। ध्वजा आदि के लिये प्रतीक चिन्ह चुना जाता था।

भगवान महावीर युगीन राजतत्र और शासन पर दृष्टि डालने पर ज्ञात होता है कि इस युग मे राजतत्र और शासन वैधानिक रूप से सुदृढ था और आधुनिक युग के राजतत्र को आधारभूत सामग्री प्रदान करता है। जनपदो मे संघर्षपूर्ण स्थिति अवश्य थी किन्तु उनका रूप आज जैसा नही था।

●

सन्दर्भ तालिका

(१) हमारी परम्परा-वियोगी हरि पृ० ५७८

(२) ब्रज का सांस्कृतिक इतिहास-प्रभुदयाल मित्तल-पृ० ६२

(३) हिन्दी साहित्य प्रथम खड-भारतीय हिन्दी परिषद्-डा. वासुदेवशरण-पृ० १९

(४) ब्रज का सांस्कृतिक इतिहास-प्रभुदयाल मित्तल-पृ० २६७

(५) An Advanced History of India by R.C. Majumdar p.80.

(६) हमारी परम्परा-वियोगी हरि-पृ० ४६२

(७) विश्व इतिहास की झलक-प० जवाहरलाल नेहरू-पृ० ५६-५७

(८) वैदिक साहित्य और सस्कृति-आचार्य बलदेव उपाध्याय-पृ० २८९

(९) भारतीय इतिहास की भयकर भूलें, Some blunders of Indian History research का अनुवाद-श्री पुरुषोत्तम नागेश ओक-पृ० २१०

(१०) वही-पृ० २१०

(११) वही-पृ० २२७

(१२) इन्स्टीट्यूट पत्रिका-११/८३

(१३) प्राचीन भारत का इतिहास-डा. रमाशकर त्रिपाठी-पृ० ६५

(१४) पाणिनिकालीन भारतवर्ष-वासुदेव शरण अग्रवाल-पृ० ३९५

(१५) वैदिक साहित्य और सस्कृति-डा. बलदेव उपाध्याय-पृ० ४७२-४७३

(१६) वही-पृ० ४०६

(१७) वही-पृ० ४०६

(१८) बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास-गोविन्द चन्द्र पाण्डेय-पृ० १७

(१९) वही-पृ० १९

महागति

(श्रद्धेय स्व० पं० चैनसुखदास जी न्यायतीर्थ)

संस्थान विराम विकारहीन, अपनी गति से बहता रहता।

(१)

पल होरा वासर वर्ष बिना सरिता प्रवाह जैसे आता,
केवल इसने जाना सीखा नहिं लौट कभी फिर यह आता।
विश्रान्ति कभी नहीं सहता यह नहिं टुकड़ों मे होता विभक्त,
अपने अनन्त में समा रहा—कर बन्धन की बाधा वित्यक्त।
अपनी अविरत गति के प्रवाह मे मानव को आने कहता।

संस्थान विराम विकारहीन, अपनी गति से बहता रहता।

(२)

इसकी लहरों मे सरिताएँ सारे सागर बह जाते है,
यह महा-प्रलय औ महासृष्टि सबही इसमे घुल जाते है।
इसकी लहरों मे उछल-उछल गाने वाला मानव हँसता,
उस मानव का यह अहङ्कार क्षण भर मे शोषित कर देता।
व्यामोह क्रांति भय क्षोभ त्यक्त यह अक्षय सबका क्षय करता।

संस्थान विराम विकारहीन, अपनी गति से बहता रहता।

जैन कलाकारों की भारतीय चित्रकला को अनुपम देन

—डॉ० सत्य प्रकाश
एम. ए., पी-एच. डी.
डाइरेक्टर सालारजंग म्युजियम, हैदराबाद

जैनों ने जहां चिन्तन क्षेत्र में 'स्याद्वाद' जीवन क्षेत्र में 'अहिंसा' के मौलिक सिद्धान्त विश्व को दिये वहां वे कला के क्षेत्र में भी किसी से पीछे नहीं रहे। चित्रकला के क्षेत्र में भी जैनों की कितनी महत्वपूर्ण देन रही है इसका कुछ आभास प्राप्त करेंगे पाठक विद्वान लेखक की इन पंक्तियों से। अन्य क्षेत्रों की तरह इस क्षेत्र में भी अभी बहुत कुछ ऐसा है जो अज्ञात है और जैन भण्डारों में अन्धकार में पड़ा प्रकाश में आने की राह देख रहा है।

—सम्पादक

अजन्ता की चित्रकला भित्ति चित्रकला है। भारतीय इतिहास की तिथि ६४२ ई० इस चित्रकला के निर्माण की अन्तिम सीमा मानी गई है। इस तिथि के पश्चात् फारसी चित्रकला के भारतीय-सस्कृति क्षितिज पर प्रभाव डालने तक हमे केवल जैन ग्रन्थों के आधार पर चित्रकला की झाकी प्राप्त करने के अतिरिक्त कोई और ठोस प्रमाण कागज पर चित्र निर्माण का नहीं मिलता है। इस क्षेत्र में वर्तमान राजस्थान एव गुजरात के कलाकारों का बड़ा योगदान रहा है। पर यह ध्यान देने की बात है कि उस समय आजकल के समान राजस्थान एवं गुजरात दो राज्य न थे वरन जो प्रदेश था वह पश्चिम प्रदेश के नाम से राजस्थान के कुछ भाग को गुजरात एव मध्यभारत के कुछ भागों को मिलाकर स्थान पारहा था। यह प्रदेश ही चित्रकला की पाश्चात्य शैली को उसी प्रकार जन्म देने में सफल रहा जिस प्रकार से पूर्वात्य चित्रकला शैली इस देश के पूर्व में कला का प्रसार

करने में सफल हुई। इस शैली का प्रसार पूर्व ही में न हुआ वरन् नेपाल तक में।

यहा पर पाश्चात्य चित्रकला पर प्रकाश डालेंगे। इस चित्रकला का सर्वप्रथम उल्लेख लामा तारानाथ ने अपने यात्रा वर्णन के २४ वें अध्याय में 'मूर्ति निर्माण-पद्धति' शीर्षक में की है। वहां पर मरु प्रदेश के शृ गधर नामक कलाकार का उल्लेख किया गया है। उसे प्राचीन पश्चिम चित्रकला शैली का जन्म देने वाला कहा गया है। यह कलाकार शील सम्राट का समकालीन माना गया है। मरु प्रदेश से इस कलाकार का सम्बन्ध होने के कारण स्मिथ महादय ने इसे मेवाड के गुहिल-राणा शिलादित्य का समकालीन माना है। कुछ ने इसे हर्ष शिलादित्य (कन्नौज) का समकालीन माना है। डा० यू० पी० शाह ने इसे वलभी राजा शिलादित्य का समकालीन माना है।

कुछ भी हो, चित्रकला उस प्राचीन काल में विद्यमान थी इसका प्रमाण हमे साहित्यिक स्रोत ही से प्राप्त होता है। अजन्ता की भित्ति चित्र-कला सम्बन्धित युग के अन्तिम चरण से हमे कोई ठोस सामग्री केवल वाड़ा की भित्ति चित्रकला के अतिरिक्त नही मिल पाती है। चित्रित ताड पत्रीय ग्रन्थ ही हमे इस क्षति की पूर्ति कराते हैं। उनमे जैन कलाकारो एव साहित्यिको का बडा योगदान रहा है। आधुनिकतम खोजो के आधार पर वि० स १११७ तदनुसार ई० १०६० सन् का योग निर्युक्तवृत्ति, नामक जैसलमेर जैनग्रन्थ भण्डार मे सुरक्षित ताडपत्रीय चित्रित ग्रन्थ अनुपम कलाकृति हैं। इस ग्रन्थ, मे जो चित्र है वह पूर्वात्य एव नेपाली प्राचीन चित्रकला से साम्य स्थापित करने वाला है। कला के क्षेत्र मे किस प्रकार भौगोलिक सीमाओ का पृथकत्व प्रभावित नही करता था यह हमें इस ग्रन्थ मे प्राप्त चित्र से तथा समकालीन पूर्वात्य शैली के चित्रों के तुलनात्मक अध्ययन से ज्ञात होता है।

इसी ग्रन्थ भण्डार मे कुछ प्राचीन ग्रन्थ-पट-लिया भी सुरक्षित हैं। उन पर जैन कलाकारो द्वारा किया गया सुन्दर कार्य है। जैन कलाकारो की प्राचीन कलाकृतियों मे पाटन के जैन भण्डार में प्राप्त निशीथचूर्णि नामक ग्रन्थ जो सिद्धराज जैसिंह के शासन काल में सन् ११०० मे लिखा एव चित्रित किया गया ताडपत्रीय ग्रन्थ है। इस प्रकार से सन् ११०० से लेकर १४०० तक अगसूत्र, त्रिशष्ठि शलाका पुरुष चरित, श्री नेमिनाथ चरित, आदि ग्रन्थ चित्रित हुये। ये सब ताडपत्रीय चित्रित ग्रन्थ हैं। इसी युग का सवग पदकम सुत्त चुन्नी (श्रावक पदक्रमण सूत्र चूर्णि) जो आजकल बोस्टन सग्रहालय के भारतीय कला कक्ष की शोभा बढा रहा है एक बहुत ही अनुपम ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ मे उदयपुर के निकट स्थित वर्तमान आहाड स्थान का उल्लेख होने से विद्वानो की यह धारणा निरस्त हो जाती है जिसके आधार पर यह समस्त जैन ग्रन्थ सामग्री का निर्माण स्रोत वर्तमान गुजरात बताते है। इसके आधार पर हम इस शैली के चित्रो को गुजरात शैली के न कहकर पश्चिमी भारतीय शैली का मानें तो उपयुक्त होगा और इससे हम डा० आनन्द कुमार स्वामी द्वारा इस शैली को दी गई सज्ञा को सार्थक भी सिद्ध कर सकते हैं। इसी प्रकार से सन् १४००, १५०० तक के काल मे कल्पसूत्र, कालकाचार्य कथा और सिद्ध हैम का चित्रण हुआ।

कागज के निर्माण से कागज पर लिखना एव चित्रण प्रारम्भ हो गया। यही कारण है कि असख्य चित्रित ग्रन्थ जो प्राय कल्पसूत्र एव कालकाचार्य कथा के नाम से जाने जाते है १५ वीं एव १६ वी शताब्दी मे चित्रित प्रतियो के रूप में कलाकारो

एवं साहित्यिको के सामने आ गये । यह क्रम चलता रहा और जैनमन्दिरो एव उपासको मे जैन मुनि ग्रन्थो की प्रतियाँ तय्यार करते रहे और उन्हे चित्रित भी करते रहे। यह क्रम अब तक जारी है। हमें १६ वी शताब्दी के बाद भी इस कार्य के कुछ क्षेत्रो में होने का प्रमाण प्राप्त होता है ।

इन चित्रो मे रेखाओ का निर्माण लाल रग मे होकर सोने की हितकारी के साथ पीला, काला, सफेद, लाल, नीला, हरा एव गुलाबी रगो का प्रयोग साधारण तौर से हुआ है ।

रेखो मे गोलाई कम है पर कोणात्मक चित्रण अधिक हुआ है। इन सब मे अधिकतर अन्दर की ओर धसी हुई आखें दोनो ओर के कोनो की ओर बढ़ती चली गई हैं। नि.सन्देह जैन कलाकारो की भारतीय चित्रकला को अनुपम देन है । यदि उनका योगदान न होता तो भारतीय चित्रकला का इतिहास अस्पष्ट एवं अधूरा ही रह जाता । हम उन सब चित्रकारो के प्रति श्रद्धाजलि अर्पित करते हैं। जिन्होंने उस युग मे हमें अपनी कला द्वारा सामग्री प्रदान की। यद्यपि यह सामग्री बहुत नही है पर यह अमूल्य एव अलभ्य है ।

महावीर वाणी

सब जीवों के साथ संयम पूर्वक व्यवहार रखना तथा परस्पर के व्यवहार में समभाव ही निपुण तेजस्वी अहिंसा है। वह सब सुखों को देने वाली मानी गई है।

—श्री सीवनकर

जीवन गीत

(श्रद्धेय स्व० पं० चैनसुखदास जी न्यायतीर्थ)

क्यो निरर्थक जूझते हो, यो कहो ना, हे बटोही !

जूझना जीना सिखाता, मृत्यु को रसमय बनाता,
औ', अपार्थक कल्पनाये यह न मानस में जगाता।
अमर है ससार उसका, जूझ कर जो नाश पाता,
जूझने का रस न जाने, हीन निर्बल जन विमोही।

(२)

जूझना है त्राण मेरा, क्राति का विस्तार मेरा,
है यही विश्राति प्राङ्गण, है यही मेरा बसेरा।
मैं न थकता हूँ कभी भी, स्फूर्तिमय यह है सवेरा,
मै विनिश्चलपथ, मुझको क्या करे गुमराह कोई।

(३)

मैं सचाई को पकड़ कर, जूझता अब तक रहा हूँ,
होम कर सर्वस्व मेरा, कटीले पथ मे बहा हूँ।
विफलता भी सफलता, क्योकि निष्ठा मे रहा हू,
जूझने से दूर रह, यह जिन्दगी किसने न खोई।

क्यो निरर्थक जूझते हो, यो कहो ना, हे बटोही !

८०-८५ वर्ष प्राचीन जैन महोत्सव की मुद्रित पत्रिकायें

(लेखक—पं० रतनलाल जी कटारिया, केकड़ी)

(१)

सिद्ध श्री रङ। सुभ सुथाने सरव ओपमा बिराजमान अनेक ओपमा लाईक समस्त श्री पचा श्रावका जैनी भाय्या जोग्य लिषो मुहा सू समस्त पचा श्रावकां जैनी भाय्या केन जुहार बचसी अठा का समाचार भला है आपका सदा भला चाहीजे तो मान परम सुख होय जी अपरच अठ श्री रथ जात्रा जी को उच्छव है मिती बैसाख सुदि ४ सुक्रवार कै दिन श्री जी महाराज रथजी मैं बिराजमान होयर बाग मैं पधारसी वीर वैही दिन सुं अढाई द्वीप जी का श्री मडल विधान जी का पूजन जी होयगा वोर बैसाख सुदि १० बृहस्पतिवार कै दिन श्री मदर जी उपरे कलस चढैगा वोर मुन महाराज श्री बीर सेण जी महाराज अठै पधारसी ज्यां का भी दर्शण होवैगा जी सू ई उच्छव उपरे सारा सिरदार परवार सहित पधारसी आप पधारसी धर्म को माहान उद्योत हो सी धर्म ही दोई भव मैं सुखदाई है वोर मिलणी पगालागणी उगेरे माफ है—सबत् १९४३ का चैत्र सुदि १—

बसाक सुद ११ सकरवारी रसोई छ।

(२)

अहिंसा परमोधर्मः यतो धर्मः स्ततो जयः

श्री जिन महोत्सव मेला केकड़ी

(सर्वज्ञ) ओऽम् नमः (सर्वज्ञ)

ओ ३ नम् सिद्धेभ्यः ॥ छद बसंत तिलका ॥ स्वस्ति प्रद प्रमदसारयुत शिवेश न्यास्तेन्द्रमिन्द्र शतवदित पादपद्म ॥ पद्मालयं हृदि निधाय मुनीन्द्रमेक पत्री लिखामि सुख कारण मगलार्थं ॥१॥

॥ दोहा ॥

सकल सुरासुर पूजि नित सकल सिद्धि दातार ॥ सकल सग मगल करन सुमिरौं जिन अवतार ॥१
भरत क्षेत्र शुभक्षेत्र में सिद्धि श्री शुभस्थान ॥ जम्बू द्वीप सुमेरु तें दक्षिण दिश मे जान ॥२

॥ चौपाई ॥

गिरि हिम जलनिधि बिच षट् देशा, तामधि आरज देश सुवेशा ॥
आरज सीम च्यार अविनाशी, सिधु जलधि गगा खग वासी ॥१॥

अपर दिशा साकेत सुजान हिं, मुरधर देश पुण्य परधान हि ॥
कूप तडाग बने उपबापी । नगर कैकडी सुर निरमापी ॥२॥

देवालय छवि आलय भूपा, वेदी तोरण द्वार अनूपा ॥
ध्वजा कमल कलशन करि सोहे। लूमत द्वार माल मन मोहे ॥३॥

धर्मनीति के बचहि पुराना, पूजादान धर्म विध नाना ॥
करि सत् सगति कर्म क्षपावे । स्वत. निशल्य पुण्य उपजावे ॥४॥

पर्वी दान ध्यान तपधार हि, द्रव्य तत्व गति योग सभारहि ॥
रवि के उदय अस्त दोउबेरा, आलोचन प्रतिक्रमण घनेरा ॥५॥

द्वय द्वय मुहुरत धर्म सभारे, अन्य समय गृह काज सुधारें ॥
विद्या औषधि अभय अहारा, लागहि दान अखडित धारा ॥६॥

नगर निवासी सब परवीना, औषधि दान बहुत विधि कीना ॥
सुयश देश देशन मे फैला, सो सब जानत दान दुहेला ॥७॥

ऐसे पुरवासी नर नारी, धर्मशील सबवित अनुहारी ॥
इहि विधि नगर नारि नर सुन्दर, बसहि सुवासे धर्म-धुरधर ॥८॥

॥ दोहा ॥

ऐम्प्रेस बृटिश अधीश्वरी, चिरजीवो विक्टोरिया ॥
जिहि के राज्य सुराज्य मे, बैरभाव जन तज दिया ॥१॥

पालक इसी प्रदेश के, बुद्धिमान हरि नाम ॥
तिन सबको आज्ञा दई, करहु सुमगल काम ॥२॥

तदनुसार जिनराज की, निशि दिन भक्ति विशाल ॥
होय महोत्सव पुर विषे, हरषे बाल गुपाल ॥३॥

॥ लघु चौपाई ॥

यहां वैष्न जैनिन के मेल, एक रूप ज्यों तिल्ली तेल ॥
देत मदत मेला के मांहि, बिलग होत नहि जिम परछाहीं ॥१॥

भैरूंलाल विजय सुखरूप, मल्ल केशरी अधिक अनूप ॥
श्रावक गोत पांडिया जान, जैनी जन के मध्य प्रमान ॥२॥

तिन मेला को कीन्ह विचार, रूपे रोकड़ी दिये हजार ॥
और उघाई पीछे भई, सब पचन मिल कीन्ही सही ॥३॥

॥ छंद ॥

सब भांति नागर नारि नर उत्साह युत आनन्द भरे ॥
कब देखि हैं निज नयन तें स्वज्ञाति जिन उत्सव खरे ॥
यह अभिलाष सज्जन सर्व मिलि आयके पूरण करो ॥
जय जयो जिनवृष भूरि मगल पूरि मन आनंद धरो ॥१॥

॥ दोहा ॥

नाम मुहुरत आदि सब कहों बचनिका बंध ॥
पढि कर आवहु भव्यजन मन मे धरि आनद ॥

स्वस्ति श्री रहड''' शुभास्थाने वापी कूप तडाग वनोपवन गोपुर खातिका प्राकारादि सुशोभिताने श्री जिनालये ध्वजातोरण कलश श्री मडपादि अनेक शोभा सयुत हाट बाट चौहट्टादि मय सदगुण अष्टांग गुण प्रतिपालक अष्ट मदादि दोष रहित देव शास्त्र गुरु भक्ति दानी सद्धर्मोक्त गुणज्ञ सज्जन श्री समस्त पंच श्रावक जैनी भाई व इतर महाजन योग्य पूर्वे गुणधारी केकड़ी से समस्त पंच श्रावक जैनी भाई केन विनय धर्मपूर्वक जुहार बंचना अत्र कुशलं तत्रास्तु अपरंच यहां श्री जिनमहोत्सव रथ यात्रा के कराने को भाव भयो है जिसको मुहूर्त शुभ मिति मार्ग शीर्ष कृष्ण पंचमी भौमवार पुष्य नक्षत्र में श्री १००८ श्री जी महाराज रथ में विराजमान होकर जल्से सहित अति आनद से बाग में पधारेंगे जलसा ३५ प्रकार के मनोज्ञ पदार्थों से शोभित होवेगा—उसी दिन पूजन स्थापन का मुहूर्त होयगा तथा भजन नृत्य शास्त्राध्ययन नाटक सभा

महासभा प्रश्नोत्तर श्रावक हित कारक सभा तथा जैन विद्यालय भडार की उन्नति सदाचार का विषय श्रादि श्रनेक धर्म के श्र ग दिन ४ तक होवेंगे फिर मार्ग शीर्ष कृष्ण एका दशी रविवार को हस्त नक्षत्र में पूजन विसर्जन जल यात्रा पूर्णाभिषेक सभा होकर श्री १००८ श्री जी महाराज रथ मे विराजमान होकर जलसा सहित उपरोक्त वन से दिन के समय मे श्री मदिर में विराजमान होवेंगे सो इस उत्सव पर सम्पूर्ण पचजन सपरिवार दिन २ पहिले मस्तक वेदी जी चैत्यालय लेकर पधारें श्रौर प्रभावना श्र ग को वृद्धि करे। श्राप सज्जनो के पधारे धर्म का महान् उद्योत होगा। धर्म दोनो भव मे सुखदाई है। शुभ मिती श्राश्विन शुक्ल दशमी सं. १९५० विक्रम।

श्रास पास के सर्व ग्रामों मे खबर भेज देना पत्री सर्व मदिरो मे बचाय देना व शहर मे प्रकाशित कर देना।

मिलणी पगा लागणी गालगीत श्रौर माल होगी नही ॥

यह केकडी छावनी नसीराबाद से कोश १७॥ पूर्व से पश्चिम को झुकर्ता हुई व श्रजमेर से २५ कोश है सडक पक्की, गाडी इक्के बहुत मिलते रास्ता केवल दोपहर का है श्रीरस्तु कल्याण मस्तु-रेल स्टेशन नसीराबाद व गाव केकडी जिल श्रश्रजमेर ॥

(मेला तेरह पथ श्राम्नाय से)

नोटः—ये दोनो मुद्रित पत्रिकाये हमे श्री प० दीपचन्द जी पाड्या ने श्रपने संग्रह से निकाल कर दी है एतदर्थ हम उनके श्राभारी है। जैसा पत्रिकाश्रों मे छपा है उसे बिना किसी सशोधन के हूबहू यहां बैसा का वैसा उद्धृत किया है। इन से हमे श्राज से ८०-८५ वर्ष पहिले की भाषा श्रौर लेखन शैली एव तत्कालीन श्रनेक बातो का परिज्ञान होता है। प्रथम पत्रिका में मुनि महाराज श्री वीरसेन जी का उल्लेख है इससे जाना जाता है कि—उस वक्त भी राजस्थान प्रात मे दि० मुनि विचरते थे। दूसरी पत्रिका मे प० दीपचन्द जी पांड्या के पूर्वज श्री भैरुलाल जी विजय लालजी केसरीमल जी का उल्लेख है जो एक हजार रु० देकर मेला भरवाने मे श्रग्रणी बने थे उस जमाने मे एक हजार रुपयो की बहुत कीमत थी।

भुवलयांतर्गत जय भगवद् गीता

—श्री बंशीधरजी शास्त्री
एम. ए., देहली

आज से कुछ वर्ष पूर्व 'भुवलय' नामक एक ऐसे जैन ग्रथ की चर्चा जैन एव जैनेतर अखबारो में बड़े जोरों से चली थी जिसके बारे में कहा जाता है कि वह संसार की प्रत्येक भाषा में पढ़ा और समझा जा सकता है किन्तु शीघ्र ही इसकी वास्तविकता प्रकट हो गई। अब भी यदा कदा कन्नड़ भाषा के इस ग्रथ का कई प्रकार से प्रचार करने का प्रयत्न किया जाता है। गीता का प्रकाशन भी इसी प्रकार की एक दुरभिसंधि है। किसी की आलोचना की दृष्टि से नहीं अपितु वस्तुस्थिति पाठकों के समक्ष आ सके और इस प्रकार के जैनागम विरुद्ध प्रचार की पोल खुल सके इस पवित्र भावना के वश हो हम यह रचना प्रकाशित कर रहे हैं।

—*सम्पादक*

भुवलय में जो अनेक ग्रथ गर्भित बताए जाते हैं उनमे गीता का भी नाम है। जैन मित्र मण्डल, धर्म पुरा, देहली ने छोटे साइज के ७६ पृष्ठ की एक पुस्तिका प्रकाशित की है जिसका नाम है। श्री भुवलयान्तर्गत जयभगवद् गीता'। यद्यपि इसमे भूमिका या परिचय कुछ नहीं लिखा हुआ है किंतु क्योंकि इसके अनुवादक है श्री १०८ आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज तथा मुखपृष्ठ के बाद १ चित्र है जिसके नीचे लिखा हुआ है "मैसूर के मुख्यमंत्री श्री निजलिंगप्पा की आचार्यश्री से भुवलय के संबंध में तत्व चर्चा" एवं 'भुवलयान्तर्गत' शब्द व्यक्त करता है कि यह गीता भुवलय से निकाली गई है। जिसका हिन्दी अनुवाद श्री देशभूषण जी ने किया बताते हैं। इस पुस्तिका में यह नहीं लिखा कि भुवलय के कौन से अध्याय से यह गीता कैसे निकली। यह न बताकर अनुवादक महोदय ने अच्छा ही किया नहीं तो पोल जल्दी खुलने की संभावना रहती।

इसमें ४७ श्लोक कन्नड के हैं। संस्कृत गीता के १०४ एवं कुछ स्वकल्पित श्लोक अध्यायो मे प्रस्तुत किए गए है। इनमें जैनधर्म एव सिद्धांत विरोधी कथन हैं उनमे से कुछ पर इस लेख के उत्तरार्ध में विचार करेंगे।

कन्नड भाषा के जो श्लोक हैं उनमें कहीं कृष्ण का, कहीं भरत का, कही बाहुबली का, कहीं ब्राह्मण वर्ण का, असबद्ध वर्णन मिलता है। इस असबद्धता के कारण विद्वान ही क्या साधारण व्यक्ति भी इसके पढने से ऊब जायगा और इसको कपोल कल्पना समझेगा। इनकी पूर्वापर सगति कैसे बिठाई जा सकती है एव ऐसी गीता का क्या प्रयोजन है ? मैं तो समझता हूँ कि भुवलय के ही किन्ही श्लोको को ज्यो का त्यो कन्नड गीता के नाम पर रख दिया गया है किंतु इसके अनुवादक ने यह नही देखा कि इन श्लोको का गीता से कोई सबध नही है। कुछ भाई यह कह सकते हैं कि अनुवादक का क्या कसूर ? किंतु वास्तव मे देखा जाय तो इसके लिए उत्तरदायी वे ही है क्योकि अन्य किसी व्यक्ति का नाम इस प्रसग मे नही बताया गया कि उसने इन श्लोको को भुवलय मे से निकाला। यदि यह भी मान लें कि और किसी ने भी निकाला हो तो भी इनका अनुवाद करने वाले का कर्तव्य था कि वह इनके अर्थ पर गभीरता से विचार करता।

इन ४७ श्लोकों के कुछ अक्षरो को चिन्हित कर यह दिखाया गया है कि उससे सरस्वती श्लोक एव तत्वार्थ सूत्र का निम्न सूत्र निकला—

"सम्यग्दर्शनम् तन्निसर्गादधिगमाद्वा जीवा
जीवास्रव बध सवर निर्जरा मोक्ष।"

इसे तत्वार्थ सूत्र के प्रथम अध्याय का चौथा सूत्र बताया गया है। उक्त सूत्र पदो को प्रथम अध्याय का चौथा सूत्र बताना अनुवादक के साधारण ज्ञान की अज्ञानता प्रकट करता है क्योकि यह वास्तव मे प्रथम अध्याय के दूसरे सूत्र का उत्तरार्द्ध, ३रा पूरा एव अधूरा चौथा सूत्र है।

इस सबध मे यह भी कहना है कि श्लोक के मन चाहे अक्षरो को चिन्हित कर तो नया श्लोक या सूत्र बनाया जा सकता है। साथ ही यह भी विचारणीय है कि तत्वार्थ सूत्र का पहला सूत्र क्यो नही निकाला गया ? सर्व प्रथम तथाकथित चतुर्थ सूत्र कैसे निकल आया है ?

इस तत्वार्थ सूत्र के सबध मे पृ० २ पर यह भी लिखा है कि "भगवान नेमीनाथ द्वारा श्री कृष्ण को उद्बोध कराया हुआ तत्वार्थसूत्र निकलता है।" यह सभी जानते है कि तत्वार्थसूत्र उमास्वामी का बनाया हुआ है फिर ऐसा सर्वथा इतिहास विरुद्ध कथन क्यो किया गया है। यह कथन सिद्ध करता है कि तथाकथित कुमुदेन्दु (भुवलय ग्रथकार) जैन साहित्य के सबंध मे कुछ भी नही जानते। जैन साहित्य और इतिहास को जानने वाले जानते है कि भ० नेमीनाथ ने किसी 'तत्वार्थसूत्र' का उद्बोध श्री कृष्ण को नहीं कराया।

इन श्लोको के आगे भगवद्गीता एव कुछ स्वकल्पित श्लोको का हिन्दी अनुवाद किया गया है। ये स्वकल्पित श्लोक भगवद्गीता मे कैसे आए ? यह विचारणीय है। "ओकार विंदु सयुक्तम् ।" श्लोक गीता मे कैसे आया ? गीता के १८ अध्यायो मे असबद्ध श्लोक उठा कर दो अध्यायो मे सकलित किए गए हैं।

पृ० ३१ पर यह श्लोक है

म् अक् अ आ न् अल् अम् र साम् सम् ननास् षिभम् तागी द्ऋ क् स।

नेनि नेंदि 'मन' नास् जलम् साम् पुम् न च मोर् निलम ।

इसके आगे यह टिप्पणी दी गई है—यह श्लोक उल्टा पढ़ा जाता है । तदनुसार इससे निम्नलिखित श्लोक निष्पन्न होता है.—

मल निर्मोचन पु सा जल स्नान दिने दिने
सकृद् गीताम्भसि स्नान ससार मल नाशकम् ।

इस श्लोक का अर्थ यह है—

जिस तरह प्रतिदिन जल का स्नान मनुष्यो के शारीरिक मल को दूर करता है इसी प्रकार एक बार भी गीता रूपी जलमे स्नान करना सासारिक मल का नाश करने वाला है । (सभवतः यह श्लोक किसी वैदिक पुराण का है ।)

इस श्लोक के आगे गीता के विभिन्न अध्यायों के विभिन्न श्लोक उठाकर रखे है जिससे पाठक समझें कि उक्त श्लोक की तरह ये श्लोक भी भुवलय से निष्पन्न किए गए है । जिस श्लोक को उल्टा पढने के लिए कहा गया है उसका कोई अर्थ नही है । पहले मैं समझता था कि यह कन्नड भाषा का श्लोक होगा, साथ ही कुछ सदेह हुआ तब एक कन्नड भाषा के विद्वान को यह श्लोक दिखाया उन्होने कहा कि इसका कोई अर्थ नही है, यह कन्नड़ भाषा ही क्या किसी भी भाषा का श्लोक नही दिखता ।''।

इस श्लोक की यह स्थिति है तब अन्य श्लोको की क्या स्थिति है यह पाठक भली प्रकार अनुमान कर सकते है। तब इस गीता को भुवलय के अ तर्गत बताकर प्रकाशित करना सबसे बडी हिमाकत है । यह अभी निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि इस हिमाकत एव धोखाधड़ी के व्यापार के प्रणेता सिर्फ श्री देशभूषण जी ही हैं या और भी कोई उनके सहयोगी हैं ?

अब कुछ ऐसे उद्धरण भी प्रस्तुत करना आवश्यक समझता हूँ जो जैनधर्म के विरुद्ध हैं। पृ० २०-२१ पर लिखा है कि 'समुद्रविजय ने मेरे भाई नेमीनाथ को एक अक्षर मे पढ़ाया'' (श्री कृष्ण का कथन) जैन शास्त्रो के अनुसार यह कथन यथार्थ नहीं है । तीर्थकरो को पढ़ाने की आवश्यकता नही होती, क्योकि वे जन्म से ३ ज्ञान वाले होते हैं, ऐसा शास्त्र का कथन है ।

गीता की प्रशसा मे पहले उद्धृत किया हुआ श्लोक बताता है कि इसके कर्त्ता जैनाचार्य नहीं हो सकते और कोई भी जैन ऐसे श्लोको का अनुवाद बिना टीका टिप्पणी किए नही करेगा ।

पृ० १४ पर "श्री कृष्ण कहते हैं कि हे पार्थ ! इस तरह कर्म को नष्ट करने वाले ८९९९९९९९७ मेरे समान इतने जन अरहत अवस्था को एक-काल में उत्पन्न होकर गीता का उपदेश करते हैं ।" वे अरहत रूपी कृष्ण धर्म की परपरा चलाने के लिए............। यद्यपि यह अनुवाद स्पष्ट नहीं है किंतु यह भली प्रकार लक्षित होता है कि श्री कृष्ण को अरहत बताना लेखक को अभीष्ट है । इसे जैन सिद्धात के विरुद्ध सिद्ध करने की आवश्यकता नही । क्योकि यह तो स्वयसिद्ध है ।

पृ० ४२ पर लिखा है कि "उचित समयानुसार संघ की वृद्धि के लिए बिना मागे आए हुए द्रव्य को भी आचार्य रखवा सकते हैं ।" इस श्लोक द्वारा अब जैन मुनियों को छूट मिल गई क्योंकि वे द्रव्य रख सकते हैं ? ऐसे श्लोक अपरिग्रही साधुत्व की निंदा के लिए पर्याप्त हैं इन श्लोको के आधार पर कोई भी कह सकता है कि जैन आचार्य द्रव्य रखते हैं ।

वर्तमान के मुनि पदवी धारी चाहे कैसे ही क्यो न हो किंतु वे शास्त्रो के नाम पर ऐसे कल्पित

साहित्य की रचना करेंगे इसे कोई भी विवेकी सहन नही करेगा।

ऐसे जैनधर्म विरोधी कथनो से यह पुस्तिका भरी पडी है। अनुवाद की हिन्दी बिल्कुल भद्दी है उसका उदाहरण न देना ही अच्छा है।

गीता की तरह से ही अन्य ग्रथ भी इस भुवलय से निकालने का नाटक रचा जा सकता है किंतु वह जैन साहित्य और आचार्यों की हसी ही कराएगा।

इस लेख से पाठक भली प्रकार समझेंगे कि भुवलय भुवलय नही अपितु 'भू बला' या भूत बला है जैसा कि कुछ लोग कहने लगे है। समाज को अपने दुर्लभ धन का उपयोग ऐसे ग्रथो के प्रकाशन में न कर प्राचीन प्रामाणिक साहित्य के प्रकाशन मे करना चाहिए जिससे जैनधर्म की वास्तविक प्रभावना हो। यद्यपि भुवलय की वास्तविकता प्रकट हो गई है फिर भी कुछ भाई इसका यदा कदा प्रमाण देते रहते हैं इसलिए उनकी जानकारी हेतु यह लिखा जाता है।

भुवलय के अप्रकाशित शेष अ श मे इस काल मे २६ तीर्थंकर होने का उल्लेख है जैसा कि प्रस्तावित जनता सस्करण के ३० वे अध्याय मे निम्न श्लोक मे लिखा गया है—

इदु वे हुँडावसर्पिणी या महात्म्म वो अर्दारदा इपता २ का ओदगि वदी तल्लद अवसर्पिणी योद्गल लिलवो इपत नालके।६१।

अर्थ उत्सर्पिणी एव अवसर्पिणी काल मे २४ तीर्थंकर होते है किंतु वर्तमान हु डावसर्पिणी काल मे २६ तीर्थंकर हुए है।

इस से यह स्पष्ट हो जाता कि यह ग्रथ जैनागम किसी प्रकार नही हो सकता। मैं विद्वत् परिषद एव शास्त्री परिषद के योग्य अधिकारियो से अनुरोध करता हू कि वे इस ग्रथ का पूर्ण परीक्षण कर घोषित करे कि क्या यह दि० जैन आचार्य द्वारा रचित जैनागम ग्रथ है?

आशा है विद्वत् गण पक्षपात रहित होकर निर्भयता पूर्वक अपना मतव्य प्रस्तुत करेंगे। यदि कोई पाठक या विद्वान् इस सबध मे और जानकारी चाहे तो दी जा सकेगी।

महावीर वाणी

जो रात और दिन एक बार अतीत की ओर चले जाते है वे फिर कभी वापस नही आते। जो मनुष्य धर्म करता है, उसके वे रात दिन सफल हो जाते है।

—श्री सीवनकर

शलाकापुरुष कृष्ण : एक आलोचन

—श्री श्रीरंजन सूरिदेव
का० सम्पादक 'राष्ट्रभाषा'
(बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् त्रैमासिक पत्रिका)
पटना

भारतीय महापुरुषों में श्री कृष्ण का जीवन अत्यधिक विवाद का विषय रहा है। एक परम्परा में जहाँ वे विष्णु के साक्षात् अवतार हैं वहाँ जैन परम्परा में उन्हें भावी तीर्थंकर माना है। तिरेसठ शलाका पुरुषों (महापुरुषों) में उनकी गणना है। विद्वान लेखक ने इन ही दोनों दृष्टियों का तुलनात्मक आलोचन प्रस्तुत किया है इन पंक्तियों में जो रोचक होने के साथ ज्ञानवर्धक भी है।

—सम्पादक

भारत के महापुरुषो मे कृष्ण का नाम मूर्द्धन्य है। इसलिए, इनके निमित्त एक कण्ठ भाव से स्वरित यह स्तवन पर्याप्त प्रसिद्ध और प्रभावक है : 'वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्।' सचमुच, कृष्ण का व्यक्तित्व और कृतित्व महापुरुषोचित तो है ही, अलौकिक, और अद्भुत भी है। यही कारण है कि इन्हे महापुरुष से भी ऊचा षडैश्वर्यसम्पन्न 'भगवान्' शब्द से सज्ञित किया गया : 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।'

जनजीवन मे तो कृष्ण का निर्लेप और निर्भीक चरित अनुकरणीय कोटि मे स्वीकृत है। धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रो मे भी इनकी आस्तिकता, उदारता और व्यवहार कुशलता का अनुपेक्षणीय और अनिवार्य प्रभाव पड़ा है। अतएव, ये एक साथ ही जननायक और नीति निर्देशक दोनो हैं। इसके अतिरिक्त ये जहां एक ओर कूटनीतिज्ञो में कूटस्थ दिखाई पड़ते हैं, वहीं दूसरी ओर मर्यादापुरुषो मे पांक्तेय परिलक्षित होते हैं।

कृष्ण, निश्चय ही पूज्य थे, इसीलिए इनका चरित वाच्यपदवी से परे था . 'तेजीयसा न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा ।' सामाजिक और धार्मिक दृष्टिकोण से इनका चरित कुछ देर के लिए सदिग्ध-सा प्रतीत होता है, किन्तु वह सन्दिग्धता राजनीति के विचार से व्यवहार की एक निर्वाहशैली-मात्र ही ठहरती है। क्योकि, कृष्ण अपने युग के एक संघर्षशील अपराजेय राजनेता भी थे। पूरे विश्व मे शाति की स्थापना का भार इनके कन्धो पर था। जन-जागरण और शत्रुदमन इनका मूल लक्ष्य था। इसी लिए, ये कभी 'वज्रादपि कठोर' हो जाते थे तो कभी 'कुसुमादपि कोमल' बनने मे भी इन्हे देर नही लगती थी। ये 'अग्रतः सकलं शास्त्र पृष्ठतः सशर धनुः' के सक्रिय समर्थक थे। कुल मिलाकर, ये एक विचित्रचरित चरितनायक थे।

जैनदृष्टि मे कृष्ण को एक धीरोदात्त और युद्धवीर नायक की मान्यता प्राप्त हुई है। रामपाणि-वाद-कृत प्राकृत 'कसवहो' मे कृष्ण की वीरोचित निर्भीकता का एक ध्यातव्य प्रसग है : कृष्ण को मार डालने के लिए कस ने मथुरा मे कूटजाल की रचना की और उसीके निमित्त उसने इनके पास धनुर्यज्ञ मे सम्मिलित होने का निमन्त्रण भेजा। बलराम को धनुर्यज्ञ देखने का कौतूहल हुआ, किन्तु साथ ही कस के कपटजाल के कारण उनके मन मे भय का भी सचार हुआ। उन्होने अपनी दुर्बलता कृष्ण से बतलाई। कृष्ण ने अपनी धारणा को सिद्धान्तित करते हुए कहा कि अकार्यों मे प्रवृत्त होने वाले ही भय से आक्रान्त होते है, कर्त्तव्य परायण व्यक्ति भय से कभी ग्रस्त नही होते। मूल श्लोक इस प्रकार है :

इद वअो भग्गइ वण्णमालिणा
अल कविल्पेण पलंवसूश्रण ।
अकज्जसज्जाण हि सत्तुसभवो
कुदो भअ कज्ज पहुम्मुहाण णो ।। (१।२८)

अर्थात्, (हे अग्रज !) प्रलम्ब को पछाडने वाले आपको इस प्रकार भीत होना उचित नही है। शत्रु की सम्भावना तो उनको करनी चाहिए, जो अकार्य मे प्रवृत्त होते है। जब हम कर्त्तव्य परायण हैं, तब किसी से क्या भय ?

जैन परम्परानुसार, कृष्ण के जीवनचरित के विशद अध्ययन की दृष्टि से आचार्य जिनसेन-प्रणीत 'हरिवश-पुराण' अधिक उपादेय है। इसमे कृष्ण का बडा ही कौतुकावह चरित्र रूपायित हुआ है। इसमे कृष्ण को बलभद्र-पद का धारक बतलाया गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ के ६५वें सर्ग के अन्त मे कथा है . बलदेव या बलभद्र जब ब्रह्मलोक मे देव हो चुके, तब वे अवधिज्ञान से कृष्ण के जीव का पता लगा कर उसे सम्बुद्ध करने के लिए 'बालुकाप्रभा' पृथ्वी मे गये। बलदेव का दिव्यभावापन्न जीव, कृष्ण को अपना परिचय देने के पश्चात् उसे वहा से अपने साथ दिव्यलोक ले जाने का प्रयत्न करता है, परन्तु अन्त मे उसे विफलता ही मिलती है। कृष्ण का जीव बलदेव से कहता है . 'आयु का अन्त होने पर मैं मोक्ष के कारणीभूत मनुष्य-पर्याय को प्राप्त होऊँगा और उस समय तपस्या करके, जिन-शासन की सेवा से कर्मक्षय के द्वारा मोक्ष प्राप्त करूगा। परन्तु, तुम इतना करना कि मै भारतवर्ष मे महाविभवसम्पन्न के रूप मे सम्मानित होऊ। लोग मुझे देखकर विस्मित हो तथा घर-घर मे शख, चक्र, गदा और खड्ग धारण किये हुए मेरी प्रतिमा बनाई जाय।' बलदेव के जीव ने कृष्ण का वचन मानकर विक्रिया से इनका प्रभाव विस्तारित किया और तदनुसार पूरे भरत क्षेत्र मे इनकी प्रतिमा और मन्दिरो का निर्माण कराया।

जैनधर्म मे 'वीर' की पूजा को अधिकाधिक प्राथमिकता दी जाती है। जैनो ने अपने अन्तिम तीर्थंकर को 'महावीर' नाम से सज्ञित किया है। जैन परम्परा मे ऐसे चौबीस महापुरुष हुए हैं, जिन्होंने

तप और ज्ञान के बल से धर्म का मार्ग प्रशस्त किया और वे स्वयं तीर्थंकर भगवान् के रूप में लोकाराध्य बने। इन तीर्थंकरों के अतिरिक्त बारह वीर पुरुष ऐसे भी हुए हैं, जिन्होने लोकविजय और दुष्ट-निग्रह करके शासनतन्त्र को सुव्यवस्थित किया। वे चक्रवर्ती का पद प्राप्त करके लोकसम्मान के भाजन हुए। इसी प्रकार, नौ बलभद्रो, नौ नारायणो तथा इन नारायणो के शत्रु नौ प्रतिनारायणों ने भी अपने अपने समय मे असाधारण पराक्रम द्वारा विविध प्रकार के आदर्श उपस्थित किये। इस प्रकार, कुल मिलाकर तिरसठ महापुरुषो की चर्चा जैनपद्धति मे प्राप्त होती है। इन महापुरुषो को 'त्रेसठ शलाकापुरुष' के नाम से अभिहित किया गया है। इन त्रेसठ शलाकापुरुषो की वीरगाथा जैनपुराणो मे विस्तार से तथा चरितकाव्यो और कथानको मे स्वयिता की प्रतिभा और रुचि के अनुसार न्यूनाधिक कलात्मक रूप से गाई गई है। इन्ही लोकोत्तर वीरपुरुषो—त्रेसठ शलाकापुरुषों मे कृष्ण की परिगणना की गई है।

जैन हरिवशपुराण मे हरिवश की एक शाखा यादवकुल और उसमे उत्पन्न दो शलाकापुरुषो के चरित विशेषतया वर्णित हुए हैं। एक तो हैं बाईसवें तीर्थंकर **नेमिनाथ** और दूसरे है नवें नारायण **कृष्ण**। ये दोनों चचेरे भाई थे, जिनमे एक ने अपने विवाह के अवसर पर बरातियो के स्वागतार्थ होने वाली पशुहत्या से विरक्त होकर परिणयपूर्व ही सन्यास-धर्म स्वीकार कर लिया और दूसरे कृष्ण ने कौरव-पाण्डव युद्ध मे अपना बल-कौशल दिखलाया। एक ने आध्यात्मिक उत्कर्ष का मानदण्ड स्थापित किया और दूसरे ने भौतिक अलौकिक लीला का विस्तार किया। एक ने निवृत्ति का नारा बुलन्द किया, तो दूसरे ने प्रवृत्ति का पथ प्रशस्त किया।

वैदिक धर्म मे कृष्ण को प्रवृत्ति के माध्यम से निवृत्ति का समर्थक सिद्ध किया गया है। यद्यपि व्यवहारतः कृष्ण प्रवृत्तिमार्गी दिखाई पड़ते हैं, तथापि मूलतः ये निवृत्तिमार्गी ही हैं। प्रवृत्ति इनका साधन अवश्य रही है, पर साध्य तो सदा निवृत्ति ही रही। किन्तु जैन परम्परा मे कृष्ण भौतिक लीला के विस्तारक वीर पुरुष की श्रेणी तक ही सीमित हैं। फिर भी, यह स्पष्ट है कि जैन परम्परा भी इन्हें भगवत्कोटि मे सम्मिलित करती है, इसलिए कि इनकी गणना त्रेसठ शलाकापुरुषो में की गई है और त्रेसठ शलाकापुरुषो या महापुरुषों मे भगवान् महावीर आदि चौबीस तीर्थंकर भी परिगणित है। अतएव, जैन मान्यता भी इन्हे भगवान् कृष्ण की उपाधि देने मे प्रतिकूल भावना का प्रदर्शन करती नही प्रतीत होती। यही कारण है कि जैन परम्परा कृष्ण को नवम नारायण का अवतार मानती है :

> आगत्य देवकीगर्भे निर्नामा सप्तमः सुतः।
> उत्पद्य भविता वीरो वासुदेवोऽत्र भारते ॥
> (हरिवंशपुराण, ३३।१७३)

अर्थात्, निर्नामिक का जीव देवकी के गर्भ में आकर सातवाँ पुत्र होगा (जैनेतर पुराणो के अनुसार कृष्ण देवकी की आठवी सन्तान माने गये हैं।) वह अत्यन्त वीर होगा तथा इस भरतक्षेत्र मे वासुदेव (नवम नारायण) के रूप मे प्रतिष्ठित होगा।

कृष्ण की भगवत्स्वरूपता को सकेतित करने वाला और एक पद्य :

> देवक्याः सप्तमः सूनुः शङ्खचक्रगदासिभृत्।
> निहत्य कंसपूर्वारीन् निश्शेषा भोक्ष्यति क्षितिम् ॥
> (हरिवंश० ३३।६३)

अर्थात्, देवकी का सातवाँ पुत्र शख, चक्र, गदा और खड्ग को धारण करने वाला होगा और वह कंस आदि शत्रुओं का विनाश कर समस्त पृथ्वी का राज्य करने वाला बनेगा।

कृष्ण अपने आविर्भावकाल से ही अलौकिक विशेषताओं से विभूषित थे। वे स्वयप्रकाश, महातेजस्वी और पुरुषोत्तम थे। कृष्ण की जन्मकालीन अतिलौकिकता का एक चित्र द्रष्टव्य है :

अथोदपादि श्रवणे तु पक्षे ह्यधोक्षजे भाद्रपदस्य
शुक्ले।
पवित्रयन् द्वादशिकां तिथिं तामलक्षित. सप्तम
एव मासे ॥
सशङ्खचक्रादि सुलक्षिताङ्ग. स्फुरन्महानील
मणिप्रकाशः।
स देवकी सूतिगृह स्वदीप्त्या प्रदीप्तिमान्
द्योतयतिस्म कृष्णः॥
स्वपक्षगेहेषु तदाऽऽविरासन् स्वतो निमित्तानि
शुभावहानि।
विपक्षगेहेषु भयावहानि प्रभावतस्तस्य नरोत्तमस्य॥
(हरिवशपु०, ३५।१९-२१)

अर्थात्, सब बालक नौ मास में उत्पन्न होते हैं, परन्तु कृष्ण श्रवण नक्षत्र मे भाद्रपद मास के शुक्लपक्ष की द्वादशी तिथि (जैनेतर मत से भाद्र-कृष्णाष्टमी) को पवित्र करते हुए सातवे मास मे ही अलक्षित रूप से उत्पन्न हो गये।

जिनका शरीर शख, चक्र आदि उत्तमोत्तम लक्षणों से युक्त था, जिनके शरीर से देदीप्यमान महानीलमणि के समान प्रकाश प्रकट हो रहा था और प्रकृष्ट कान्ति से शोभायमान थे, ऐसे कृष्ण ने अपनी कान्ति से देवकी के प्रसूतिगृह को प्रकाशमान कर दिया था।

उस समय उस पुरुषोत्तम के प्रभाव से स्नेही बन्धुजनो के घरो मे अपने-आप अच्छे-अच्छे निमित्त प्रकट हुए और शत्रुओ के घरो में भयोत्पादक निमित्त प्रकट होने लगे।

प्रसंगतः, एक बात ज्ञातव्य है कि जैनेतर पुराणो, विशेषकर श्रीमद्भागवत में कृष्णचरित्र का वर्णन करते समय पुराणकार महर्षि वेदव्यास ने कृष्ण को अतिमानवीय गुणो से समन्वित बताया है और फिर इनके द्वारा ऐसे-ऐसे करतब प्रदर्शित कराये गये हैं कि सहसा विश्वास नही होता। विश्वास तभी होता है, जभी हम इन्हे सर्व-शक्तिमान् ईश्वर मान लेते हैं। किन्तु, जैन हरिवशपुराण की वर्णन-शैली कृष्ण को महामानव मानकर पुरस्सर होती है। इसलिए, वर्णन चमत्कारपूर्ण होते हुए भी अतिप्राकृत कभी नही प्रतीत होता और न इनकी महामानवता या पुरुषार्थता पर ही कोई अचिन्त्य शक्ति हावी होती है। इसलिए, ऐसा कहा जा सकता है, और ऐसा कहने के अनेक प्रमाण भी जैन हरिवशपुराण मे है कि जैनेतर पुराणो के कृष्ण यदि अतिमानव है, तो जैनपुराणो के कृष्ण महामानव। ऐसा सहज ही सम्भव है, क्योकि जैन अनीश्वरवादी सम्प्रदाय के अनुयायी हैं और कर्मवाद पर उनकी प्रबल आस्था होने के कारण वे मानवीय गुणो की अवहेलना के समर्थक कदापि नही हो सकते। फिर भी, हम ऐसी बात दृढता से कहने की स्थिति मे इसलिए नही हैं कि जैनहरिवशपुराण मे ही जहाँ कृष्ण की बाललीला वर्णित है, वहाँ इनके एक-से-एक अतिमानवीय और कौतुकपूर्ण ऐन्द्रजालिक चमत्कारो को भी स्वीकृति मिली है। और, यह भी स्पष्टतया निर्दिष्ट है कि बालक कृष्ण एक बालक-मात्र नही थे, अपितु वे देवताधिष्ठित अद्भुतशक्ति सम्पन्न असुरसहारक लोकोत्तर पुरुष थे।

जैनो के कृष्ण ने भी रास रचाया था। वे रासक्रीडा के समय गोपबालाओ को अपने हाथ की अगुलियो के स्पर्श से होने वाले सुख का अनुभव कराते थे, परन्तु स्वय उसी प्रकार अतिशय निर्विकार रहते थे, जिस प्रकार उत्तम अगूठी में जडा उत्कृष्ट रत्न स्त्री के हाथ का स्पर्श करता हुआ भी सविकार नहीं होता। मूल श्लोक है :

कराङ्गुलिस्पर्शसुखस रासे—
स्वजीजनद्गोप वधूजनस्य ।
सुनिर्विकारोऽपि महानुभावो
सुमुद्रिकानद्धमणिर्यथार्घ्यः ॥
(हरिवंश० ३५।६६)

शलाकापुरुष या महापुरुष होना या भगवत्पद को प्राप्त करना आसान नहीं है, ऐसी बात कृष्ण के सम्पूर्ण ज्वालाकुल जीवन को देखते हुए साधिकार और सप्रमाण कही जा सकती है। कृष्ण ने एक-पर-एक आने वाले विघ्नो और प्राणो को संकट में डालने वाली आग्नेय परिस्थितियो पर विजय पाई थी, इसलिए इन्हे अलघ्य महातेज से सम्पन्न कहा गया है। अमेय बल और अद्भुत कौशल से विश्व में शान्ति स्थापित करने के उपलक्ष्य मे ही सन्तुष्ट देवताओ ने इन्हे 'नवें नारायण' की पदवी से सम्मानित करने की घोषणा की थी।

रणनीति मे कुशल कृष्ण जिस प्रकार एक सफल राजनीतिज्ञ थे, उसी प्रकार धार्मिक और सामाजिक क्षेत्रो मे इनकी तूती बोलती थी। युद्धवीर होते हुए ये दयावीर और दानवीर भी थे। इनका प्रताप बडा विशाल था। ये सात रत्नो—सुदर्शन चक्र, शार्ङ्गधनुष, मौनन्दक खड्ग, कौमुदी गदा, अमोघमूला शक्ति, पाच जन्य शख और कौस्तुभ मणि के धारक थे। गुणज्ञ, गणनीय और सदाविनत सोलह हजार राजप्रमुख एव आठ हजार आज्ञाकारी भक्त, गणबद्ध देवता इनकी निरन्तर सेवा करते थे।

जैन हरिवशपुराण ने, कृष्ण की अतुल बलशालिता के बावजूद, कहीं भी इन्हे 'भगवान्' शब्द से विशिष्ट नहीं किया है, इसके विपरीत यह दिखलाया गया है कि इन्हे भगवान् नेमिनाथ की शक्ति के सामने अपनी पराजय स्वीकार करनी पड़ी थी। एक बार की बात है कि कृष्ण ने भगवान् नेमिनाथ से मल्लयुद्ध की आकांक्षा प्रकट की। इस पर आसनस्थ नेमिनाथ ने कृष्ण को 'अग्रज' शब्द से सम्बोधित करते हुए आदर दिया और कहा : 'यदि मेरी भुजाओ का बल जानना ही है, तो सहसा इस आसन से मेरे पैर को विचलित कर दीजिए।' कृष्ण तत्क्षण कमर कसकर भुजबल से, जिनेन्द्र भगवान् को जीतने की इच्छा से उठ खड़े हुए, परन्तु पैर को विचलित करना तो दूर रहा, पैर की अंगुली को भी हिलाने मे समर्थ नहीं हो सके।

जैन परम्परा में ऐसा चित्रण इसलिए असहज नहीं कहा जा सकता कि वह तो केवल तीर्थंकरो को ही सदाजयी भगवान् के रूप मे स्वीकार करती है। और जैन हरिवशपुराण के कृष्ण अवश्य ही भागवतपुराण के कृष्ण नहीं हैं। जैन हरिवशपुराण के कृष्ण सर्वथा मौलिक एव अपारम्परीण कविसृष्टि है, हालाकि इस पुराण के मूलाधार मे जैनेतर कृष्ण चरित परक पुराण, जैसे हरिवश, भागवत, ब्रह्मवैवर्त, महाभारत आदि का प्रभावस्पर्श भी ढूढा जा सकता है। आचार्य जिनसेन की मौलिकता इसीमे है कि उन्होने जैनेतर ईश्वर कृष्ण को जैन अनीश्वर कृष्ण के रूप में चित्रित करने में अपने कथानक को सर्वथा भिन्न ऐतिह्य और प्राकृत आधार दिया, साथ ही उसे अपूर्व काव्य-वैभव से दीप्तकर अपनी प्रतिभा के प्रौढिप्रकर्ष की पार्यन्तिकता प्रतिष्ठित की।

जो हो, इतना निर्विवाद है कि जैन और जैनेतर दोनो परम्पराओ में कृष्ण का महत्त्व या महामानवत्व समान रूप से स्वीकृत है। दोनो पद्धतियो मे ये एक समान आदरणीय जननायक रहे है। दोनो परिपाटियो के सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक जीवन के लिए इनकी अनिवार्यता स्वयंसिद्ध है।

जैन हरिवंशपुराण के अन्त में, जरत्कुमार के बाण के आघात से मरणासन्न कृष्ण के मुख से जो सर्वधर्मग्राह्य अन्तिम उद्गार प्रकट हुए हैं, उनसे इनकी उदाराशयता और आध्यात्मिकता तो सिद्ध

होती ही है, उनसे इनकी महिमा भी बहुत ऊंची उठ जाती है। यह देखकर सचमुच इनके प्रति मस्तक नत हो जाता है और बडी तीव्र प्रेरणा मिलती है कि इतने महान् पुरुष का सारा जीवन दुःखमय रहा, जो जीवन निरन्तर परार्थ के समक्ष अपने स्वार्थ को होमता रहा। बाणाहत कृष्ण ने पश्चात्ताप करते हुए आखेटक जरत्कुमार से कर्मवाद के साथ ही दैववाद के समर्थन के स्वर मे विरक्त भाव से कहा है :

"अत्यधिक शोक मत करो। अवश्यम्भावी भाव महात्माओ के लिए भी अलघनीय होते हैं। अपयश और पाप से डरने वाला सज्जन पुरुष बुद्धि-पूर्वक प्रयत्न करता है, परन्तु दैव के कुटिल होने पर उसका वह यत्न क्या कर सकता है? समस्त जगत् अपने किये हुए कर्म को अवश्य भोगता है। ससार मे कौन किसको सुख देता है अथवा कौन किसको दुःख देता है? कौन किसका मित्र है या कौन किसका शत्रु है? यथार्थ मे अपना किया हुआ कार्य ही सुख अथवा दुःख देता है।

महावीर वाणी

जो मनुष्य अपना हित चाहता है, वह पाप को बढाने वाले क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार दोषों को सदा के लिए छोड दे।

—श्री सीवनकर

बुन्देलखण्ड का इतिहास एवं जैन पुरातत्व

—श्री दिगम्बरदास जैन
एडवोकेट
सहारनपुर

जैनधर्म वीरो का धर्म है और बुन्देलखण्ड वीरों की भूमि। इसलिए यहां के राजाओ और प्रजा पर जैनधर्म की प्रभावशाली अमिट छाप, नगर नगर मे कलापूर्ण प्राचीन विशाल जैन मन्दिर और पुरातत्व विभाग की खुदाई पर तीर्थकरो की मूर्तियो तथा शिलालेखों का स्थान स्थान पर अधिक संख्या मे भूगर्भ से पाया जाना स्वाभाविक है।

१-कृषिकालीन शिलालेख और २४ तीर्थ करों की मान्यता:—बुन्देलखण्ड के शिलालेख ऐतिहासिक सामग्री से भरपूर हैं। उनसे २४ तीर्थंकरो और उनके जैनधर्म की मान्यता आदिकाल से प्रमाणित है। भोगभूमि के बाद कल्पवृक्षो के नष्ट हो जाने पर कर्मभूमि के आरम्भ मे जनता की भूख को मिटाने के लिये खेती के ढंग आदि तीर्थंकर ऋषभदेव ने प्रचलित किये, इसलिये उनका समय कृषिकाल कहलाता है। इस युग के आदिकाल में आदि तीर्थंकर श्री ऋषभदेव का बिहार बुन्देलखण्ड मे हुआ था, जिसकी स्मृति में उनके पुत्र प्रथम

बुन्देलखण्ड की यात्रार्थ जाने वाले भाई जानते है कि किस प्रकार यहां के कण कण में जैन पुरातत्व और संस्कृति की सामग्री बिखरी पड़ी है। यही हाल कमो बेश भारत के अन्य प्रान्तों का भी है। राजस्थान में जैनों की इतनी संख्या होते हुए भी आज तक राजस्थान का क्रम बद्ध जैन इतिहास तैयार नहीं हुआ। यहां के ग्रामों में भी जैन पुरातत्व की अभी बहुत सी अनिरीक्षित सामग्री यों ही लापरवाही से पड़ी है जो इस ओर हमारी लापरवाही की सूचक है। ईश्वर जाने इस ओर हमारी इस घोर उदासीनता का अन्त कब होगा।

—सम्पादक

चक्रवर्ती भरत जिनके नाम पर हमारा देश भारत वर्ष कहलाता है [1] ने ऋषभदेव के मन्दिर बनवाये। बुन्देलखण्ड मे ऋषभदेव की पूजा होती थी। खजुराहो की खुदाई से १०८५ ई० का एक अभिलेख मिला जिसमे आदिनाथ ऋषभदेव की मूर्ति की प्रतिष्ठा का उल्लेख है। [2] अहार से भी एक अभिलेख आदिनाथ ऋषभदेव का प्राप्त हुआ [3]

२—प्रागेतिहासिक अजितनाथ के समकालीन सम्राट सागर ने जिनको प्रसिद्ध इतिहासकार डा० ताराचन्द ने अपने अहले हिन्द की मुखतसर तवारीख १६३४ पृष्ठ ३१ में प्राचीन भारत का एक महान सम्राट स्वीकार किया अजितनाथ की मूर्तिया और मन्दिर बुन्देलखण्ड मे निर्माण कराये। खजुराहो से एक प्राचीन अभिलेख मिला है जिसमे अजितनाथ तीर्थंकर की पूजा का कथन है। [4]।

३—**सिन्धु घाटी सभ्यता काल**—खजुराहो से तीसरे तीर्थंकर सभवनाथ की प्राचीन मूर्ति लेख सहित प्राप्त हुई। [5] नरसर की भूगर्भ से अभिनन्दन नाथ की ५ मूर्तिया प्राप्त हुई [6] जो शिवपुर जिला राज्य पुरातत्व सग्रहालय मे है। अजयगढ से चकुवा चिन्ह सहित सुमत नाथ की मूर्ति भूगर्भ से मिली। [7] ग्वालियर के अभिलेख १०६३ मे पद्मप्रभू को नमस्कार किया है। [8] सुपारस नाथ के समय बुन्देलखण्ड मे राजधर्म जैनधर्म था। आठवे तीर्थंकर चन्द्रप्रभु का बिहार बुन्देलखण्ड मे इतना अधिक हुआ कि वहा के निवासी उनके परम भक्त बन गये थे। एक नगर जहा उनका समोशरण आया, उनके नाम पर चन्देरी और दूसरा उनके चिन्ह चाद पर चादपुर आज तक प्रसिद्ध है। बुन्देलखण्ड मे मौर्या, गुप्त, हूण और चन्देलवशी राजाओं का अधिक राज रहा। मौर्या और गुप्त दोनों वंशो के प्रथम महान राजे चन्द्रप्रभु के नाम पर चन्द्रगुप्त कहलाते थे और चन्देलवशी का आदि पुरुष चन्द्र के नाम से प्रसिद्ध है। गुप्त वश वालो ने अपने सिक्को पर मध्य प्रदेश के प्रसिद्ध पुरातत्व वेत्ता राज मल के अनुसार बीना के राखा ग्राम के निकट बेता नदी से गुप्त राजाओ के बहुत से सिक्के मिले जिन पर तीर्थंकरो के चिन्ह बने हैं जिन से प्रमाणित है कि व तीर्थंकर उपासक थे। कुछ सिक्को पर चन्द्र प्रभू का चिन्ह चन्द्रमा भी अकित है। जैन मुनि हरिगुप्त का शिष्य और चन्द्रप्रभु का परम उपासक था। हूण वशी तौरमाण ने अपनी राजधानी ग्वालियर के किले मे चन्द्र प्रभु की मूर्ति स्थापित की। सोनागिर मे तो उनका समोशरण १५ बार आया, [10] जिनकी देशना से प्रभावित होकर श्रीपुर का महाराजाधिराज श्री अरिंजय मालवीय देश का महामाण्डलिक सम्राट धनजय और तैलाग दश के महाबली नरेश अमृत विजय आदि १५०० महाराजो ने बुन्देलखण्ड की सोनागिर से चन्द्रप्रभु भगवान के समोशरण मे दीक्षा ली। [11] नग और अनग दो राजकुमारो ने उत्तम राज भोग त्याग कर भरी जवानी मे चन्द्रप्रभु के निकट बुन्देलखण्ड के ही सोनागिरि पर जिन दीक्षा ली [12] और उज्जैन के महाराजा श्रीदत्त जिन के प्रभाव से २००० राजाओ के साथ दिगम्बर मुनि हो गया। [13] पुष्पदन्त की मूर्ति नरसर से प्राप्त हुई, जो शिवपुरी के सरकारी पुरातत्व जिला सग्रहालय मे सुरक्षित है। [14]

४—**गऊदान काल**.—शीतलनाथ के समय तक आहार, औषधी, अभय और ज्ञान य ४ ही दान प्रचलित थ परन्तु इनके समय मे गऊ, सोना, चान्दी आदि १० प्रकार के दान प्रचलित हो गये। इनकी तथा श्रीयांश, वासपूज्य, मल्लीनाथ, विमलनाथ, अनन्तनाथ, धर्मनाथ की बुन्देलखण्ड से प्राप्त मूर्तिया आज भी अहार के भूगृह मे प्रदर्शित हैं। [15]

५—**प्राचीन काल**.—देवगढ़ के मन्दिर न० १२ मे शातिनाथ की विशाल मूर्ति। अहार मे कुथनाथ और अरहनाथ की ११-११ फीट ऊची

विशाल मूर्तिया हैं। मल्लिनाथ की अनेक मूर्तिया पपौरा मे हैं।

६–रामायण काल: - मऊ से प्राप्त शिलालेख में मुनिसुव्रतनाथ का उल्लेख है, जो धुबेला के राज पुरातत्व सग्रहालय मे सुरक्षित है। २१ वें तीर्थकर नमिनाथ की दर्शनीय मूर्ति अहार मे है।

७–महाभारत काल.—के महापुरुष श्री कृष्ण के पिता वसुदेव के ज्येष्ठ भ्राता समुद्रविजय के पुत्र नेमिनाथ २२वे तीर्थंकर जिनको मऊ से प्राप्त ११४२ ई० के अभिलेख मे जगत का स्वामी तीनो लोक की शरण, ससार का मगल कर्ता कहा है। डा० फ्यूरर ने नेमनाथ को ऐतिहासिक पुरुष स्वीकार किया है।[१६] जिनका निर्वाण ८४५०० ई० पूर्व मे हुआ था।[१७]

८–प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल:–उदयगिरी (विदिशा) के गुप्त सम्वत १०६ (४२६ ई०) के गुहा लेख मे पार्श्वनाथ का उल्लेख है।[१८] श्री महावीर की मूर्तिया तो बुन्देलखण्ड के स्थान २ पर है। २४ तीर्थंकरो की मूर्ति का पट जिसकी मूलनायक मूर्ति अजितनाथ की है, महोब्वे मे चन्देलवशी राजाओ के किले के निकट से खुदाई मे प्राप्त हुई है।[१६] इस प्रकार सहायता, पुरातत्व इतिहास और शिलालेखो से ससार के आरम्भ से इतिहास के आरम्भ तक बुन्देलखण्ड में जैनधर्म का प्रभाव सिद्ध होता है।

६–ऐतिहासिक काल–मौर्यावश का राज बुन्देलखण्ड मे रहा, इसके प्रसिद्ध प्रथम सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्या (३१७–२६८ ई० पू०) जैनधर्मी और जैन आचार्य अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु के शिष्य थे।[२०] जिनका राज तक्षिला, सिन्ध, जहलम, पाकिस्तान, पंजाब, हरियाणा, हिमाचल अफगानिस्तान, बलुचिस्तान, हरात कंधार तक रहा। अपने समस्त राज्य में जैनधर्म का प्रचार कर वे जैन मुनि हो गये थे। चन्द्रगुप्त के पुत्र बिन्दुसार २६८–२७२ पूर्व ई०[२१] भी जैन धर्मी थे[२२] जिन्होंने पंजाब इराक इरान पाकिस्तान आदि देशो मे मध्य ऐशिया मे भी जैनधर्म का प्रचार किया। इसका पुत्र अशोक २७२–२३२ ई० पूर्व को कुछ विद्वान बुद्ध धर्मी और कुछ ब्राह्मण धर्मी बताते हैं, परन्तु प्रसिद्ध इतिहासकार विन्सट स्मिथ ने घोषणा की कि अशोक के शिलालेखों मे कोई बात उसे बौद्ध धर्मी सिद्ध नही करती, उसने अरब, मिश्र और युनान आदि देशो मे अपने धर्म का प्रचार किया परन्तु इन देशो मे बौद्ध ब्राह्मण धर्म का कोई चिन्ह नहीं मिलता बल्कि जैनधर्म की पुरातत्व सामग्री अधिक सख्या मे मिलती है।[२३] वास्तव मे जैन धर्मी था।[२४] सम्प्रति २३२–१६० ई० पूर्व तो निसन्देह जैन धर्मी था जिसने दूर २ अफरिका, मिश्र, अरब, यूनान, रूस चीन, जापान विदेशों तक जैन धर्म का प्रचार किया, इसका पुत्र शालि शुक १७०–१६० ई० पूर्व अपने पिता के समान जैनधर्मी थे, इन्होने दूर २ देशो तक जैन धर्म का प्रचार किया।[२५] इसके बाद दशरथ और फिर देव वर्मन, सत धनुष-वृहद्रथ राजा हुये और अपने कुल धर्म को अपनाया, जब इन सबने दूर देशो तक जैनधर्म का प्रचार किया तो अपने राजस्थल बुन्देलखण्ड मे कैसे जैन प्रभावना न करते?

१०–गुप्तवंश काल:– मे इतिहास रत्न डा० जोति प्रसाद के शब्दों मे बुन्देलखण्ड गुप्त साम्राज्य की एक प्रसिद्ध भूक्ति था।[२६] इसका प्रथम पुरुष गुप्त जिसके नाम पर यह वश गुप्त वंश कहलाता है, चन्द्र प्रभू का परम भक्त था, और उसने चन्द्र प्रभू का मन्दिर बनवाया था। विदिशा से खुदाई मे चन्द्र प्रभु की ऐसी कलापूर्ण मूर्ति मिली है जिन पर गुप्त वशी ब्राह्मी भाषा में चन्द्र प्रभु नाम खुदा है।[२७] चन्द्रगुप्त प्र० ३१५–३२८ ई० गुप्तवश का पहला सम्राट महाराजाधिराज उपाधि का धारी था,[२८] उसका विवाह भगवान महावीर के लिच्छवी वंश की जैन राजकुमारी कुमार देवी के

साथ हुआ था, [२९] जिसका इस पर इतना प्रभाव था कि उसने अपनी मुद्राओं में उसकी मूर्ति अंकित कराई [३०] और अन्य रानियों के अनेक योग्य ज्येष्ठ राजकुमारों के होते हुये भी उसने अपना उत्तराधिकारी लिच्छवी दौहित्र समुद्र गुप्त को बनाया। [३१] समुद्र गुप्त ३२८–३७८ ई० ने अपने राज्य मे जैन मन्दिर बनवाये। तीर्थंकरो की पूजार्थ बहुत सा द्रव्य मन्दिरो को भेंट किया। चन्द्र गुप्त द्वि० ३७९–४१४ ई० जैन आचार्य सिद्धसैन के शिष्य थे। अहिंसा व्रत अपनाने पर भी इतने योद्धा थे कि इतिहासकार इसको भारत का निपोलियन कहते हैं।* इनका सेनापति अमर कर देव जैन था जिस ने ४११ ई० मे जैन मन्दिर को तीथकरो की पूजार्थ एक ग्राम और २५ स्वर्ण मुद्राए भेट की जिनको उसने अपने दरबार मे नौरत्न बनाया। [३२] और राजाज्ञा द्वारा जैन सिद्धान्तो को इतना अपनाया कि उसके राज काल मे आने वाले चीनी यात्री फाह्यान (३९९–४१४ ई०) ने अपने भ्रमण मे लिखा कि मांस मदिरा तो क्या इसके राज मे लहसुन और प्याज आदि कदमूल तक का प्रयोग नही होता था। [३३] जैन मन्दिरो मे प्रति दिन तीर्थंकरो की पूजा के लिए इसने जैन मन्दिरो को कई ग्राम भेट किये। कुमार गुप्त ४१४–४५५ ई० राज काल में पार्श्वनाथ भगवान की मूर्ति प्रतिष्ठित हुई। स्कन्द गुप्त ४५५–४६७ ई० विक्रमदत्ता द्वि० पदवी का धारी था, इसने पाच परमेष्टियो की मूर्ति स्थापित कराई। पुरुगुप्त ४६७–४७० ई० नरसिह गुप्त ४७०–४७३ ई० कुमार गुप्त द्वि० ४७३–४७७ ई० बुद्धगुप्त ४७७–४९५ ई० वैण्यगुप्त ४९५–५०७, भानुगुप्त ५०७-५३५, दामोदरगुप्त ५३५-५५० ई० महासैन गुप्त, ५५०-५८० ई० और इसका पुत्र देवगुप्त ५८०-६०४ ई० जिसने मालवे पर राज किया, जैन मुनि हो गया था। [३४] देवगुप्त और हरिगुप्त दो राज कुमार तो दिगम्बर मुनि हो गये थे। [३५] इस प्रकार बुन्देलखण्ड मे गुप्त वश राज मे भी जैन धर्म फलता फलता रहा और उनके समय की अनेक मूर्तिया आज भी देवगढ, चन्देरी, आहार, और पपोरा मे विद्यमान है। पात्र केसरी, हरिषेण, रवि कीर्ति जैसे विद्वान् आचार्य भी इनके समय हुए जिन्होने अमूल्य रचनाएं देश को भेंट की।

हूणवंशः—का सम्राट तौरमन बडा क्रूर था। अनेक राज्य इस ने नष्ट कर दिये थे गुप्तो को विजय कर के बुन्धेलखण्ड पर भी इसने अधिकार जमा लिया था, परन्तु हरिगुप्त जैन मुनि के प्रभाव से वह जैन धर्मी हो गया था, [३६] उसने अपनी राजधानी ग्वालियर के किले मे चन्द्रप्रभू की विशाल मूर्ति स्थापित की थी।

चन्देलवंश—का आदि पुरुष चन्द्र प्रभु भगवान का इतना भक्त और उपासक था कि वह उनके नाम पर चन्द्र के नाम से प्रसिद्ध हुआ और उनकी सतान चन्देल कहलायी। इस वश का प्रथम राजा नन्नुक ८३१ ई० जैन धर्मी था। महोब्वा उसकी राजधानी थी। यहा की खुदाई पर उसके राजकाल की अनेक मूर्त्तिया मिलती है। इसके बाद वाक्पपति राजा हुआ, इसके दो पुत्र जैजा और बैजा थे। जिन्होंने क्रमश राज्य किया। इनके बाद राहिल और फिर हर्ष ९००–९२५ ई० राजा हुये, इनका पुत्र यशोवर्मन ९२५–९५४ ई० और फिर उसका पुत्र धग ९५४–१००२ राजा हुये जिसके प्रथम वर्ष ५५४ ई० मे खजुराहो का प्रसिद्ध पार्श्वनाथ मन्दिर निर्माण हुआ। [३७] यह जैन मुनि वासुव चन्द्र का बडा भगत था। धग के पुत्र गड १००२–१०२० ई० और फिर इसका पुत्र विद्याधर १०२०–१०६० ई० राजा हुआ। इसके राज्य काल मे १०२९ ई० मे खजुराहो के शातिनाथ मन्दिर मे आदि नाथ भगवान की प्रतिमा प्रतिष्ठित हुई, [३८] फिर कीर्ति वर्मा १०६०–११०० ई० और फिर मदन वर्मन ११००–११६३ और ई० फिर परमाल देव ११६३

–१२०३ ई० राजा हुये जिसके सेनापति महोवे के लोक प्रसिद्ध योद्धा आल्हा और ऊदल हुये [३९] अनेक जैन मन्दिरो और तीर्थंकर प्रतिमाओं की स्थापना इस राज्य काल मे हुई। आहार की विशाल शांतिनाथ मूर्त्ति इसी के राज्य काल मे ११८० ई० मे प्रतिष्ठित हुई। [४०] दिल्ली और अजमेर का पृथ्वीराज चौहान और कन्नौज का जयचन्द इसके प्रबल प्रतिद्वन्दी थे। [४१] वीर वमन देव के राज्यकाल की ११७४–११७८ की अनेक मूर्तिया बुन्देलखण्ड के मन्दिरो मे आज भी मिलती हैं। इस प्रकार ८३१ ई० से १३१० ई० तक बुन्देलखण्ड मे चन्देलवशी राज्य रहा। व जैन धर्म के सहिष्णु और प्रबल पोषक रहे। हमारा विश्वास है कि "वह २४ तीर्थंकरो के उपासक और अजितनाथ के विशेष रूप से पूजक थे। उनकी राजधानी महोबे से उनके किले के निकट से २४ तीर्थंकरो की मूर्ति का एक पट प्राप्त हुआ जिसकी मूलनायक विशाल मूर्ति अजित नाथ की है। युद्ध मे जाने से पहले वह उनकी पूजा करते थे।" युद्ध लडते समय भी वह तीर्थंकर उपासना न भूलते थे। उनकी फौजी राजधानी काल नगर की पहाडी से उनके फौजी छावनी किले के निकट से भी अनेक तीर्थंकरो की मूर्त्तियाँ प्राप्त हुई हैं। आज भी उनके राज्य-स्थल बुन्देलखण्ड की कन कन मे जैन वैभव के दर्शन होते हैं। स्थानाभाव से हम संक्षेप मे भी उनका वर्णन नहीं कर पाते फिर भी कुछ नगरो के नाम और उन ग्रथो और पत्रिकाओ की पृष्ठ सख्या देते हैं जिससे उन का महत्व खोजा जा सकता है —

१—(क) **अतिशय क्षेत्र खजुराहो,** पं० परमानन्द शास्त्री, अनेकान्त, १३।१६०

(ख) खजुराहों का पार्श्वनाथ जैन मन्दिर नीरज जैन, अनेकान्त १६।१२०

(ग) खजुराहों का घण्टा जैन मन्दिर, गोपी लाल अमर, अनेकांत १६।२२६

(घ) खजुराहो का आदिनाथ (ऋषभदेव) जिनालय, नीरज जैन, अनेकात १७।३७५

(ङ) खजुराहो का जैन सग्रहालय, नीरज जैन, अनेकात १८।१८

(च) खजुराहो सर्प फरण युक्त पार्श्वनाथ अनेकात १६।५५

(छ) खजुराहो का पार्श्वनाथ मन्दिर चित्र, डा० ताराचन्द अहले हिन्द मुख्तसर तवारीख पृ० १३३

(ज) खजुराहो का जैन मन्दिर और मूर्त्तिया, जैन अन्टेकुरी, दिसम्बर १६६८ पृ० १८

(झ) खजराहो के शिलालेख सग्रह भाग २

(य) खजुराहो से प्राप्त शान्तिनाथ का १०२८ ई० का लेख, कनिघम रिपोर्ट भाग २१ पृ० ६१

(र) खजुराहो के मन्दिर नं० २ मे सुपार्श्वनाथ की सर्पफरण युक्त मूर्ति अहिंसा। वाणी १६७०, पृ० ११८

(ल) खजुराहो के जैन मन्दिर मध्य प्रदेश की प्राचीन कला, अनेकान्त १६६४ पृ० ६८–६६।

(स) एस० सी० सरकार, खजुराहो टैम्पिल, हिन्दुस्तान इयर बुक, १६५२।

(प) जैन मनुमेन्टस एट खजुराहो सतना।

(फ) खजुराहो के मन्दिर, दिल्ली जैन डारेक्टरी १६६१, पृ० २३५।

(ब) खजुराहो मन्दिरो की दीवारों के कला पूर्ण चित्र केटेलोग आफ जैनीजम कोलेक्शनस इन म्युजियम आफ फाइन आर्ट बोस्टन (जर्मनी)

(ग) खजुराहो का पार्श्वनाथ मन्दिर, इनसाई-क्लोपीडिया आफ वर्ल्ड आर्ट लन्दन ४७२।

(ख) खजुराहों मे चक्रेश्वरी, पद्मावती, धर्नेन्द्र आदि यक्ष-यक्षिणियों की मूर्तिया। खजुराहो क्षेत्र द्वारा प्रकाशित कला पूर्ण रिपोर्ट।

२—**महोबा:—से** प्राप्त २४ तीर्थंकरो का अजित नाथ, मूलनायक युक्त पट्ट

(क) **सचित्र अहिंसा वाणी १९५९।** पृष्ठ ३६३

(ख) **महोबा से कुआ** खोदने से २४ तीर्थंकरो का पट्ट, दि० जैन डारेक्टरी बम्बई १९१४ पृ० २३५।

(ग) महोबे की पहाडियो मे चन्देल-किलो के निकट नेमिनाथ की ११५६ इ० की और अजित नाथ की ११६७ ई० की मूर्त्तिया सर्वे रिपोर्ट भाग २१ पृष्ठ ७३।

(घ) महोबे के मन्दिर और मूर्त्तिया, जैन एन्टीकुअरी दिसम्बर १९६८ पृ० १७।

(ङ) जैन धर्म और चन्देल राजे, जैन एन्टु-कुअरी भाग २५ पृ० १६ से २२

३—**चन्देरी** —२४ तीर्थंकरो की उसी रग की मूर्तिया जो रग उनके शरीर का था।

४—(क) **बुढ़ी चन्देरी:**—से सुपार्श्वनाथ व चन्द्र प्रभू आदि तीर्थंकरो की २१ मूर्तिया पुरातत्व विभाग की खुदाई पर प्राप्त, कर्निघम, सर्वे रिपोर्ट भाग २ पृ० २०४

(ख) बुढी चन्देरी के प्राचीन जैन मन्दिर और मूर्तिया, अनेकान्त १।३१८।

(ग) बुढ़ी चन्देरी के निकट बेतवा नदी के किनारे की बीठला ग्राम से माणिक रत्न की पद्म प्रभु की ५ इच ऊची मूर्ति प्राप्त अहिसा वाणी १९५९ पृ० ३६४।

(घ) बुढी चन्देरी के ७५ जैन मन्दिर। एक मे पानी झरता रहता है जिसमें स्नान करने से कोढ दूर हो जाता है। विदिशा का वैभव पृष्ठ २०९।

५—**जसौ** -प्राचीन जैन मूर्तियो का नगर जहां खोदो वहा जैन मूर्त्तिया खण्डहरो का वैभव।

६—**संरौन:**—ललितपुर से ६ मील, ६ जैन मन्दिर, १ हजार वर्ष से भी अधिक प्राचीन, शान्तनाथ की २० फुट उतग मूर्ति दिल्ली जैन डाइरेक्टरी पृष्ठ १३५।

७—**खम्वार**-मे चटान काट कर गुफा मे तीर्थंकरो की मूर्तिया। देहली डायरेक्टरी पृष्ठ १३५।

८—**थूबोन**-चन्देरी से ९ मील २५ दि० जैन मन्दिर। एक मे हनुमान जी की मूर्ति जो २ दिगम्बर जैन नग्न मुनियो को जिनको उनके पिछले जन्म के शत्रु ने प्रचण्ड अग्नि मे फेंक दिया था, अपनी विद्या बल से दहकती हुई अग्नि से निकाल कर आकाश मे ले जाते हुये दिखाया गया है।

९—(क) **नवागढ़** सग्रहालय की जहा सर्प फण युक्त पार्श्वनाथ की कुण्डली आसन पर कलापूर्ण मूर्ति, अनेकान्त फरवरी १९६३, पृ० १७७

(ख) नवागढ सग्रहालय नीरज जैन, अनेकान्त १५।३३७।

(ग) नवागढ एक महत्वपूर्ण जैन तीर्थ अनेकान्त फरवरी १९५९ पृ० २७७।

१०-(क) **द्रोण गिरि** डा० विद्याधर जोहरापुरकर, अनेकान्त, १७।१२३

(ख) द्रौणगिरि सिद्ध क्षेत्र कमेटी द्वारा प्रकाशित रिपोर्ट।

११-**नरसर** से प्राप्त अभिनन्दन, सुमतनाथ, पुष्पदन्त श्रीयाश, विमल नाथ, अनन्तनाथ, पद्मप्रभु, धर्मनाथ की भूगर्भ से प्राप्त मूर्तिया जो

आज भी शिवपुरी पुरातत्व सग्रहालय मे सुरक्षित है ।

१२-नरवर चन्देलवशी नरेश के महा योद्धा सेनापति उदल की ससुराल थी । जहा से एक शिला लेख मिला है जो ग्वालियर सग्रहालय मे हैं जिसमे कथन है कि यहा अनेक विशाल जैन मन्दिर थे । अनेकान्त १९७० पृष्ट ११० ।

१३-नलपुर से प्राप्त ऐतिहासिक शिलालेख जिसमे पार्श्वनाथ आदि तीर्थकरो की वन्दना की गई । अनेकान्त १९७० पृ० ११० । व १७४ से १८१ ।

१४-उदयगिरि विदिशा मे एक बूढी पिसनहारी का कलापूर्ण दक्षिणी जैन मन्दिर जिसको उसने पिसाई की आमदनी से बनवाया मध्य प्रदेश सन्देश पुरातत्व अक १३ जून सन् ७० पृ० ४५ ।

१५-विदिशा और ग्वालियर का पुरातत्व, विदिशा का वैभव ।

१६-(क) **मुक्ता गिरि** के ५२ जैन मन्दिर जिन मे कई चट्टान काट कर कलापूर्ण दशनीय है । मन्दिर मध्य प्रदेश सदेश १३ जून सन् ७० पृ० ६२

१७-पपौरा दिल्ली जैन डायरेक्टरी पृ० १३५ ।

१८-(क) **अहार** जैन मूर्तियो का खजाना । अनेकान्त १९।६२ ।

(ख) जैन अतिशय क्षेत्र अहार नीरज जैन, अनेकान्त १८।११७

(ग) शान्तिनाथ सग्रहालय अहार नीरज अनेकान्त १८।२२२ ।

(घ) अहार के प्राचीन मूर्ति लेख अनेकान्त ९।३८३, १०।२४, ६९ ९७, १५३ ।

(ङ) चन्देल राज मे अहार मे जैन वैभव । जैन एन्टीकुअरी दिसम्बर १९६८ पृ० २१ ।

(छ) अहार पुरातत्व सग्रहालय की अजित नाथ अभिनन्दन नाथ पुष्पदन्त धर्म नाथ अनन्त नाथ आदि तीथकर की अनेक मूर्तिया अहिंसा वाणी ११५९ पृ० ४२२ ।

(च) अहार का प्राचीन नाम मदनपुरी था । जैन मुनि को अनेक नगरो मे विहार करने और उसके कई मास के उपवास के बाद यहा अहार हुआ तब से इस नगर का नाम अहार हुआ । पाणाशाह व्योपारी का राग इस अतिशय भूमि पर चान्दी हो गया । ऐतिक विस्तार के लिये, अहार गजरथ की रिपो० ३१ १०-१९५९ ई० पृ० १३-१४ ।

१९-अजयगढ़ की पहाडी की चोटी पर चन्देल राजाओ के किले के जैन मन्दिर मे सुमति नाथ की मूर्ति जैन एन्टीकुअरी दिसम्बर १९६८ पृष्ट १९ ।

२०-बन्धा के भूगृह मे मल्लिनाथ की ११४२ ई० की प्रतिष्ठित तथा अनेक तीर्थकरो की मूर्तियाँ । बन्धा क्षेत्र का प्रकाशित बन्धा वैभव

२१-बानपुर मे ९४५ ई० का कलापूर्ण चौमुखा सहस्र कूट जिनालय अनेकान्त १९६३ पृ० ५१

२२-सौनागिरि चकी के आसार का कलापूर्ण मदिर बजनी शिला, नारियल कुण्ड मध्य प्रदेश का सदेश १३ जून सन् ७० पृ० ३०-३१ शीतल नाथ की चमत्कारी मूर्ति दिल्ली जैन डारेक्टरी पृ० २३५

चन्द्रप्रभु विशाल मन्दिर मे चन्द्र प्रभु की ऐसी शान्तिदायक मूर्ति कि २४-१०-६२ को

हम ने घण्टों दर्शन किये परन्तु हमारी तृप्ति नहीं हुई।

२३–**दूबेगढ़ के** राजाओं द्वारा निर्मापित जैन मदिर भारतीय इतिहास एक दृष्टि, पृ० १७६।

२४–**धुबेला** संग्रहालय, के जैन मूर्ति लेख बालचन्द जैन डिप्टी डायरेक्टर पुरातत्व विभाग, भारत सरकार, अनेकान्त, १९।२४४।

२५–**चन्देल युग** का एक नवीन प्रतिमा लेख, डा० ज्योति प्रसाद अनेकान्त ३।९८

२६–**बुन्देल खण्ड के** कविवर देवी दास, अनेकान्त ११।०७५

२७–**चन्द्रवाड** अतिशय क्षेत्र, परमानन्द शास्त्री, अनेकान्त, ८।३४५

२८–**श्रीपुर** अन्तरिक्ष पार्श्वनाथ, अनेकान्त, १८।९९

२९–**ऊन पावागिरि** के निर्माता महाराजा बल्लाल, अनेकान्त २२।२७

३०–प्रो० डा० कृष्ण दत्त बाजतेयी, अध्यक्ष पुरातत्व विभाग सागर विश्वविद्यालय, "भारतीय सस्कृति मे मध्य प्रदेश का योग"

३१–इतिहास रत्न अगरचन्द नाहटा, "मध्य प्रदेश का जैन पुरातत्व" अनेकान्त, २२।८९।

३२–बुलटन आफ एनसिएन्ट इन्डियन हिस्ट्री एण्ड आरचेलोजी भाग प्रथम, १९६७

३३–जिन विजय सूरि, "विभिन्न तीर्थ कल्प"।

३४–डा० जगदीश चन्द्र, "भारत के प्राचीन जैन तीर्थ" १९५२, वाराणसी

३५–**दंडक वन** विन्ध्याचल पर्वत के ही निकट, जहां राम लक्ष्मण और सीता ने गुप्ति और सुगुप्ति नाम के दो मुनियों को श्रद्धा पूर्वक आहार दिया, हमारा इण्डिया एण्ड वर्ल्ड पीस पृ० २।

३६ (क) ग्वालियर म्युजियम मे राजा बलि का बामन को ३ पग पृथ्वी देना।

(ख) "ग्वालियर किले के द्वार पर ३ विशाल जैन मूर्तिया," जमिर आर्ट आफ इन्डियन ऐशिया, भाग द्वितीय न्यूयार्क (यू० एस० ए०) चित्र ३९५।

(ग) "ग्वालियर के पुरातत्व सग्रहालय की जैन मूर्तिया,' नीरज अनेकान्त १६।२१४।

(घ) "ग्वालियर किले का इतिहास और जैन पुरातत्व" अनेकान्त १-।३ व १०१

(ङ) "ग्वालियर के तौमर राज वश मे जैन धर्म," अनेकान्त १९।२९३, २०।२, २।१ व ३३।

(च) "ग्वालियर नरेशो मे जैन धर्म," डा० ज्योति प्रसाद, भारतीय इतिहास एक दृष्टि, पृ० १७५।

(छ) "ग्वालियर मे जैन शासन,' अनेकान्त ६।१७।

(ज) "जैन साहित्य मे ग्वालियर," मुनि कान्ति सागर, अनेकान्त ३।५३६।

(झ) "गाईड टू दी आरचेकोलोजिकल म्यूजियम ग्वालियर।"

(य) ग्वालियर किले की कुछ जैन मूर्तिया," सचित्र दिगम्बर जैन (सूरत)।

(र) "ग्वालियर का इतिहास," अनेकान्त १९।३४

(ल) "ग्वालियर म्यूजियम," मध्य प्रदेश सदेश, पुरातत्व अक १३ जून, १९७०।

(प) "ग्वालियर किले का जैन वैभव," सन्मति सन्देश मार्च, १९६८। पृ० १८ जौलाई ६८, पृ० १९, फरवरी ६३

पृ० ६, नवम्बर सन् ६३, पृ० ५, सितम्बर १९६४, पृ० ३२।

३७–**पढावली**:–जिला मुरैना के पश्चिम में जैन मन्दिरो का आवेश के निकट कलापूर्ण एक दूसरे से लिपटी युगल नाग नागिनी मूर्ति, मध्य प्रदेश संदेश पुरातत्व अंक, १३ जून, १९७० पृ० २५।

३८–(क) देवगढ़ के २०० से अधिक शिला लेख, जैन शिला लेख संग्रह भाग २

(ख) 'देवगढ़ वैभव" नाथुराम सिंघई अनेकान्त वर्ष १ पृ० ९८।

(ग) "देवगढ का ऐतिहासिक अनुशीलन," प्रो० भाग चन्द अनेकान्त १६।२३२।

(घ) "देवगढ का शान्तिनाथ जिनालय," अनेकान्त, २०।९२।

(ङ) "देवो का गढ देवगढ," नीरज, अनेकान्त १७।१६७।

(ढ) "बन्धेलखण्ड का प्राचीन वैभव देवगढ," अनेकान्त ४।५१४।

(च) 'देवगढ का इतिहास," अनेकान्त १९।५८।

(छ) 'भारत का प्राचीन वैभव देवगढ," डा० जोति प्रसाद वीर, देहली देवगढ अधिवेशन अंक १९५६, पृ० ४५।

(ज) डा० भाग चन्द, प्रो० संस्कृत विभाग, शासकीय स्नातकोत्तर महा विद्यालय, सीहोर, भोपाल म० प्र०, "देवगढ की जैन कला का सांस्कृतिक अध्ययन," जिस पर उन्हे डाक्टरी उपाधि प्रदान हुई, १२० चित्र सहित।

(य) "देवगढ की जैन प्रतिमाएँ," डा० ज्योति प्रसाद, अनेकान्त १५।२७।

Archaelogy of Deogarh:—

(a) P. C Mukerji's Antiquities of the District Lalitpur, 1899.

(b) Conningham's Tours in Bundel Khand, 1875-76 Archaological Survey Report Vol. X P. 101.

(c) Dr. A. Fulrer's Monumental Antiquities and Inscriptions in N. W. provinces and Oudh P. 101.

(d) Dr. A. L. Jain's Indian Art, Culture & Jaina Philosophy at Deogarh.

(e) German Archaeologist Clause Brun's fully illustr ted, "The Images of Deogarh," in Germany Language, Its English Translation is also published & Hindi abstract in Vir, August 15, 1970 Page 5,

---

१. (i) हमारा शान्ति के अग्रदूत श्री वर्द्धमान महावीर, १९५४, पृ० ४१०
(ii) कल्याण, १९५०, पृ० ४२२, १९५६ पृ० ११२९, वर्ष २१ पृ० १५१.

२. Cunnigham, Survey of India Report, Vol II, P 461
३. E. P. Indica, Vol II, P. 232 to 240
४. Archaeological Survey of India Report, Vol XXI P. 69
५ E P Indica, Vol I P 153
६ शिवपुरी जिला सग्रहालय न० ४, ७३, १२२ वे १४५, १४६ की मूर्तिया
७ डा० ज्योति प्रसाद, अनेकान्त, वर्ष १३, पृ० ६८-६६
८ Indian Antiquary, Vol XV PP. 38 to 46.
९. विदिशा का वैभव, पृ० ३२१
१०. ११. १२ व १३, सोनागिरिसिद्ध क्षेत्र द्वारा प्रकाशित ' सोनागिरि की सचित्र पूजन पृ० २,"
१४ व १५ हमारा लेख, "ससार के पुरातत्व सग्रहालयो मे तीर्थंकर मूर्तिया और जैन पुरातत्व सामग्री"
१६ E. P. Indica, Vol I, P 389
१७ अनेकान्त वर्ष २२ पृ० १००
१८. Indian Antiquary, Vol. XI, P 310
१६ अहिंसा वाणी १६५६, पृ० ३६३
२०. २१ व २२. इतिहासकारो के अनेक प्रमाणो के लिये हमारा "वर्द्धमान महावीर" पृ० ४३६
२३. Dr. V. Smith, Early History of India.
२४. २५ टिप्पणी न० २०
२६ भारतीय इतिहास एक दृष्टि, पृ० १७२
२७. विदिशा का वैभव, पृ० ३२१.
२८ २६ ३० ३१ डा० ज्योति प्रसाद, भारतीय इतिहास एक दृष्टि पृ० १८०
३२. ३३. Dr. Kamta Pd. Religion of Tirthankaras.

* पंजाब शिक्षा विभाग से स्वीकृत ६ठी कक्षा का इतिहास

‡ भारत के प्राचीन राजवश भाग २ पृष्ठ २५८

३४. ३५. ३६. Shah, Jainism in Northern India, P. 210, 213,
३७. ३८. ३६. ४०. ४१. ज्योति प्रसाद, भारतीय इतिहास : एक दृष्टि, पृ० १७३, १७४, १७५

गत दो शतकों के ब्रजभाषा-जैन प्रबन्धकाव्यों में लक्ष्यानुसंधान

—डॉ० लालचंद जैन
एम ए., पी-एच डी.
हिन्दी विभाग, ज्ञान-विज्ञान महाविद्यालय,
वनस्थली विद्यापीठ (राजस्थान)

जैन और जैनेतर साहित्यकारों के साहित्य सृजन के उद्देश्यों में मौलिक रूप से अन्तर है। जैन साहित्यकार ने सुन्दर के साथ सत्य और शिव का मेल मिलाया है जब कि जैनेतर साहित्यकारों का लक्ष्य केवल सुन्दर ही रहा है। जैन साहित्यकारों की रचनाओं का जनसाधारण में प्रचार न हो सका यह भी उसका एक कारण है लेकिन इससे उनके कृतित्व का मूल्य कम नहीं आंका जा सकता।

—सम्पादक

प्रबन्धकाव्य का मुक्तककाव्य से एक भिन्न और महत् उद्देश्य होता है और इसी उद्देश्य के कारण वह कवियो के यश का मूलाधार माना गया है।[1] उसके सृजन के मूल मे एक महान् लक्ष्य होता है और उसकी विषय-वस्तु के विस्तार के कारण उसमे सहज ही अनेक आदर्शों की प्रतिष्ठा भी हो जाया करती है।

आलोच्यकाल मुख्यत रीति, शृगार और कला का काल था। इस युग के काव्य मे विलासिता एव ऐहिक सुख-भोग की प्रवृत्ति बढ चली थी, किन्तु आलोच्य काव्यो मे उससे भिन्न प्रवृत्ति (निवृत्ति मूलकता) का ही विनिवेश दिखायी देता है। कवि भूधरदास की निम्न पक्तियो से इस का संकेत मिल सकता है। इनमे शृगारी कवियो द्वारा नारी के उरोजो को स्वर्ण-कलश और उनके ऊपर दिखाई देने वाले श्यामवर्ण-बिन्दुओं को नीलमणि की उपमा दिया जाना कवि की खीझ का कारण बन गया है:-

कंचन कुंभन की उपमा कहि देत
उरोजन को कवि वारे ।
ऊपर स्याम बिलोकत के मनि
नीलम ढकनी ढक ढारे ।।
यों सत बैन कहे न कुपंडित
ये युग ग्रामिष पिंड उघारे ।
साधन झार दई मुंह छार,
भये इहि हेत किधो कुच कारे ।।

इन रचनाओं मे शृंगार की लहरें शान्त के प्रवाह मे विलीन हो जाती हैं, रस की यह परिणति रीति के झकोरो से मुक्त एक विशेष दिशा की सूचक है । इनमे भक्ति का स्वर भी प्रबल है और धार्मिकता या दार्शनिकता का भाव भी वर्तमान है, क्योंकि इनके प्रणेता इस प्रकार की आस्था से अनुप्राणित रहे हैं । सक्षेप मे आलोच्य रचनाए एक प्रकार से सत कवियो की रचनाए है । यह इसलिये नही कि ये सतो द्वारा रचित है, बल्कि इसलिये कि इनमे सत-प्रवृत्ति प्रधान है । इन कृतियो मे या तो "तिरसठ शलाका" पुरुषो का यशोगान है या आत्मतत्त्व की उपलब्धि के लिये रूपकात्मक और प्रतीकात्मक रूप मे दार्शनिक तथा आध्यात्मिक रहस्यो का उद्घाटन है या अन्यान्य चरित्रो के परिप्रेक्ष्य मे शील एव आदर्शों की प्रतिष्ठापना है ।

लक्ष्य-सधान की दृष्टि से काव्यो की वैराग्योन्मुख प्रवृत्ति का मूल उद्देश्य तत्कालीन अव्यवस्था से क्षत-विक्षत सामन्तवाद के भग्नावशेष पर खडे त्रस्त और पीड़ित मानव को स्फूर्ति और उत्साह प्रदान करके दिशान्तर मे प्रेरित करना है, जीवन-पथ में आच्छादित अन्धकार और निराशा को दूर कर उसमे आशा का आलोक भरना तथा विलास-जर्जर मानव मे नैतिक बल का सचार करना है ।[२] इनमें स्थल-स्थल पर जो भक्ति की अनवरत गगा बह रही है, वह भी इस भावना के साथ कि मानव अपने पापो का प्रक्षालन करले, अपने आत्मा के कालुष्य को धो डाले और इनमे जो आदर्श चरित्रो का उत्कर्ष दिखलाया गया है, वह इसीलिये कि उन जैसे गुणो को हृदय मे उतार ले ।

इस प्रकार आलोच्य प्रबन्धकाव्यो मे धर्म के दोनो पक्षो (आचार एव विचार) पर प्रकाश डालते हुए मानव को यह बोध कराया गया है कि धर्म और चरित्र ही मानव जीवन मे ऐसे सबल सहयोगी हैं जिनके बल पर जीवन भर मानव सकटो से भयभीत नही होता और कभी भी पराजय स्वीकार नही करता ।[३]

प्राय पूरे प्रबन्धो मे सघर्षात्मक परिस्थितियो का नियोजन और अन्त मे आत्म-स्वातत्र्य की पुकार है । उनके मध्य मे अनेक लोकादर्श समाये हुए हैं । लोकमगल की भावना उनमे स्थल-स्थल पर उभरी है । वहा पाप पर पुण्य, अधर्म पर धर्म और असत्य पर सत्य की विजय का उद्घोष है । उनमे अनेक ऐसे प्रसग आये है जहा हिंसा, क्रोध, वैर, विषयासक्ति, परिग्रह, लोभ, कुशील, दुराचार आदि मे लिप्त मानव को एक या अनेक पर्यायो (जन्मो) मे घोरतम कष्ट सहते हुए बतलाया गया है और अन्तत अहिंसा, अक्रोध, क्षमा, त्याग, विराग, अलोभ अपरिग्रह, शील, सयम, चरित्र आदि की श्रेयता पवित्रता और महत्ता सिद्धकर इहलोक एव परलोक के साफल्य का उद्घाटन किया गया है । उनका लक्ष्य राग नही विराग है, भौतिक नही आध्यात्मिक प्रेम है, भोग नही योग है, तप है, मोक्ष है । सक्षेप मे उनका लक्ष्य चतुर्वर्ग फलो मे से धर्म और मोक्ष की प्राप्ति है, अर्थ और काम उपर्युक्त दोनो फलो की उपलब्धि के साधन मात्र हैं ।

लक्ष्यानुसधान की दृष्टि से आलोच्य रचनाओ को कुछ वर्गों मे रखकर उनके उद्देश्य की ओर इगित किया जा सकता है.–

१–तीर्थंकरो का चरितगान और उनके उदात्त चरित्र से प्रेरणा ।

२–आचार पक्ष पर बल और नैतिक आदर्शों की प्रतिष्ठा ।

३–दार्शनिक परिपार्श्व में शुद्धात्मतत्व का सदेश ।

४–गुरु-भक्ति ।

५–अनूदित प्रबन्धकाव्य अतीत की सामग्री को वर्तमान की सम्पत्ति बनाना ।

१–तीर्थंकरों का चरितगान और उनके उदात्त चरित्र से प्रेरणाः—

पार्श्वपुराण (भूधरदास), वर्द्धमान पुराण (नवलसाह), नेमिनाथ चरित (अजयराज पाटनी), नेमिचन्द्रिका (आसकरण), नेमिचन्द्रिका (मनरगलाल), नेमीश्वररास (नेमिचन्द्र), नेमिनाथ मगल (विनोदीलाल) प्रभृति प्रबधकाव्य ऐसे है जिनका लक्ष्य तीर्थंकर चरित्रो की पृष्ठभूमि मे मानव को सासारिक भोगेषणाओ से निर्लिप्त रह कर उत्तरोत्तर आत्मविकास के सोपानो पर चढने के लिये प्रेरित करना है । इन प्रबन्धो के चरित नायक तीर्थंकर है जो तत्व-चिंतन द्वारा जीवन-शोधन के उपायो का अन्वेषण करते हैं, पूर्वजन्मो मे अगणित कष्ट सहते हुए आत्मविकास के लिये सतत प्रयास करते है, सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र से युक्त जीवन व्यतीत करते हुए तीर्थंकर भव (जन्म) मे करुणा, क्षमा, अहिंसा, त्याग, तप आदि धारण कर केवलज्ञान प्राप्त कर धर्मोपदेश देते है तथा अन्त मे निर्वाण प्राप्त करते है ।

इन प्रबन्धों मे कवियो का उद्देश्य तीर्थंकर के चरित्र के अतिशय को प्रकट करना है, यहा तक कि उनमें अलौकिकताओ का समावेश कर मानव को उनकी भक्ति के लिये प्रेरित करना है तथा उनके चरित्र से प्रेरणा ग्रहण करना है । उदाहरणार्थ पार्श्वनाथ के चरित्र को लिया जा सकता है । प्रारम्भ से ही उनका भाई उनका पक्का बैरी बन जाता है, अनेक जन्मो तक वह वैरभावना से उत्प्रेरित होकर उन्हें कितनी ही यातनाए देता है, उनके मार्ग मे अवरोध बनकर आ खड़ा होता है, उनकी निर्ममता पूर्वक हत्या तक भी करता है किन्तु पार्श्वनाथ आदि से अंत तक क्षमा की मूर्ति बने रहते हैं । उनका चरित्र हिंसा पर अहिंसा और बैर एव क्रोध पर क्षमा की विजय का प्रतीक है । कवि ने काव्यांत मे निर्देश किया है कि बैर और क्षमा मे से देख लीजिये कि कौन हितकर है ।[४] जो हितकर है, उसी को हृदय मे धारण कर लीजिये अर्थात् वैर-विरोध को छोडकर मैत्रीभाव को अपनाना ही श्रेयस्कर है ।

इसी काव्य मे स्वर्ग-नरक आदि के प्रसगो की उद्भावना के पीछे शुभाशुभ कर्मों के फल की ओर लक्ष्य कराना है । पाप और दुराचार के परिणाम स्वरूप आत्मा नरक मे पहुच कर कैसी-कैसी भयंकर यातनाए सहन करता है, कृत कर्मों का स्मरण कर कितना पश्चाताप करता है–यह भावना मनुष्य को उच्छृंखल बनने से रोकती और उसे सयमित करती है, एक सीमा तक मनुष्यता से गिरने से बचाती है । शुभ करूगा तो इस जीवन मे सुख मिलेगा और भावी जीवन में स्वर्ग-मोक्ष मिलेगा–यह भावना मानव के चरित्रोत्कर्ष मे सहायक बनती है ।

इसी प्रकार पार्श्वनाथ के तीर्थंकर रूप मे माता के गर्भ मे आने, जन्म लेने, तप को जाने, केवल ज्ञान होने और मोक्ष को जाने के समय जो इन्द्रादि की उपस्थिति धरती पर बतलायी गयी है और उन के द्वारा जो भक्ति स्तुति करायी गयी है, वह भी उनके चरित्र को आकर्षण का केन्द्र बनाकर वीतरागी के प्रति दिव्य अनुराग उत्पन्न करने, आराध्य की महत्ता और भक्त की लघुता को प्रतिपादित करने, स्मरण, दर्शन, स्तुति आदि द्वारा भक्तिभावना को दृढ करने के लिये ही । कहने का अभिप्राय यह है कि 'पार्श्वपुराण' की भांति उक्त प्रबन्धों

मे आत्मभावो, जैसे-सत्य, अहिंसा, क्षमा, ममता, सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र तथा पुण्य के सुखात्मक और पाप के दु खात्मक पक्ष आदि को उभार कर मानव को पाप से डरने, पुण्य-तप करने एवं शुद्ध-बुद्ध होने का प्रबोधन दिया गया है। उनमे मानव के हृदय मे यह विश्वास भरने का उद्देश्य छिपा हुआ है कि 'मैं ही कर्ता हू, मैं ही भोक्ता हू। मेरा स्वभाव स्वय अनन्त सुख-ज्ञान-दर्शनमय है। मैं अपनी वस्तु को बाह्य पदार्थों मे खोज रहा था, उनमे मेरी वस्तु कहा मिल सकती थी? कितनी बडी भूल थी मेरी! अब मैं देखता हूं कि मेरी समस्त शाश्वत विभूति मेरे ही अन्दर विद्यमान है। आवश्यकता है केवल आत्माश्रित क्रिया के द्वारा उस विभूति को आवृत करने वाले कारणो के समूल उच्छेद की। ज्यो ही ये प्रतिबन्धक कारण दूर होगे, मैं अपनी अनन्त विभूति का भोक्ता हो जाऊगा।

साराश यह है कि इन ग्रन्थो की रचना का लक्ष्य तीर्थंकरो के चरित्र के माध्यम से यह सिद्ध करना है कि प्रत्येक मानवात्मा धीरे-धीरे सामान्य अवस्था मे चलकर तीर्थंकर के पद तक पहुच कर आत्म विकास की अन्तिम कोटि को पा सकता है।

२—आचार पक्ष पर बल और नैतिक आदर्शों की प्रतिष्ठा:

सीता चरित (रामचन्द्र बालक), यशोधर चरित तथा श्रेणिक चरित (लक्ष्मीदास), शीलकथा (भारामल्ल), राजुल पच्चीसी (विनोदीलाल), निशि भोजन त्याग कथा, सप्तव्यसन चरित्र (भारामल्ल) वंकचोर की कथा (नथमल) आदि काव्यो का लक्ष्य धर्म के आचार पक्ष पर विशेष बल देते हुए शील, अहिंसा, क्षमा, व्रत, तप, त्याग आदि के महत्व एव आदर्श को रूपायित करते हुए मानव के हृदय पर यह छाप लगाना है कि जीवन में सुख, वैभव, यश तथा विजय की उपलब्धि के लिये इन्ही आत्म-भावो को अपना चिर सहचर मानना होगा।

उपर्युक्त काव्यो मे अधिकाशत. नारी नायको के माध्यम से शील का और गौण नारी पात्रो के माध्यम से कुशील का विशद विवेचन हुआ है। "शील" नारी का ही नही पुरुष का भी भूषण है। वह समस्त गुणो मे उत्कृष्ट है।[५] शील-मार्ग पर चलना असिधार पर चलने के समान है। उस मार्ग पर चलते हुए जान को हथेली पर रखकर आगे बढना पडता है, बाधाओ की शैल श्रेणियो से टकराना पडता है और पग-पग पर प्रतिकूल परिस्थितियो का सामना करना पडता है जैसा कि 'सीता चरित्र' की सीता, राजुल पच्चीसी की राजुल, शीलकथा की मनोरमा आदि के चरित्र से प्रकट होता है।

दूसरी ओर कुशील के समान कोई भ्रष्ट आचरण और चरित्र पर कोई दूसरा कलक नहीं है। उससे यदि वह पुरुष है तो पुरुष जाति का और यदि वह नारी है तो नारी जाति का घोरतम अपमान होता है। उससे क्लेशकारक कर्मों का बंधन होता है और इस भव मे अपमान और अपयश तथा परभव मे नरकादि का भागी बनना पडता है, जैसे-'यशोधर चरित' की अमृतमती। इसी प्रकार शील भग करना तो दूर, उसके लिये प्रयास भर करने कराने का अपराध जघन्य और अक्षम्य है। उसके परिणाम मे उसका हृदय ग्लानि और पश्चाताप से भर उठता है और कठोरतम दण्ड सहना पडता है, जैसे-"पार्श्वपुराण" मे कमठ,[६] शील कथा मे दूती, राजगृह नगर का राजकुमार,[७] हसदीप मे राजरानी, "सीता चरित" मे रावण आदि।

'यशोधर चरित" और "श्रेणिक चरित" का लक्ष्य हिसा की भर्त्सना और अहिंसा की प्रतिष्ठापना है।[८] निशि-भोजन कथा तथा वकचोर की कथा का लक्ष्य शील, सयम व्रतादि की महत्ता का निदर्शन है।

"जीवंधर चरित" (दौलतराम) काव्य अहिंसा की भूमि पर आधारित है। वह एक मुनि के मुख द्वारा चरित नायक जीवधर से कहलवाया गया है कि हे जीवधर ! तुमने अपने पूर्व जन्म मे अपने माता-पिता के पास क्रीडा करते हुए एक हस-शावक को उठा लिया था, और सोलह दिन तक उस हस शावक को उसकी माता से भी अलग रखा था। वह हस मत्री काष्टागारिक था जिसने तेरे पिता का वध किया और सोलह दिन तक हस शावक को माता से जुदा करने का फल यह हुआ कि तू जन्मोपरात से ही अपनी माता से सोलह वर्ष तक अलग रहा।[8]

इन प्रबन्धो के माध्यम से मानव को यह समझाना उनका मुख्य उद्देश्य रहा है कि आचारगत पवित्रता से जीवन मे सरलता और सुन्दरता बरसती है, चरित्र उत्कर्ष को प्राप्त होता है और मानवादर्शो की रक्षा होकर मानवता का कल्याण होता है। इसके विपरीत भ्रष्ट आचरण का फल गर्हित और कष्ट जनक होता है।

३–दार्शनिक परिपार्श्व में शुद्धात्मतत्व का संदेश –

"चेतन कर्म चरित" और "शत अष्टोत्तरी" (भैयाभगवती दास) प्रबन्धकृतियो का लक्ष्य कुबुद्धि माया, लोभ, मोह, अष्टकर्म, काम, भोग, विषय, राग, द्वेष, कषाय आदि आत्मशत्रुओ[10] को जीतकर शिवस्वरूप शुद्धात्म तत्व की उपलब्धि का बोध कराना है। इनमे प्रतीक और रूपको[11] के सहारे दर्शन और अध्यात्म के गूढ़ एव सूक्ष्म तत्वो के विश्लेषण द्वारा शरीर और ससार की नश्वरता[12] प्रवृत्ति मार्ग (भौतिकवाद) की निस्सारता तथा आत्मा की श्रेयता और प्रेयता का चेतन को मान कराया गया है[13] तथा उसे यह उद्‌बोधन दिया गया है कि तू आत्मशत्रुओ के वशीभूत होकर अपना सत्पथ भूल गया है, अधकार मे दौड लगाता हुआ नाना कष्ट पा रहा है।[14] यह तेरा साध्य नही है, अतः तू अपने घट के पट खोल,[15] प्रवृत्तियो के विकृत रूप के प्रति विद्रोह कर और अपने शत्रुओ से पूरी शक्ति के साथ युद्ध कर। तू इस महायुद्ध मे विजयी होगा और अपना खोया हुआ राज्य प्राप्त कर अनन्त सुख का भागी बनेगा।[16]

"पंचेन्द्रिय सवाद" (भैया भगवतीदास) प्रबन्ध-काव्य का लक्ष्य मनुष्य को इद्रियो की दासता की लोह श्रृ खलाओ से मुक्त होने का पाठ पढाना है। कवि ने आख, नाक, कान, रसना आदि का मानवीकरण कर इन्ही के पारस्परिक सवादो द्वारा एक-दूसरे को अपदस्थ कर इनके अह को चूर किया है[17] और इद्रियो के स्वामी मन की भर्त्सना कर[18] आत्म तत्व को पहचानने का सदेश दिया है।[19] यहा यह समझाने की चेष्टा की है कि इन्द्रियादि मे आसक्ति का परिणाम वेदना, भय, ग्लानि, पश्चाताप एव नाना कष्टो को निमत्रण देना है और उनकी दासता इतनी भयंकर है कि जीव अभिशापो से अभिशप्त होता ही जाता है।[20] अत. "स्व" को भूलकर "पर" की सेवा मे रत रहना कहा की बुद्धिमानी है ? कल्याण इसी मे है कि इन्द्रिय गत राग को छोडकर आत्मा से अनुराग किया जावे।[21]

४–गुरु-भक्ति :

सूआ बत्तीसी (भैया भगवतीदास) काव्य का उद्देश्य गुरु-भक्ति-भावना को परिपक्व करना है और भूले-भटके मानव को यह सदेश देना है कि गुरु अपने स्पर्श से लोहवत शिष्य को शुद्ध कचन बना देता है। गुरु की पीयूष वाणी विस्मृत कर देने से मनुष्य की वैसी ही गति होती है, जैसे पढे–पढाये तोते की हुई थी।[22] गुरु वचनो के पुनर्स्मरण से वह भवजाल से वैसे ही मुक्त हो सकता है, जैसे तोता मुक्त हुआ था।[23] वस्तुत गुरु ससार से तरने की तरी है। उसकी महिमा का कोई आर–पार नही है।

"मधुबिन्दुक चौपई" (भैया भगवतीदास) काव्य का उद्देश्य भी पाठको के मानस मे गुरु-भक्ति

की प्रगाढ भावना भरना है। गुरु के वचनो के अनुकूल आचरण न करना कितना भयानक है और कितना कष्टप्रद, इस तथ्य को कवि ने बडी मार्मिकता से निर्दशित किया है। अज्ञानी पुरुष ससार के महावन मे भटकता हुआ अधकूप मे गिरकर पतन की चरम सीमा को पहुच जाता है, विषय-लोलुपता के कारण निस्सीम वेदना को सहता है क्योकि वह गुरु के सदेश पर कान नही देता। अत जो पुरुष विषयाश्रित है, वह अधकूप मे पडे हुए व्यक्ति की भाति सदैव अतिशय पीडा से पीडित और व्याकुल रहता है।[२४]

५–अनूदित प्रबन्ध काव्य : अतीत की सामग्री को वर्तमान की संपत्ति बनाना:—

लक्ष्य की दृष्टि से अनूदित प्रबन्धकाव्यो पर भी विचार कर लेना उचित होगा क्योकि उनकी सख्या भी काफी है। उनके प्रणेताओ का मुख्य लक्ष्य धर्म भावना का प्रचार एव प्रसार रहा प्रतीत होता है।[२५] इसी हेतु उन्होने प्राचीन प्रबन्धकाव्यो को उस युग की भाषा-ब्रजभाषा मे छन्दोबद्ध रूप मे ढालने का प्रयास किया है। इस दिशा मे विशेषकर सस्कृत के प्रबन्धो को अनुवाद रूप मे प्रस्तुत किया गया है। सस्कृत के प्रबन्धकाव्यो को समझने की क्षमता साधारण पढे लिखे लोगो मे नही थी, अत. उन्हे अनुवाद द्वारा जन साधारण के निकट लाने का प्रश्न भी कम महत्वपूर्ण नही था। इस कार्य के मूल में निज-पर हित की भावना ही प्रधान रही है।[२६] साथ ही मूल कृतियो के भावो को सुरक्षित रखते हुए उन्हे रसात्मक रूप मे सामने रखने का बराबर उद्देश्य रहा है।[२७] इस प्रकार जीवधर चरित (नथमल बिलाला), जिनदत्त चरित (बख्तावरमल), वरागचरित (पाडे लालचन्द), धर्म परीक्षा (मनोहर दास खडेलवाल), श्रेणिक चरित (रत्नचन्द), भद्रबाहु चरित (किशनसिंह), पाण्डव पुराण (बुलाकीदास), पद्मपुराण (खुशालचन्द), जिनदत्त चरित (कमलनयन), नागकुमार चरित (नथमल बिलाला) प्रभृति प्रबन्धकाव्यो को जनसाधारण की धरोहर बनाने का श्रेय उनके प्रणेताओ को है।

निष्कर्ष यह है कि लक्ष्य-सधान की दृष्टि से आलोच्य काव्यो को विविध पक्षो मे रखकर देखा-परखा जा सकता है। प्रत्येक कृतिकार का जैसे स्वतत्र व्यक्तित्व है, वैसे ही उसकी कृति का स्वतत्र लक्ष्य है। इतना अवश्य है कि ये कवि अन्तर्मुखी अधिक रहे है और साहित्यिकता के साथ-साथ धार्मिक आस्था को लेकर चले और आगे बढे है। उनकी कृतियो मे धार्मिक तत्वो की स्थल-स्थल पर झलक है, भक्ति–भावना का सहज सन्निवेश है, आत्म-तत्व की उपलब्धि के लिए चिन्तनात्मक दार्शनिक भूमि है और चतुर्वर्ग मे से धर्म और मोक्ष की सिद्धि है।

१–"प्रबन्धेषु कवीन्द्राणा कीर्तिकदेषु किं पुन" कुन्तक वक्रोक्ति जीवितम्, ४।२६

२–नेमिचन्द्र शास्त्री हिन्दी जैन साहित्य परिशीलन।

३–डा० रवीन्द्र कुमार कविवर बनारसीदास (जीवनी और कृतित्व) पृ० ७६।

४–पार्श्वपुराण, पद्य ३२०, पृष्ठ १७४।

५–(क) शील कथा, पृष्ठ ७८।

(ख) श्रेणिक चरित, पद्य ४७३, पृष्ठ ३४।

(ग) राजुल पच्चीसी पद्य १४, पृष्ठ ८।

६–राजा अति ही रिस कीनो।
सिर मुड दड बहु दीनो।
मुख के कालोंस लगाई।
खर रोप्यौ पीर न आई॥
फिर सारे नगर फिरायो।
प्रति बीथी ढोल बजायो।
इम भांति कमठ की ख्वारी।
देखे सब ही नर नारी॥
पुरवासी लोक धिकारे।
बालक मिलि ककर मारे।

पार्श्वपुराण, पद्य ६०–६३, पृष्ठ १२।

७–पकरे ताके तब चरन सार।
धरती पै पछारो तीन बार॥
फिर हाथ पाय कसकै बनाय।
बाधे ताके मुसकें चढाय॥
कर ऊर्ध्व चरन लटकाय दीन।
कर नीचेको मुख त्रास दीन॥

शील कथा, पृष्ठ ४३।

८– यशोधर चरित, पद्य ६१०–११।

९–जीवधर चरित, पद्य १५ से ३६, पृष्ठ ३६–४०।

१०–चेतन कर्म चरित्र, पद्य १८०–८१ पृष्ठ ७३।

११–काया सी जु नगरी मे चिदानन्द राज करै,
माया सी जु रानी मे मगन बहु भयो है।
मोह सो है फोजदार क्रोध सो है कोतवार।
लोभ सो है वजीर जहा लूटिबे को रह्यौ है
॥ २६ ॥

शतअष्टोत्तरी, पृष्ठ १४।

१२–बालपने नित बालन के सग,
खेल्यो है ताकी अनेक कथा रे।
जीवन आप रम्यो रमनी रस,
सोउ तो बात विदित यथा रे॥
वृद्ध भयो तन कपत डोलत,
लार परे मुख होत विथा रे।
देखि सरीर के लच्छन भैया,
तू चेतत क्यो नहिं चेतन हारे॥

—वही, पृष्ठ १६।

१३–चेतन कर्म चरित पद्य २८२–८३ पृष्ठ ८३।

१४–चेतन जीव निहारहु अतर,
ये सब हैं पर की जड काया।
इन्द्र कमान ज्यो मेघ घटा महिं,
सोभत है पै रहे नहिं छाया॥
रैन समै सुपनो जिम देखतु,
प्रात वहै सब झूठ बताया।
त्यो नदि नाव सयोग मिल्यो
तुम चेतहु चित मे चेतन राया॥

—शतअष्टोतरी, पृष्ठ १६।

१५–वही, पृष्ठ १०।

१६–निश्चय दृष्टि देख घट माहिं,
सिद्ध रु तोमहि अतर नाहिं॥
ये सब कर्म होय जड अग।
तू 'भैया' चेतन सर्वंग॥

चेतन कर्म चरित्र, पृष्ठ ८३।

१७–पचेन्द्रिय सवाद पद्य १३-६३,
पृष्ठ २३६–२४७।

१८–मन इन्द्री सगति किये रे,
जीव परै जग जोय।
विषयन की इच्छा बढै रे,
कैसे शिवपुर होय॥ १३३।

वही, पृष्ठ २५०।

१९-वही, पृष्ठ २४९-५०।

२०-पचेन्द्रिय सवाद, पद्य
१२५ से १३१, पृष्ठ २५०।

२१-वही, पद्य १३४ से १३५,
पृष्ठ २५१।

२२-आये दुर्जन दुर्गति रूप।
पकड़े सुग्रटा सुन्दर भूप।।
डारे दुख के जाल मझार।
सो दुख कहत न आवै पार।
भूख प्यास बहु सकट सहै।
परवस परे महा दुख लहै।।
सुग्रटा की सुधि-बुधि सब गई।
यह तो बात और कछु भई।
आय परे दुख सागर माहि।
अब इततै कितको भजि जाहि।।
सूआ बत्तीसी, पृष्ठ १६८-६९।

२३-सुग्रटा सोचे हिये मझार।
ये गुरु साचे तारन हार।
मै सठ फिरयो करम वन माहि।
ऐसे गुरु कहु पाये नाहि।
अब मो पुण्य उदे कछु भयो।
साचे गुरु को दर्शन लयो।।
गुर की गुण स्तुति बारबार।
सुमिरै सुग्रटा हिये मझार।।
सुमिरत आप पाप भजि गयो।
घट के पट खुलि सम्यक थयो।।
—वही, पृष्ठ २७०।।

२४-मधु की बूंद विषै सुख जान।
जिस सुख काज रह्यो हित मान।।
ज्यो नर त्यो विषयाश्रित जीव।
इह विध सकट सहै सदीव।।
विद्याधर तह गुरु समान।
दे उपदेस सुनावत कान।।
आवहु तुमहि निकासहि वीर।
दूर करहि दुख सकट भीर।।

तुम हू मूरख मानै नाहि।
मधु की बूद विषै ललचाहि।।
इतनो दुख सकट सह रहे।
सगुरु वचन सुन तज्यो न चहै।।
तैम ज्ञानहीन जियवन्त
ए दुख सकट सहैं अनत।।
—मधुबिन्दुक चौपई, पद्य ४८-५१,
पृष्ठ १३८-३९।

२५-मल्लिनाथ मदिर विषै,
रच्यौ पुरान महान।
अति प्रमाद रस रीति सो,
धम बुद्धि उर आन।।
शातिनाथ पुराण, पद्य ४६५१, पृष्ठ १६०।

२६-भट्टारक श्री वर्द्धमान अति ही विसाल मति।
कियो सस्कृत पाठ ताहि समझै न तुछ मति।।
ताही के अनुसार ग्रन्थ जो मन मे आया।
निज पर हित सुविचार 'लाल' भाषा करि-
गायो।।
वराग चरित पद्य ६६, पृष्ठ ८३।

आंगल भाषा
English Section

1	Jain Iconography (A brief outline)	Dr D N Shukla	1
2	The Jaina Path of Religion	Dr Jyoti Prasad Jain	9
3	Padarthism	Ram Chandra Jain	13
4	Pure Thoughts	" "	20

सार्वजनिक पुस्तकालयो, शास्त्र-भडारो एव निजी सग्रह के लिए

खरीदने योग्य

श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी

के

साहित्य शोध विभाग द्वारा प्रकाशित

एव

देश-विदेश के प्रमुख विद्वानो द्वारा प्रशसित

ग्रन्थ

१ राजस्थान के जैन शास्त्र भडारो की ग्रथ सूची (चार भागो मे) ००
२ प्रशस्ति सग्रह स० डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल ७ ००
३ हिन्दी पद सग्रह (प्राचीन जैन कवियो के ४०१ पदो का उत्तम सग्रह)
४ जिणदत्त चरित (हिन्दी की आदिकालिक काव्य कृति) ५ ००
५ प्रद्युम्न चरित (ब्रज भाषा का प्रथम काव्य) ८ ०
स० प० चैनसुखदास न्यायतीर्थ व डा० कासलीवाल
६ राजस्थान के जैन सत (व्यक्तित्व एव कृतित्व) स० डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल ६ ०
७ Jain Granth Bhandars in Rajasthan (शोध प्रबन्ध) १५ ०
स० डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल
८ जैन शोध और समीक्षा डॉ० प्रेमसागर जैन ४ ००
९ सर्वार्थ सिद्धिसार स० प० चैनसुखदास न्यायतीर्थ
१० तामिल भाषा का जैन साहित्य २५
११ Jainism —A Key to true happines (अप्राप्य) ४ ००
१२ चम्पा शतक (भक्ति परक पदो का अपूर्व सग्रह) ००
१३ राजस्थान के जैन शास्त्र भडारो की ग्रथ सूची (पचम भाग) प्रेस मे —

प्राप्ति स्थान

मन्त्री कार्यालय
प्रबन्धकारिणी कमेटी
दि० जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी
महावीर भवन
जयपुर (राज०)
टेलीफोन ७३२०२

मैनजर कार्यालय
दि० जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी
श्री महावीरजी (राज०)

JAIN ICONOGRAPHY

(A brief outline)

BY

Dr. D. N. Shukla, *M.A., Ph.D., D.Litt.*,
Sahityacharya, Sahityaratna, Kavyatirtha,
Proficient in German, Silpa-kala-akalpa,
Senior Prof. & Head of post graduate studies
and researches in Sanskrit, Sanskrit Deptt.,
Panjab University, Chandigarh

Foundation of Jain Iconography:— Let us just try to know its foundation, the institution of worship which Jains evolved. This institution to which the Jainas were wedded presupposes in its turn the general tenents of Jainism — its philolosophy and its ethics And so while taking all these into our consideration, naturally, the most logical question which crops us is to say a few words on the rise of Jainism itself — its antiquity and evolution.

It may be asserted at the very outset that Jainism is not any new religion in India. Originally it was only an off-shoot from Hinduism. It mav have been a reaction to some of the most intolerant institutions like Yajña and its implied animal sacrifice and unwisely parapher-nalia difficult to be adhered to by ordinary run of m n. Religion in India has always been a way of hearty doing rather than a belief of the mind. Those who stood for a new gospel must have been the pioneers of simple, sacred and pious life which characteristic has never left Jainism. Now when this pure and serene original spring began to flow into many a channel and required newer and newer land, naturally, the mud of dogmatism changed its colour. It acquired a new dogma, its own philosophy (metaphysics) and ethics Vedism (the fountain head of Yajña) was the first target. Anyone questioning the authority of the Vedas was regarded and discarded as heritic. The Jainas and the Baudhas both, who questioned the Paramount Authority of Hinduism, were labelled as heterdox. The Jainas accepted the challenge-promulgat-ed their own religious tenets, formulated a philosophy of their own and worked out an ethical code for their daily routine — collective as well as individual life. Thus heresy was supreme.

As it is an introduction to Jain iconography, we are not going to dwell at lengh at Jain religion. It is enough to point out here that as Buddhists evolv-ed their own Scriptures in place of Vedic

scripture so did the Jains. These are called *Angas* and *Sūtras*. The most important characteristic features which gave the Jainism a stamp of their own, were the extremity of tenderness shown towards an animal life — Ahimsā and the Saint-worship (i e. the worship of the Tirthankaras who were regarded superior even to gods), The latter element of Saint - worship simply humanised Jainism

Avoiding other details in regard to the views of the Jains their conception of Mokṣa unlike the negative concept of Nirvana of the Buddhists (cf the doctrine of 'Śūnya' — vide Monism of Sankara), rests on the positive significance implying absolute purity and freedom from the snares of Karma

In metaphysics, Jainism recognises a pluralistic realism which is very much influenced from and is akin to the Nyaya-Vaisesika theory of Hindu Philosophy. The Doctrine of Syād-vāda (may be or may not be) or the seven methods of predication (sapta-bhangi nyāya) gives Jain Philosophy a scientific and a rational approach by which knowledge is characterised as a synthetic approach

It is in the realm of their ethics that foundation of temples and worship of the Saints come and that is what is directly related to our subject. The ethical organisation of the Jainas like that of Buddhists, prescribes a code of religious conduct both for the Monks and the Laity-vide the five-fold vow (practically the same as we have in our Yoga-Darsana-ahimsa, asteya etc.) The Monks are Yatis, the Laity, the Śrāvakas. The former can do away with worship, the latter are enjoined as a rule, to visit a temple and pay their homage to the Tirthaṇkaras by worshipping them

Antiquity of Image-worship among the Jains :—The question is no more controversial, antiquity of Jainism may be still a problem but its image-worship is not a problem. Worship as a historical examination is preposterous, it should always be examined from the broad cultural standpoint Worship in some form or other was the life-companion of man, it may be of aniconic or iconic. In the rise of Jainism, the rise of worship must have been first aniconic—vide the early archeological evidence of stupas (i e 7th Century B C. stupas built in honour of Suparasvana ha) and the Ayagapaṭas etc. etc There are so many evidences for the iconic traditions among the Jains — vide inscriptions (Hathigumpha) proving the antiquity of the image worship and a good many illustrations of the images themselves cf Khandagiri and Udaigiri caves, fully illustrating this evidence and they are all a testimony to do away with this question. Kautilya mentions Jain deities Jayanta, Vaijayanta, Aparajita etc in his monumental work Antagada Daso and other Jain scriptural texts which are not later than Mahavira' time, also corroborate the antiquity of image-worship and dedication of shrines and temples Let us, therefore, say a few words on the mode of Jain image worship by which it is characterized to see if there are certain innovations or modifications from that of Hindu image-worship.

The Arca of the Jains :—The mode of worship among the Jains is neither ve-y elaborate nor very complicated. It is very simple — Pradakṣiṇā, Praṇāma and pūṣpa — three 'P's will do. The more elaborate will consist of Jala-pūjā, candana-pūjā, akṣata-pūjā and naivedya-pūjā to be followed by Artī — the Pañcopacaras will do (cf. the 16 Upacaras of the Hindus.) Three other important features of Jain ritual and worship are : 'Sāmayika' reading (the reading of spiritual books), keeping fasts (which characterises their rigour of asceticism) and pilgrimage 'Besides the image — worship of the Tirthankaras and some subordinate deities, the worship of the Siddhacakra (which is invariably kept in a Jain temple) has found a firm hold on the Jain devotee'. Later on Jain temple-worship also got complicated in conformity to their religious order. Jain temples became the centre of their religious activities. They were, their churches — worship, recitation and ceremonies (like samavasarana-special decorations) all added to this development bringing them on a par to a Hindu temple

A few words need be said here on the Digambaras and the Svetambaras (between which Jains had divided themselves on differences of certain doctorinal schism) in relations to their different modes of worship. In Puja, the Svetambaras used flowers, sweet, etc. The Digambaras substitute them for dry rice, spices etc. While the former decorate the images of the Tirthankaras with earrings, necklaces, armlets and tiars of gold and jewels etc. the Digambaras leave their images naked and unadorned Thirdly, the Digambaras bathe the images with abundance of water, but the Svetambaras use very little of it. Fourthly the Digambaras may bathe and worship their images during night, the Svetambaras do not even light lamps in their temples, much less do they bathe or worship the images The fifth difference relates to the use of Pancāmrita in washing the images, the Digambaras do it, and the Svetambaras would not. This is what the orthodox Jainism stands for In neo-Jainism, two new (comparatively modern) sects known as Lunkas (452 A.D) and Sthanaka-vasis or Dhundias (1653 A D) arose who stand for absolute opposition to image-worship

The Arcyas of the Jains—Classes of Jain gods and goddesses :—On the authority of the Jain texts the classifications of Jain deities may be purviewed -

(a) Earlier classifications — vide earlier Jain literature :—

I *Jyotisi*

9 planets

II *Vimānavāsi*

(*a*) *born in Kalpas*

(1) Sudharma	(7) Śukra or Mahāśukra
(2) Iśāna	(8) Sahasāra
(3) Sanatkumara	9) Anata
(4) Mahendra	(10) Prāṇata
(5) Brahmā	(11) Ārana and
(6) Lāntaka	(12) Acyuta

(b) *born above the Kalpas — anuttara — vimāna* each with an Indra to rule over :—

(1) Vijaya

(2) Vaijayanta
(3) Jayanta
(4) Aparājita &
(5) Sarvārtha-siddha

III. *Bhavanavāsī*

(1) The Asura —
(2) Nāga
(3) Vidyuta
(4) Suparṇa
(5) Agni
(6) Dvipa
(7) Udadhi
(8) Dkvāṭa
(9) Ghanika &
(10) The Kumāras

IV. *Vyantara*

(1) Piśācas
(2) Bhūtas
(3) Rākṣasas
(4) Yakṣas
(5) Kinnaras
(6) Kimpuruṣas
(7) Mahoragas &
(8) Gandharvas

V. *Navavidhāna*

(1) Naisarpa
(2) Pāṇḍuka
(3) Pingala
(4) Sarvaratna
(5) Mahāpadma
(6) Kāla
(7) Mahākāla
(8) Manāva &
(9) Sankha

VI. *Viradevas*

(1) Mānabhadra
(2) Purṇabhadra
(3) Kapila &
(4) Pingala

(B) The three-fold classification of Acara-Dinakara, consists of (i) firstly the Prāsāda-devtas, such as those installed on pedestals, in fields, in a cave or on a platform (catvara) or in a temple or they belong to the linga (symbolic) or Svayambhu type etc ; (ii) secondly Kula-devīs or Tāntric goddeses such as Caṇḍī, Kaṇṭheśvarī, Vyagrarājī etc. and (III) thirdly the Sampradā devatas such as Ambā, Tripurā, Tārā etc.

N.B. (i)...it is clear that a great many Tantric goddesses have found a room in the Jain pantheon. We came across the names of the goddesses of clearly Tantric nature such as Kaṇkālī, Kālī, Mahākālī, Cāmuṇḍā, Jvālāmukhī, Kāmākhya, Kāpālinī, Bhadrakālī, Durgā, Lalitā, Gaurī, Sumangalā, Rohiṇī, Sulākatā, Tripurā, Kurukullā, Chandravatī, Yamaghaṇṭā Krāntimukhā etc.' J. I. p. 23. Further as we shall see in the Jain literature we find the incoroporation and therefore, this predominent Tantric element in iconography seems to be represented by the Svetambara sect, who like the Mahayana Budhists developed by assimilation and invention, a Tantrika system of their own.'

N B (ii) Besides the above-enumerated deities there are divinities recognised and worshipped by the Jainas, who would not come under any of the above-mentioned categories and they are .— (1) the 16 Śruta devīs or Vidyā-devis (2) the 8 Aṣṭamātṛikās (3) the Mothers of the Tirthankaras · (4) Kṣetrapāla; (5) Bhairavas, (6) Sri or Lakṣmi Devi and (7) Śānti-devī Thus the cent per cent Brahmanic influence on their pantheon and iconography is beyond doubt.

With this introduction to the Arca and the Arcya, let us now turn to the Jain images, their origin and characteristics, before we take by the main images of Tirthankaras and their accessories.

Origin of Jain Images ·-As for the secular enjoyment and the cherisment of memory of our dear and beloved ones, the pictorial images–the painting have served an age–long tradition, similarly the growing idea of an image or a god or prophet a religious teacher of saint is to remind a believer of his life and deeds and to inspire him for the virtuous acts.

This applies to all image-or relicworship. Hence the adherants and the followers install image in the sacred places associated with their lives and deeds. These places thus become the places of pilgrimage and sacred sites of hallowed memory, dedicated adoration and pious liberality and severe asceticscism. This was also true to the origin of Jain images. When their Jinas departed, their statutes were set up in a temple for daily and congregational worship. In the worship of the Jinas, a notable feature is the recitation of Kalyāṇakas or the auspicious moments in the life of the great ones from the body of the Jain Kalpasutra The great antiquity of this custom itself proves the relatively great antiquity of Jain-images In Jain iconography, besides these Tirthankaras, as we have seen that many Brahmanical divinities were silently assimilated into the Jain pantheon. It was perhaps due to the ideas of auspiciousness, prosperity, wealth, kingly splendour or so on, very much associated with Brahmanical deities like Ganesa, Sri, Kubera and Indra that they too found a direct outlet in the Jain Sculptor's art. All these images are fully represented in the Jain sculptural heritage as scattered throughout India specially at those places which are intimately connected with Jainism.

Places of Jain pilgrim-ge : Rise of Jain images are synchronous with the rise of the centres of Jain pilgrimage, the sites associated with the lives of the great Jain Prophets. In fact, the Tirthankaras made their Tirthas - vide the tradition contained in the following stanza :

जन्मनिष्क्रमणस्थानज्ञाननिर्वाणभूमिषु ।
अन्येषु पुण्यदेशेषु नदीषु नगरेषु च ॥
ग्रामादिसन्निवेशेषु समुद्रपुलिनेषु च ।
अन्येषु वा मनोज्ञेषु कारयेज्जिनमन्दिरम् ॥

'The phenomenal incidents in Jain literature are known as (a) Garbha or conception, (b) Janma or Birth (c) Jñāna or Enlightenment, (d) Nirvāna or Death or collectively Five Kalyānas. Besides these, free choice was given to build Jain temples or sacred places, on the sea-side or at any fine place or locality. Brindavan Bhattacharya accordingly says (J. I. p. 29) that 'as a consequences, we actually find Jain temples under a Jain community scattered over all parts of India. Vimala, Tejapala and Vastupala on Mt. Abu in Rajputana and temples on the Mt. called Parasnath in S. Bihar are noteworthy in Jain architecture. The caves in the rock, on which the fort of Gwalior is built, contain many interesting Jain sculptures. Other sites of temples and sacred places of the Jainas are : Mathura, Satrunjaya Hill in the Palitana State, Girnar in the Junagarh State in Kathiawar, the Indra and Jagannath Sabha caves, Ellora, Khajuraho in C. I. Deogarh, Gadag, Lakkundi in Dharwar, Sravana Belgole. At Sravana Belgole, there is a gigantic statute of Gomasṭesvara. Other Jain colossals are found in Karkala and Venur in South Kanara. Nearly all the Tirthankaras obtained consecration and perfect knowledge at their native places though Ṛṣabha is said to have been a Kevalin, i e. One possessed of the highest knowledge, at Parimtāla, Nemināthа, at Girnar, and Mahavira (the last) on Ṛjupālikā river.

Twenty of them attained final release on Sammeta'śikhara or Mt. Parsvanatha but Neminatha enjoyed this bliss at Girnar, Vāsupujya at Campapur in E Bihar, Mahavira at Pavapuri and Rsabha himself at Aṣṭāpada which is identified with the famous Satrunjaya in Guzrat Eighty-four images of Jains are known to have been installed at different places of Jainism.

Tirthankaras: or Jinas according to the Silpa-Ratnakara-vide Pr. Laks. are only the manifest aspects of the Supreme Brahma-Arupa assuming Rupa. They are Visvarupa, Jagat-prabhu, Kevala, Jnānamūrti, Vītarāge and in their incarnatory forms they take only two arms, one face and are seated on baddhapadmasana attitude, meditating upon Prabrahma These are also the characteristics of the great Hindu gods, the Yogisvara Siva or Yogāsana Viṣṇu or Padmāsana Brahmā The question, therefore, would arise what are the distinctive features of a Jina or Tirthankara ? In the Jain literature a Tirthankara means a prophet 'A Tirthankara is he by whom was shown the broad fording place of virtue, the best of all, reaching which men overcome sorrow'-Samantabhadra-vide Brahatsvayambhustotra Tirtha thus would stand here for Dharma, and who expounds it is Tirthankara. This is the view of the elders-the Digambaras. According to Svetambara view 'Tirtha' means a 'Sagnha' and one who founds it like a Buddha or a Christ is Tirthankara. This order as we have already seen is consisted principally of two principal divisions of Sādhus or Monks and Srāvakas or the laity but if we include the women folk, it comes to four in number

Tirthankara is also called a Jina (from which word the name of the religion is Jaina) meaning conqueror of the enemies such as lust, anger etc And according to the Jain tenents these 'Jinas' are four-fold : (i) Nāma Jinas (ii) Sthāpana jinas (iii) Dravya Jinas i e. Śrenikas and (iv) Bhāva Jinas (who have attained samavasarana) Thus the Tirthankaras or the Jinas are real y a very sublime and noble iconological evolution not only in art but also in the religious history of India The number 24 associated with these prophets of Jainism is simply facinating. It brings home to us the imagination of those reformers who wanted to found rather supplant a new religion on some of the basic and universal teachings of Hinduism-rigorous ascetism of the Āraṇyakas, the Upanisadic Monism and the Epic and Pauranic Bhagavatism in immitation to Vaisnavism. If there are Ten Incarnations or Avataras of Visnu, Let there be 24 incarnations or Tirthankaras or Jina, who are all Jinas. Hence from the historical documents it is difficult to support as Jain scholars maintain, the authenticiy of all these 24 Jinas as enumerated ahead and consequently a great antiquity exceeding all anterior limits of the Vedic age. Thus, whether real or fictitious, one fact is certain that these Tirthankaras represent truely Jain elements and their origin is not due to any extranuous influences In this connection, it is to be noted that while Buddhism formally admitting a number of Buddhas makes singularly prominent

the Buddha or Gautama Buddha, the Jains on the contrary render many of their Tirthankaras appear in the forefront. A modern temple of the Jainas would show a gallery of images of many of their Tirthankaras to whom equal respect is offered in their daily worship.

Characteristics of Jain Images. In the Jain pantheon, the Tirthankaras have been given the highest position. They are the Devādidevas (cf Hemachandra's Abhidhana-Cintamani) in Comparision to other gods and goddesses (borrowed from Hinduism) who are only Devas or ordinary gods Accordingly B. C. Bhattacharya rightly remarks. 'In Iconography also, this idea of the relative superiority of the Jinas has manifested itself In the earliest sculptures of Jainism, the Tirthankaras prominently occupy about the whole relief of the stone'

Jain iconography has a distinct bearing on its temple-iconography. 'The images in a Jain temple are arranged in order of precedence. There is one Mūlanāyaka, he may be either Rsabhanātha, Suparsvanatha, Parsvanatha or Mahavira surrounded by other Jinas, who hold a less dignified position according as the temple-cult is associated with him This predominence of a particular Jina is due to the situation of the temple in a place sanctified by him. For instance in the temple at Sarnath believed by the Jainas to be the birth-place of Sreyāmśanatha we find his image in the position of a Mulanayaka.

A Jina-image is also accompanied by so many other deities and accessories. Among these deities figure the devatas like Laksmi, Ganesa and Indra add among the accessories would come the Yaksas, the Yaksinis and the Gandharvas. Other characteristics of a Jain-sculpture are what are called Lanchanas-vide Pr Laks·They are.

The presence of the following eigth Pratiharas:

1. Divyataru or Asoka or the particular tree under which the Enlightenment was attained-Cf. Buddhist analogy;

2. A throne-seat.

3. Trilinear Umberalla and a lion seat.

4. Aura of a beautiful radiance

5. Divya dhvani

6. Showers of celestial blossoms

8. Heavenly music.

N. B ·The heavenly dundubhis consist of five musical instruments. These are the Pancamahāśahda viz

(1) Śrnga, the horn; (2) Tammatah the drum; (3) Sankha, the conch-shell; (4) Bheri, the trumpet and (5) Jayaghāta, the cymbol (-J. I vide appendix 'A'.

Brindavana further remarks that each Tirthankara is recognisable by a cognizance of cinha usually placed below his images. There are also certain symbolic ornaments which mark out a Jain representation distinctly from a Buddhist counterpart. These are svastika, mirror, urn, cane seat shaped like an hourglass, two small fish, flower garland and book. These symbols are our safeguards from misinterpretation of a Jain image.

Another noticeable feature of distinguishing one Jina image from others is their representation of their particular way of sitting or standing attitude Among them 'Rsabha, Nemi and Mahavira agree in the fact that they attain release when seated on the lotus-throne, while other Tirthankaras pass away in the Kayotsarga posture (that of a man standing with his arms hanging stiff with the body).

Jina-Iconography · Among the three texts quoted in the Pr. Laks. P. 271-vide (ii) according to the Br. Samhita, the chief characteristics of essential marks of a Jina figure are long hanging arms (cf. Mahapuruslaksanas) ; the Srivatsa symbol the mild form-prasāntamūrti, the youthful and beautiful body and the nudity. This is also corroborated by Vasunandi's Pratisthasara-samgraha, a Jain document-vide Pr. Laks. ibid (iii) The Manasara and the Aparajitapraccha among the Silpa-texts are accredited to have described the Jain Images also And accordingly the former text after dwelling at length upon the varieties of alternative iconometric measurements of the Jina iconography sums up in a couplet ,

निराभरणामर्वांग निर्वस्त्रागं मनोहरम् ।
सर्ववक्षः स्थले हेमवर्ण श्रीवत्सलाछनम् ॥

Which is exactly what the B. S. or the P. S. S describe. Regarding their bodily features, the text further says ·

द्विभुज च द्विनेत्र च मुण्डतार च शीर्षकम् ।
स्फटिकश्वेतरक्त च पीतश्यामनिभ तथा ॥

Again according to this text the Srivatsa symbol should be marked in gold and the image is to be attended by Narada and other sages, besides the Yaksas, Vidyadharas, Siddhas, Nagendras and Lokapalas.

THE JAINA PATH OF RELIGION

Dr. Jyoti Prasad Jain,
M A , LL B., Ph D. Lucknow

Every cultural or religious system has certain peculiarities of its own which are revealed in the way of life of its followers. What is known as the Jaina way of life has the distinct stamp of Jaina thought and culture which are in no way inferior to any other system in point of their richness or antiquity. The following is a modest attempt to explain this particular way of life, especially in its bearing on the freedom and perfection of the individual, on social values and on the spirit of love and compassion, which, it may be said with confidence, constitute the chier characteristics of the Jaina Path of Religion.

This Path was practised and preached, for the spiritual welfare and happiness of all living beings, by the Jinas (Jina meaning a conqueror of self). They are also known as Tirthankaras, literally, ford-finders, and denoting those who expounded and established the Path which leads safely across the ocean of mundane existence which is full of misery. These Jinas or Tirthankaras were ordinary men who by a course of strenuous self-discipline, asceticism and concentrated spiritual meditation mastered the flesh, annihilated all forces and influences obstructing spiritual development, entirely purged their soul of all impurities and spiritual aberrations and attained fullest and clearest self-realisation and absolute perfection, bringing out to the full the divinity or godhood inherent in man. They taught that all living beings, from the lowliest of the lowly to the highest, possess souls, each one of its own, which is quite independent of that of any other living being, and that all these souls are immortal, everlasting (without a beginning or an end), alike in their essential attributes and potentialy divine.

A belief in this wonderful community, rather brotherhood of souls,tends to make one respect all life and follow the golden rule-'live and let live' and 'act unto others as your would them to act unto you'.

This thoroughly rational and humanistic creed of the Jinas makes out spiritual perfection the goal of an individual, through self-discipline, moral perfection and self-purification, and unequivocally stresses that the individual is the master of his or her destiny which he or she is absolutely free to make or mar accordingly as he or she chooses to do. This is thus an essentially moral creed which overbrims with optimism, enthuses

faith and confidence in oneself and helps him to develop a strong willpower and a healthy outlook of life.

The followers of the Jinas are known as the Jains and their religion as Jaina Dharma or Jainism. We need not go here into the antiquity, history, abstruse metaphysics, cosmology, epistemology, ontology, dialectics, etc., of this religion Suffice it to say that it is one of the oldest living religions of India and represents that Shramana current of ancient Indian culture which was distinct from and independent of the Brahamanical one. It is purely indiginous in its origin and has come to be a fully developed religious system with all the limbs and accessories found in such a system, and possesses quite a rich cultural heritage. It is known to have drawn its adherents from almost every caste and social community and even at present the Jains inhabit almost every part of this country, some being found in a number of countries outside India as well.

Traditionally speaking, Rishabhadeva, also known as Adinath was the first Tirthankara who was followed by twenty-three others, the last of them being Vardhamana Mahavira who lived in the sixth century before Christ and is credited principally with the reorganisation of the four-fold order. The first-two orders—Muni and Aryika—represent the male and female ascetics who have renounced wordly life and pleasures, adopted a life of renunciation and asceticism and devote themselves to the pursuit of Moksha (nirvana or liberation) by attending primarily to their own spiritual well-being and secondarily to the moral welfare of society in general The letter two—Shravaka and Shravika—represent the laity.

These householders of both sexes take the world as it is and live their life with as much piety as each individual possibly can, depending on his or her aptitude and environments. They instinctively pursue the Artha and Kama Purusharthas, that is, the economic activities of producting, earning or acquiring wealth (worldly goods) and the activities involving the enjoyment of the fruits of the former (i e, Artha) including the satisfaction of basic needs, enjoyment of comforts and luxuries and indulgence in sensual or aesthetic pleasures But, they are advised to add a third activity, the Dharma Purushartha, to their pursuits, nay, it should better precede the Artha and Kama and act as a constant guiding factor in regulating these two Dharma, Artha and Kama have been collectively termed the Tri-varga which a householder, man or woman, should pursue, striking a happy balance between Dharma and Artha on the one hand and Dharma and Kama on the other One must produce, earn and acquire wealth by putting in as much hard work, skill and foresight as he is capable of, but only by lawful means. He can certainly enjoy the fruits of his labour, but he should do so, again, only in a lawful way.

The keynote of this lawfulness is Ahimsa which demands that one must not intentionally injure the feelings or life forces of another, either by thought, word or deed, himself, through an agent or

even by approving of such an act committed by somebody else Intention in this case implies ulterior or selfish motive, sheer pleasure and even avoidable negligence. This Jaina, or the Ahimsite, way of life guarantees perfect amity and helpful co-existence between individual and individual, between community and community, between nation and nation, between race and race, even between human beings and subhuman life. The Anekantic way of thinking and the Syadvadist mode of expression which may be said to be corollaries of Ahimsa, teach a Jain to be tolerant to others' opinion and feelings and develop in him a sympathetic understanding for them.

A person professing Jainism puts his faith in the Deva (that is, the Jina) as the most adorable ideal, in the Shastra (literature comprising, based on or imbued with the spirit of the teachings of the Jinas) and in the Guru (the ascetic who pursues the path to liberation as shown by Jinas). These three are the objects of worship and deepest reverence in as much as they serve as spiritual guides and sources of inspiration to and the noblest ideals worthy of emulation by the seeker. He must abjure drinking spirituous liquors and eating animal food (including fish and eggs), excepting milk and milk products. A Jain may thus be said to be a lacto-vegetarian as most vegetarians, at least in India, are. He usually avoids all passion arousing victuals and takes fresh, simple, healthy and wholesome meals and that, too, only in daytime, not after nightfall, and drinks clean filtered water. To him fornication, adultery, prostitution, want on killing of life by way of sport, stealing, robbing and gambling are evil indulgences to be shun and shaken off. The 'primary eight virtues' of a Jain, although described differently in different Jaina books, agree in essence with the above summing up.

Besides the primary eight virtues, a Jain should take the 'five lesser vows', the first of which is abstinence from intentional killing of life for food, sport, pleasure or some other selfish motive, that is, from Sankalpi Himsa. But he can and should use force, if necessary, in the defence of his country, society, religious institutions, family, life and property, which is Virodhi Himsa. His agricultural, industrial and diverse living activities do also involve injury to life, that is, Arambhi Himsa and Udyogi Himsa, but they should be limited to the minimum possible thorough carefulness, cleanliness and due precaution. Thus in the first stages an Ahimsanuvrarti lay individual absolutely abstains only from the first of the four forms of Himsa, i e., Sankalpi Himsa. The second vow, Satyanuvrat, is to abstain from telling lies, taking recourse to falsehood in speech or actions, to using harsh, cruel, shocking or abusive language, to ridicule, backbiting and flattery. The third vow, Achauryanuvrat, is to abstain from stealing or misappropriating others' property and includes abstinence from cheating, robbing and using dishonest or illegal means in acquiring any worldly object. The fourth vow, Sheelanuvrat, is to abstain from having sexual relation with anybody but one's own lawfully wedded

spouse. And the fifth vow, Parigraha-parimananuvrat, is abstinence from acquiring and possessing worldly goods without a limit, in other words, it requires the imposition of a limit on one's needs, acquisitions and possessions and enjoins the use of the surplus for the common good.

A Jain is expected to cultivate, as best as he can, the ten differentiate of Dharma which are-forgiveness, humility, integrity, truthfulness, greedlessness, discipline, penance, renunciation, possessionlessness and celebacy.

The six necessary daily duties of a Jaina householder are — worship of the Deva (Jina), adoration of the guru, study of holy books, practice of self discipline, observance of fasts and the curbing of desires, and charity which includes providing food to holy persons and to the indigent, medicine and medical aid to the ailing, educational facilities for those who are in need of them, and a sense of security and fearlessness to those under duress or who are being wrongfully oppressed, persecuted or tyrannised. This four-fold charity or philanthropy is the most important of the positive aspects of the Jaina way of life and in substance consist in selfless service of humanity as a pious duty done out of love for all and unstinted compassion for those in want or distress, the Jaina motto being "piety is rooted in active compassion"

Another significant of the Jaina way of life is the great emphasis it lays on what you think and how you think, that is, on your Bhavanas (yearning thoughts) A favourite recitation of the Jains, on leaving bed early in the morning and before going to bed at night, is the Bhavna-dvatrinshika, also known as the Samayika Path, which opens with the memorable verse conveying meaning as follows .

'O, Lord . may Self be such that it may have love for all beings, job in the meritorious, unstinted sympathy and compassion for the distressed, and tolerance towards the perversely inclined'.

And a Jain concludes his Devapuja daily with the pious wish—

'May Lord Jinendra bestow peace on the land, the nation, the city and the State and welfare on all the citizens; may the rulers and administrtors be strong, law-abiding and pious; the rains be timely and adequate; all diseases and ailments disappear; no one in the world be afflicted with famines and scarcity, with theft, loot, plunder and devastation or with epidemics even for a moment'.

Peace be to all ! !! !!!

PADARTHISM

RAMCHANDRA JAIN
Director,
Institute of Bharatalogical Research,
Sriganganagar.

We do not yet know the Bharatiya Way of life. Gandhi had only a glimpse of it, only a glimpse. We have to rediscover the Bharatiya way of life.

Does the present feudo-capitalist society and its feudo-capitalist constitution represent the Bharatiya Way? Is the rampant ministerial and bureaucratic corruption, including that of their henchmen, the Bharatiya Way? Is the rising neofeudalism and neo-colonialism in Bharata its own Way? Is the glaring economic exploitation of the peoples the Bharatiya Way? Are the Vedic sacerdotalism, the ritual yagnism, the obscurant temple-worship, the mosqueic and the churchic parochialism, birth-marriage-death traditionalism, the archaic and outdated customs, manners usages and habits and the various magical and deifying practices in accordance with the Bharatiya Way? Do the caste system, the hatred of the untouchables and the compartmentalisation of the Hindu, the Muslim and the Christian societies confirm to the Bharatiya Way? Do the Hindu-Muslim, the Sanatam-Jaina, the Brahmana-Abrahmana and the Kshatriya-Shudra conflicts reflect the Bharatiya Way? Do the communist and the Naxalite violence and the Hindu fascist violence emerge from the Bharatiya Way? We may recount a hundred and add such antiquities and incongruities in the museum of Bharata. They have nothing to do with the Bharatiya Way of life.

The Bharatiya nation is constituted of various historical nationalities. Their outer forms are today ghastly engaged in internecine conflicts. Is there any permanent content that united them. Yes, there is one. We have only to rediscover that common permanent content.

We clearly discern four main currents in the Bharatiya society in spite of ages-long coalescences, amalgamations and transformations of the different currents. The most important and the ever-lasting is the original pre-Āryan non-Āryan current. The original people of Bharata founded their society on Man, the union of spirit and matter, the Padartha, the ultimate reality of nature and philosophy. Man is the highest development of the Padartha, the unity of the two mutually exclusive opposites, spirit (Ātman) and matter (Anatman, Bhuta, Pudgala, Jada). These Bharatiya people regarded matter as transient, divisive, disruptive and disunitive. Spirit, to them, was the ever-lasting

substance permanent from which flowered Satya (truth) and Ahimsa (non-violence). They took to spiritual practice for Siddhi (final attainment). Matter was subservient to spirit. Their political, economic and social institutions were created on this padarthic foundation. Their's was the right-conduct-oriented (Shramanic) culture and civilization. The modern jainas are the living successors of this first current, Buddhism having been banished from Bharata in the third quarter of the first millenium A.D. now trying to resueitate itself The Jaina society of today, under the later Brahmanical influences, have become transformed into a traditional, ritual and obscurantist society but it still cherishes lingering spiritual values.

The semi-harbaric collective materialist Brahmaryan tribal militarism conquered Bharata C. 1100 B C. and firmly established its tribal rule in western Bharata. But its materialist tribal way could not for long keep the original people in subjugation and the processes of coalescences, amalgamations and conversions started. Soon the original Bharatiya spiritualism celebrated its triumph over the Brahmic materialism. The result was the later Vedic or the rshic culture, dialectically culminating in the Upanishadic thought The Brahmic materialism, a dominating current in the coalesced culture, later transformed itself into the divisive Brahmanic materialism and soon triumphed in the form of Smritic conservatism, traditionalism obscurantism and parochialism. The Brahmanic society had become enlarged by the largescale inclusions of the pre-Aryan Kshatriyas, the ancient epithet for the common people But there was no organic amalgamations in the Brahmanic society. It developed itself as a divided society of four Varnas and numerous castes. During the Smriti ag-, the Varna and the caste system became permanently solidified The original padarthic people of Bharata, the Adivasis, the Kshatriyas, the Avarnas and the others; always remained alien to the separatist Brahmanic hierarchy. The Brahmanic society in course of time, became a hotbed of mutually warring creeds, sects, groups and compartments. In spite of the liberal movements of Sikhism, Arya Samaj and Brahma Samaj, it continues to be the same. It is dying under the weight of its own materialism. The only saving grace is the lingering Upanishadic spiritual traditions that still inject some life sap into this fastly drying down second current of the Bharatiya Way of life.

The original people of Greece, defeated and routed by the Greekaryan military invaders, voyaged to Bharata in the eighth century B.C. They, through the western ports, migrated to Deccan and became the famous Dravidians of the south India. They coalesced with the peoples of the first current completely by the middle of the first millenium B.C. They began to come under the influences of the second current after the third century B C. They today have become identified with the first or the second current.

The Brahmanic society since the eighteenth century is also being called the Hindu society. Formerly its components were known as Shaivas, Vaishnavas,

Pancharatas and the like. The concept Hapta Hindu is originally found in Zend Avesta, the Iranian Veda, redacted in the first quarter of the first millenium B C, in the geographical connotation. The concept Hindu in the racial sense was derisively applied by the Muslim conquerors, who also knew the concept Sindhu, to their Bharatiyan adversaries and the vanquished Bharatiyans accepted this ignominous concept with slavish glory The concept Hindu in the racial connotation is the found before the seventh century A.D The European orientalists, for their imperialist purposes, took to Vedic researches, called it the Hindu thought and gave wide currency to the concept Hindu in its now developed connotation signifying race thought, culture and civilization. They unified the mutually-warring Brahmanic sects into what is called Hinduism

The third is the foreign Islamic current that conquered Bharata in the known historical period. Islam originally was a cohesive social organisation. The Muslim feudalism laid low the stagnant, degenerated and divided Rajput feudalism of Bharata. The Muslim society very immensely multiplied itself through religions conversions, encouraged by the Muslim rulers, from the derided sections of the first two societies These comers took their spiritual ideas and traditions into their new society. The separatist Islamic society, though basically materialistic, could not remain uninfluenced by the Bharatiya spiritualism for long. This penetration of the permanent spiritual content into it gave birth to the Muslim Sufism. Sufism rose as high as Upanishadism. The annihilation of the Muslim political power by the triumphant British colonial imperialism set the forces of degeneration and decadence in the orphaned Muslim society. It soon got submerged under the debris of materialist externalism, the collective epithet for traditionalism, ritualism, obscurantism and parochailism. Quran, as interpreted by Sufism, is still the guide of the Muslim society, also divided in several sects and beliefs, and this Muslim spiritual sm is the light-post of the third current.

The British imperialism intruduced the fourth current. Christianity is a curious mixture of materialism and spiritualism. Materialism paraded and still parades as spiritualism in the processes of the Christian conversions. The gross degeneration of the first three societies, including their minor groups and sub-groups, offered a very fertile ground for Christian conversions, encouraged by the imperialist rulers which came to the low-lying people of these societies as a benevelont savior and hope for future. After the fall of the British power, the traditionalism, obscurantism and ritualism of the Indian Christian society, inherited from the foreign Christian ruling class are coming to surface and light and that is transforming the power-propelled progressive christian society into a parochial one. If the Christian society inordinates its materialism to its inherent Biblical spiritualism, it shall be a force for progress and integration.

Bharata today is a curious mechanical mixture of the cultures, civilizations and

heritages of these four nationalities that today go by the epithet of the Bharatiya Way of life. These main four currents have passed through the long continuing historical vicissitudes and have almost lost their original spiritual content They all have become submerged under the debris of materialistic externalism We know by experience that the constant internecine conflicts amongst any of them, in the ultimate analysis, are found rooted on any one or more forms of the materialistic externalism, a heritage of each one of them. These mutually warring nationalities shall ever remain in conflicts unless they annihilate to the lower root and branch their own materialistic externalism. The propagation of the theory of falsely much eulogised Bharatiya Tolerance is a myth. It is fundamentally wrong to suggest that Tolerance had been the inherent Bharatiya nature The Brahmas, the Muslims and the Christians were not 'tolerated' of free will. The vanquished society 'tolerated' the violent domination of the victor society by sufferance out of sheer cowardice, and cowardice is worse than violence, hence, superior violence forced its domination on the weaker violence The fake screen of tolerance has been mooted through long as a deceptive principle for falsely justifying the state of violently forced co-existence. We have to go deeper to find out the real permanent substance of the Bharatiya way of life.

The age-felt necessity to rightly know the real integrated Bharatiya Way of life is greatest today. Bharata today is again standing at the cross-roads of its determining history. Our-feudo-capitalist society and the feudo-capitalist constitution are crumbling We today find ourselves in mortifying chaos, confusion and agony There is complete loss of faith and consequent despondency all around The existing political parties and cultural movements have failed to deliver goods to the Bharatiya people. No reforms shall cure this deep malady. The total transformation of the Bharatiya society for political, economic and social freedom and equality of the Bharatiya people is the historical urge of the Bharatiya nation Communism, including Naxalism its extreme manifestation, is a foreign materialistic import founded on violence, exploitation, bondage and sacrilege. It has failed in Bharata because it could not bharataise itself. It has so far thriven because the Bharatiya way of life so far has failed to throw up a more powerful ide logy and a far more powerful ideology and a far more powerful program of action to successfully challenge Communism. The Bharatiya Way of life has to accept this challenge. It can ignore it only at the peril of its total annihilation, to find a place in the museum of ancient history.

The Bharatiya nation is basically spiritual I do not concede that it is deeply religious. The Hindu, the Jaina, the Sikh, the Muslim and the Christian people are proud of their spiritualism. They all do not subscribe to the ways of materialism They are all inherently anti-communistic. Even their communistic elements shall return home if they find the vigorous, powerful, progressive and

integrated Bharatiya padarthic way successfully challenging the foreign materialistic communist Way. We have only to rightly integrate and recreate the Bharatiya Way and formulate a better ideology and a better program of action.

The main four nationalities of Bharata, the Shramanic, the Brahmanic, the Islamic and the Christian; have to understand very clearly that they shall have to withdraw their materialistic externalism from the social to individual sphere. The materialistic externalism of these nationalities shall never tolerate each other They had always been mutually warring in the long courses of their history and they shall ever remain so if they wi l be allowed full play in the social field. Matter divides, disintegrates Spirit unifies, integrates. Matter and spirit are the two mutually exclusive opposites that constitute man and society. The materialistic externalism is the most dangerous adversay of man and society. It is this materialistic externalism that parades in the name of religion and this religion is not only the opium but is the poison of the people. The emotional and real integration of the Bharatiya society and way shall be achieved only upon the ruthless annihilation of this materialistic externalism. The spiritualism of these main four nationalities, then, shall integrate into the one Bharatiya way of life and shall herald the new, integrated Bharatiya society.

The Bharatiya Way of life means the padarthic Way of life. The Shramanic, the Brahmanic, the Islamic and the Christian prophets all proclaim that matter-in-man has only the right of its physical security. Their guide-directions affirm that man is entitled to only such means of production that are essential to secure him a decent physical existence. He is entitled only to such socially accepted ceiling of possessions that do not interfere in the freedom and equality of other constituents of the society. Spirit-in-mean connotes freedom and equality and that has to be zealously guarded to each human being constituting the society. The rest of the material resources belong only to the society and to no individual or family. All men constituting the society are free and equal. None is high, none is low. All shall have free and equal participation in the political organisation of the society. This is the Bharatiya way of life and this way alone shall win the free and equal Bharatiya society.

Bharata, in recent times, has witnessed three major movements to achieve the integrated Bharatiya way of life but they have all miserably failed. The first was initiated by Mahatma Gandhi. He is the first Bharatiya of the Bharatiya history within two and a half millenniums who brought Bharatiya spiritualism from the individual to the social sphere in pristine purity, glory and prestige. He proved the social efficacy of the spiritual way of Satya and Ahimsa. Active Satyagraha was his Weapon of offence and defence. He resucitated the Bharatiya Way of Ahimsa but in spite of that he utterly failed in his mission. He could not integrate the Hindu and the Muslim nationalities. Pakistan was carved out on his corpse. Bharata could not implement;

in spite of his political successor Jawahar Lal Nehru and his spiritual successor Vi oba Bhave; his economic theory of trusteeship. The integration of the Harijans into the Hindu society and the Swadeshi are still a far cry with us. Mahatma Gandhi failed because he tainted the Bharatiya spiritualism with the materialistic externalism He believed in traditional Varnism and casteism He suffered Hindu and Muslim ritualism. His daily life was religiously parochial with manifest important slant to the Sanatan (a Hindu sect) obscurantism. The addition of a few non-Hindu names in his prayers were only mechanical, inspiring no confidence in the nationality practising a different kind of materialistic externalism He himself conceded that his non-violence was not a weapon of the strong but was a passive resistance of the weak Mahatma Gandhi stands eminent in Indian history for his spiritual glimpse which we have to further advance.

The second is the Sarvodaya movement of Acharya Vinoba Bhave. His Gramdan does not cover the cities His land program is only a part of the economic program He has not even touched the political and the social aspects which Sarvodaya, to be Sarvodaya, shall have to include. His program is not for Sarvodaya but is only for Amshodaya. He has further clouded the Gandhian spiritual glimpse by his acceptance of temple ritualism at his Brahma Vidya Mandir in Pavanar Ashram. He has no use for active Satyagraha to win economic and social equality for the people. His saintly Sarvodaya movement is a dismal failure

The third is the Hindu renaissana movement generated by the Rashtriya Swayamsewak Sangha. It advocates the inclusion of the Shramanic, the Islamic and the Christian nationalities within the Brahmanic nationality, giving it the pseudonym of the Hindu When its prophets explain Hinduism, they do so only in the light of the Brahmanic or rather its most conservative sect, the puranic Sanatanic literature and traditions and that makes many of its adherents suspicious of its intentions It does not believe in pure and undiluted spiritualism It would enlogise non-violence, advocating and practising violence side by side. This is only a paradoxical parochial movement for the resucitation of the Brahmanic materialistic externalism. It is thriving only as a negative reaction of the Muslim materialistic externalism. This movement is not founded on the Bharatiya way of life and shall definitely fail.

The present generation, thus, has become charged with the national duty to recreate the Bharatiya Padarthic way of life. It has to launch a revolutionary movement to recreate the integrated Bharatiya society in consonance with the Bharatiya, padarthic way of life. It is the bounden duty of the thinker-writers and the social workers to launch an active program of cultural revolution which may lead the way to social revolution for the total transformation of the present feudo-capitalist Bharatiya society into a free, equalitarian and republican one,

This shall be our revolutionary program :—

1 We believe in the Padarthic Way of life

2. We believe that the materialistic externalism of all shapes and forms is a negation of the Padarthic Way. It shall, in the transitional period, be consigned from the social to the individual sphere till its total annihilation. Religious conversions shall cease forthwith

3. We believe that all men constituting the society are free and equal. A man or his family is entitled to the means of production, socially determined, to secure him decent physical existence He shall be allowed material possessions only to the extent limited by the society. The rest of the means of production and the material resources and wealth shall belong to the society.

4. We believe that all human beings are equal. None is high, none low. We do not accept the barriers of sex, caste, creed, religion, language and nationality.

5. We believe that all the members of the society have the right to participate its political organisation. We believe in the republican system of government.

6. We believe in the efficacy of the weapon of Atma-Samgharsha (active Satyagraha) to totally transform our present feudo-capitalist society into a free, equalitarian and republican one.

We shall faithfully implement this revolutionary program and thereby win the coming Bharatiya revolution to re-create the Bharatiya society on the foundation of real freedom and equality.

Padarthism or Communism ?

This is the challenge.

Pure Thoughts

May all beings be happy and secure, may they be happy-minded.

Whatever living beings there are, either feeble or strong, all either long or great, middle-sized, short, small or large, either seen or which are not seen, and which live far (or) near, either born or seeking birth, may all creatures be happy-minded

Let no one deceive another, let him not despise (another) in any place, let him not out of anger or resentment wish harm to another.

As a mother at the risk of her life watches over her own child, her only child, so also let every one cultivate a boundless (friendly) mind towards all beings.

And let him cultivate goodwill towards all the world, a boundless (friendly) mind above and below and accross, unobstructed, without hatred, without enmity.

Standing, walking or sitting or laying, as long as he is awake, let him devote himself to this mind; this (way of) living they say is the best in this world

—*From* **'Meetasutta': Sutta-Nipata**
(V Fausboll's Translation).

"रत्न प्रकाश"

लेखक

राजरूप टांक

विश्व वन्द्य भगवान महावीर की २५६९वीं

पावन जयन्ती के

शुभावसर पर

हार्दिक शुभकामनायें

चौरडिया परिवार

विश्व वन्द्य भगवान महावीर की २५६६वीं

पावन जयन्ती पर

शतशत प्रणाम

दुर्लभजी परिवार

Ranjan
पंखे हों तो 'रंजन' ही !
क्योंकि 'रंजन' पंखे
अपनी खूबियों के कारण
बेजोड़ हैं।
शानदार सुदृढ़ बनावट व
अधिक समयतक निर्विघ्न
चलने वाले नामी
पंखे 'रंजन' ही हैं।
Ranjan
पंखे
■ सीलिंग ■ केबिन ■ पेडस्टल ■ टेबिल
एकमात्र वितरक
ईस्ट इण्डिया ट्रेडिंग कं०
मिर्जा इस्माइल रोड
जयपुर (राजस्थान)

जैनधर्म में परिवार नियोजन कैसे ?

संयम ही जीवन है ! चारित्र्य खलु धम्मो !! असयम ही मृत्यु है !!!

ब्रह्मचर्यं परं तपः

आज भारत की जनसख्या २ करोड़ १० लाख प्रतिवर्ष के हिसाब से बढ रही है । हर तीसरी सैकिण्ड पर एक नया प्राणी हमारे बीच आ जाता है । यदि जनसख्या इस ही अनुपात से बढती रही तो शीघ्र ही भारत की जनसख्या दुगनी हो जायगी । जिस तीव्रगति से जनसख्या बढ़ रही है उस

गति से खाद्य उत्पा ... हैं अतः
जनसख्या की वृद्धि ... रूप मे
हमारे सामने है । आ ... कर इस
समस्या को हल कर ... प्रत्येक
स्थान पर परिवार ... एव इस
विषय के विशेषज्ञो से ... जा
सकता है । इन क्रा ... स
लिये हुई कि इस ... ना
रहा है जो हमारे म

आ ज सारे ... डे
उत्साह से मनाई ... ब
हम उनके बताए ... की
प्रेरणा दें । जीवन ... ने
प्रस्तुत किया है । भ ... नि
प्रत्येक जैन गृहस्थ के ... स
मे ब्रह्मचर्य पालन ...।
ब्रह्मचर्य का अर्थ स्व ... र्ण
नियत्रण है । यदि ... ल
बढती जनसख्या पर ... ुख
एव शान्तिमय बन ... ल
समाधान हो सकेगा

(Space donated by [illegible])